

॥ श्रीश्रीगौरांगविधुर्जयति ॥

श्रीगौड़ीय वैष्णवप्रवर
श्रील श्रीसनातन गोस्वामिपाद विरचित
श्रीश्रीवृहद्भागवतामृत

सम्पादक-टीकाकार
श्रीमत् अनन्तदास बाबाजी महाराज

श्रीकृष्ण चैतन्य शास्त्र मन्दिर
श्रीराधाकुण्ड (मथुरा)

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक :

प्राप्ति स्थान :

संस्करण : द्वितीय 1000 प्रतियाँ
तिथी

न्योछावर : 200 रुपये

मुद्रण संयोजन
श्रीहरिनाम प्रेस, बाग बुन्देला, लोई बाजार, वृन्दावन
मो. : 7500987654, 9837031415

समर्पण

जिन्होंने कृपा रज्जु की सहायता से दुर्गन्धयुक्त विषयगर्त में
पड़े हुए मेरे जैसे जीवाधम का उद्धार करके अपने पाद-
कल्प वृक्ष की छाया का आश्रय दिया और जो शिक्षा-
दीक्षादि देकर कृतार्थ करने में सक्षम थे— जिनके
श्रीपादपद्म गलित कृपा मकरन्द की मत्तता मेरे
जैसे विषयी कीट को भी श्रीव्रजधाम के आश्रय
का सौभाग्य प्रदान करने में सुदक्ष थी— जो
अपूर्व करुणालोक से अविद्या और अज्ञान
रूप तिमिराच्छन्न नेत्रों को खुलवाकर
मेरे जैसे जीवाधम को व्रजाश्रयी
महाभागवतगणों की सेवा का
सौभाग्य प्रदान करने में परम
समर्थ थे, उन मेरे परम
आराध्य श्रीश्रीगुरुदेव
नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद १००८
श्रीमद् कुंजबिहारीदास बाबाजी
महाराज के श्रीकरकमलों में यह श्रीग्रन्थ दीन-दासा
भास द्वारा अत्यन्त भक्ति पूर्वक समर्पण
किया गया है।

श्रीचरणाश्रित
दीन-अनन्तदास

श्रीश्रीगौरविधर्जयति

भूमिका

गौड़ीय वैष्णव साहित्य में अत्यन्त सरस हृदयग्राही पौराणिक उपाख्यानों के द्वारा भक्ति सिद्धान्त माधुरी प्रकाशन के सम्बन्ध में श्रीमद् सनातन गोस्वामी पाद द्वारा रचित—“श्रीवृहद्भागवतामृतम्” एक अद्वितीय ग्रन्थ हैं श्रीमद् रूपगोस्वामीपाद ने भक्तिरसामृतसिन्धु (1/4/20) में लिखा है—

“श्रीमत् प्रभुपादाम्भोजैः सर्वा भागवतामृते ।

व्यक्तीकृतास्ति गूढापि भक्तिसिद्धान्तमाधुरी ॥”

अर्थात् मेरे प्रभु श्रीमद् सनातनगोस्वामिपाद ने अपने श्रीवृहद्भागवतामृत नामक ग्रन्थ में अत्यन्तगूढ़ होते हुए भी भक्तिसिद्धान्तमाधुरी का स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। श्रीमत् कृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद जी ने भी लिखा है—

“सनातन कैला ग्रन्थ भागवतामृते ।

भक्ति-भक्त-कृष्णतत्त्व जानि याहा हैत ॥” (चै. च.)

इस श्रीग्रन्थ में भक्ति, भक्त और श्रीकृष्ण विषयक अत्यन्त गूढ़ सिद्धान्त समूह प्रकाशित हुए हैं। ग्रन्थ में प्रति-पादिततत्त्व सिद्धान्तावली अति रहस्यपूर्ण होने के कारण श्रील ग्रन्थकार महाशय ने स्वयं ही इसकी टीका की रचना भी की। इस ग्रन्थ की विशिष्टता का यह भी एक अन्यतम कारण है।

सम्भवतः श्रीमद् रूपगोस्वामिपाद के “गूढभक्तिसिद्धान्त” से ब्रज की राग भक्ति को ही लक्ष्य किया गया है वृहद्भागवतामृत में रागात्मिका और रागानुगा भक्ति के नाम का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु श्रील ग्रन्थकार इसकी दिग्दर्शिनी नामक टीका के प्रारम्भ में ही लिखते हैं—

“भक्तिर्या निखिलार्थवर्ग-जननी या ब्रह्मसाक्षात्कृते,

रानन्दातिशयप्रदा विषयजात् सौख्याद्विमुक्तिर्यथा ।

श्रीराधारमण-पदाम्बुजयुगं यस्या महानाश्रयो,

या कार्या ब्रजलोकवत् गुरुतर-प्रेम्णैव तस्यै नमः ॥”

अर्थात् “जो भक्ति समस्त पुरुषार्थवर्ग की जननी है, जो आश्रयी को ब्रह्मसाक्षात्कार की अपेक्षा समधिक आनन्द प्रदान करती रहती है, जिसकी कृपा से अनित्य विषय सुख से शीघ्र ही विमुक्ति लाभ की जाती है, श्रीराधा

रमण के पद कमलयुगल ही जिसके प्रधानतम आश्रय हैं एवं वृजवासीगण के समान गुरुतर (परमावेशमयी) प्रेम के साथ जिसका अनुशीलन करना चाहिए, उस भक्ति देवी को नमस्कार ।”

यहाँ पर “या कार्या ब्रजलोकवत् गुरुतर प्रेम्णै” । वाक्य से रागानुगा भक्ति की गूढ़ सिद्धान्तमाधुरी अत्यन्त कुशलतापूर्वक पौराणिक कहानी रूप में वृहद्भागवतामृत में प्रकाशित हुई है।

श्रीरामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्कादित्य एवं विष्णु स्वामी आदि किसी के भी ग्रन्थ में रागभक्ति या रागानुगा भक्ति का उल्लेख नहीं है। श्रीनिम्बार्काचार्य ने दस श्लोकी ग्रन्थ के नवम् श्लोक में लिखा है—

“कृपास्य दैन्यादि युजि प्रजायते

यया भवेत् प्रेमविशेष लक्षणः ।

भक्ति ह्यनन्याधिपतेः महात्मनः

सा चोत्तमा साधन- रूपिकापरा ॥”

इस श्लोक से यह जाना जाता है कि श्रीकृष्ण की कृपा से जो भक्ति लाभ होता है, उस प्रेम लक्षणा उत्तमा भक्ति या साध्या भक्ति कहते हैं। एक अन्य प्रकार की भक्ति है, जिसे साधनरूपिका या साधनभक्ति कहा जाता है श्रीजीवगोस्वामिपाद के मत से भी भक्ति दो प्रकार की होती हैं— साधनभक्ति एवं साध्यभक्ति। “भक्तिस्तावद्विविधा साधनरूपा, साध्यरूपा च।” (भ. र. सि. 1/2/1/ टीका श्रीजीवपाद। साधनभक्ति फिर दो प्रकार की है—“वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा।” (भ. र. सि. 1/2/5) ।

श्रीनिम्बार्क ने जिस भक्ति को दो प्रकार का कहा है, वह साधन भक्ति और साध्य भक्ति ही प्रतीत होती है। उनके मत से साध्य भक्ति का ही दूसरा नाम प्रेमलक्षणा भक्ति है। उन्होंने साधन भक्ति को वैधी एवं रागानुगा (या अविहिता) इन दो प्रकार के नामों से नहीं कहा है। किन्तु दस श्लोकी के टीकाकार श्रीहरिव्यास देवजी ने दसवें श्लोक की टीका में लिखा है— साधन भक्ति दो प्रकार की होती है— विधिभक्ति और रुचिभक्ति। उन्होंने रागानुगाभक्ति के नाम का उल्लेख नहीं किया है दस श्लोकी की उन्हीं के द्वारा की गई टीका में एक स्थल विशेष पर लिखा हुआ है कि भक्ति दो प्रकार की होती है। (1) विहिता (2) अविहिता। किन्तु नाना प्रकार की युक्ति एवं प्रमाणों से ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीहरिव्यास देवजी श्रीरूपगोस्वामिपाद

(एवं सम्भवतः श्रीजीवगोस्वामिपाद) के भी परवर्ती थे। श्रीहरिव्यास देव के गुरु श्रीभट्ट द्वारा रचित युगल शतक ग्रन्थ 1652 सम्वत् अर्थात् 1596 ईसवी एवं श्रीजीवगोस्वामिपाद का गोपाल चम्पू उत्तरखण्ड 1514 शक अर्थात् 1592 ईसवी में रचा गया। इसलिए सम्भवतः श्रीहरिव्यास देवजी श्रीजीवगोस्वामिपाद के परवर्ती या कुछ समसामयिक रहे होंगे। श्रीजीवगोस्वामिपाद के मतानुसार भी रागानुगा भक्ति का दूसरा नाम अविहिता भक्ति है।

श्रीवोपदेव द्वारा रचित मुक्ताफल ग्रन्थ में भी पाया जाता है कि भक्ति दो प्रकार की है—विहिता और अविहिता। श्रीवोपदेव सम्भवतः ईसा की बारहवीं शताब्दी के अन्त या तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में वर्तमान थे। इस ग्रन्थ की टीका में स्थल विशेष पर लिखा हुआ है—“ इति श्रीधरः।” इसलिए वोपदेव श्रीधर स्वामी के परवर्ती ही होंगे।

श्रीवल्लभाचार्य के ग्रन्थ में पुष्टिभक्ति का उल्लेख-मिलता है जिसका दूसरा नाम (श्रीरूपगोस्वामी के मतानुसार) रागानुगा भक्ति है। श्रीवल्लभाचार्य द्वारा रचित “तत्त्वदीप-निबद्ध” ग्रन्थ के अन्त में लिखा है— श्रीकृष्ण व्यास विष्णु स्वामी के मतानुवर्ती श्रीवल्लभाचार्य। जो भी हो, श्रीकृष्णचैतन्य कलिपावनावतार महाप्रभु के चरणानुगत श्रीरूपसनातन आदि गोस्वामिपादगण ने ही राग भक्ति या रागानुगाभक्ति का स्पष्ट सन्धान दिया है।

पूर्वखण्ड में श्रीपाद ग्रन्थकार ने मिश्राभक्ति से आरम्भ कर शुद्धा या निर्गुणाभक्ति की चरमपरिपाक ब्रज की राग भक्ति पर्यन्त भक्ति के विभिन्न स्तरों के सिद्धान्त समूह विभिन्न स्वरूप के उपासक भक्तगणों के आख्यान (कहानी) द्वारा अभिव्यक्त किये हैं। प्रत्येक भक्त ने भक्ति की प्राणवस्तु दैन्य और आर्त्ति के साथ अपने दोषों का उद्घाटन और अपने से श्रेष्ठ भक्तिरसपात्र का स्तुतिवाद मुक्तकण्ठ से गाया है। इस प्रकार भक्तगण के भक्तिपरिपाटी में से ही शुद्धा या निर्गुणा भक्ति के गूढ़ सिद्धान्त समूह श्रीग्रन्थ में अभिव्यक्त हुए हैं। द्वितीय खण्ड में श्रीगोपकुमार की आख्यायिका द्वारा श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने गोलोक-महात्म्य तथा ब्रज के गोप गोपियों का सर्वोपरि श्रीराधारानी की प्रेम-महिमा और उसमें तदनुरूप श्रीकृष्ण को वश्यता और राधादास्य को सर्वश्रेष्ठ साध्यशिरोमणिरूप से निरूपण किया है।

वृहद्भागवतामृत के समान सिद्धान्त-ग्रन्थ दूसरा कोई नहीं है। इसमें एकसाथ लीला, भाव, रस, सिद्धान्त के समस्त वैष्णव तथ्य वर्णित हैं। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में इस श्रीग्रन्थ की महिमा स्वप्रकाश सूर्य के समान प्रोज्ज्वल है, इसलिए नए भाव से इसकी भूमिका की कोई आवश्यकता नहीं है।

मेरे परमाराध्य श्रीगुरु महाराज की इच्छा थी कि यदि श्रीवृहद्भागवतामृत का कोई सरल सुबोध्य मर्मानुवाद प्रकाशित हो सके तो संस्कृतज्ञानहीन साधारण साधकों के लिए इस ग्रन्थ का रहस्यानुभव कुछ आसान हो जाएगा। उन्होंने मेरे पास अपना यह मनोभाव प्रकट किया था और मेरे जैसे अयोग्य दासाधम को इस आज्ञा पालन का भार सौंपा था। उनके कृपादेश से पाण्डुलिपि तैयार हो गई, वे इसके प्रकाशन के लिए बहुत व्यग्र थे और उन्होंने स्वयं ही श्रीकुण्डाश्रयी भजनविज्ञ पूज्यपाद श्रीमद् जयनिताई दास बाबा जी महाराज को पाण्डुलिपि संशोधन के लिए प्रदान की थी। परम करुण श्रीपाद बाबाजी महाराज ने भी संशोधन करके पाण्डुलिपि के प्रकाशन की अनुमति प्रदान की थी। भजनानुभवी पूज्यपाद श्रीमद् गोपालदास बाबाजी महाराज और मेरे परम सृहद् श्रीमद् मदनमोहनदास बाबाजी महाराज इत्यादि श्रीकुण्डाश्रयी महानुभावगणों ने भी ग्रन्थ के प्रकाशन की आज्ञा प्रदान की थी।

इस ग्रन्थ का मुद्रण कार्य वृन्दावन में प्रारम्भ हुआ सहसा श्रीगुरुमहाराज जी नित्यधाम में प्रविष्ट हुए। उनको इस मर्मानुवाद की पाण्डुलिपि सुनाने के विशेष अभिनिवेश की स्मृति आज भी चित्तपट पर उदित होकर उनके शोक में दुःखित मेरे चित्त को समधिक वेदनातुर करती है। इसको बार-बार सुनने से भी उनकी पिपासा शान्त नहीं होती थी। इस श्रीग्रन्थ के प्रथम मुद्रण के समय ही वे अन्तर्धान हो गये। यह संस्करण उनके थोड़े-बहुत सन्तोष का कारण बन सके— उनके श्रीपादपद्मों में साश्रु नेत्रों से इस दीन की प्रार्थना है।

मैंने तो बंगला भाषा में इस ग्रन्थ का मर्मानुवाद प्रकाश किया, परम स्नेहभाजन श्रीमान् महिमाचन्द्र पाठक ने इसका हिन्दी भाषा में अनुवाद करके हिन्दी भाषी लोगों के लिए इस ग्रन्थ के दुर्लभ रस का आस्वादन सुलभ कर दिया है। श्रीराधारानी के श्रीचरणों में उसकी सर्वप्रकार के कल्याण की कामना करता हूँ।

मेरे परम स्नेहभाजन, श्रीहरेकृष्णददास और श्यामचरणदास ने वृन्दावन में रहते हुए श्रीग्रन्थ के प्रूफ संशोधन व मुद्रण से सम्बन्धित समस्त कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न किये। अतः मैं श्रीकृण्डेश्वरी के चरणों में उन दोनों के ऐकान्तिक मंगल की कामना करता हूँ। यद्यपि मेरी सावधानी बरती गई है तथापि मुद्रण में यदि भूल-त्रुटि रह गई हो तो विद्वान् पाठकगण उसे संशोधन कर ग्रन्थ की रसमाधुरी आस्वादन करें, जिससे इस दीन का छुद्र प्रयास सार्थक हो सके।

दीन-सम्पादक

हिन्दी अनुवादक की ओर से

श्रीमन्महाप्रभु द्वारा रचित श्रीश्रीशिक्षाष्टक के सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद से उत्साहित हो इस दीनदास ने अपने परमाराध्य श्रीश्री108 श्रीअनन्तदास बाबाजी महाराज (मेरे पूज्य गुरुदेव) की आज्ञा को सिर पर धारण कर श्रीश्रीवृहद्भागवतामृत के इस प्रथम खण्ड की व्याख्या को हिन्दी भाषा में अनुवाद करने का साहस जुटाया। इस ग्रन्थ की मूल व्याख्या (मर्मानुवाद) सर्वसाधारण के समझने योग्य बंगला भाषा में श्रीश्रीगुरुदेव के द्वारा चैतन्याब्द 490 (सन् 1976 ई) में प्रकाशित हुई और बंगलाभाषा-भाषी जनता में खूब लोकप्रिय हुई। इस ग्रन्थ में ब्रज की भक्तिरसमाधुरी का सर्व श्रेष्ठत्व प्रतिपादित हुआ है और यह समझाने का प्रयास हुआ है कि आखिर यह अन्य भक्ति की तुलना में श्रेष्ठ क्यों है।

इस ग्रन्थ के अनुवाद में प्रमुख रूप से उत्साहवर्द्धन व मार्गदर्शन मुझे अपने परमपूजनीय श्रीश्रीगुरु महाराज की कृपा से ही प्राप्त हुआ, बिना उसके मेरे जैसा जीवाधम इसे लिखने का साहस नहीं कर पाता।

आशा है कि हिन्दी भाषा-भाषी जनता को इस ग्रन्थ के अध्ययन से ब्रजरसमाधुरी के वैशिष्ट्य को हृदयंगम करने में अतीव आनन्द का अनुभव होगा। यद्यपि ऐसा हो सका तो मैं अपने प्रयास को सार्थक मानूँगा। सभी सावधानियाँ बरती गई हैं, तथा यदि यत्र तत्र कोई त्रुटि रह गई हो तो वैष्णवगणों से निवेदन है कि यथोचित संशोधन कर इसका पठन-पाठन करें और इस दीनदास को भी सूचित करें ताकि भावी संस्करण में उसे सुधारा जा सके।

हिन्दी अनुवादक

वैष्णव दासानुदास महिमा चन्द्रपाठक

भू. पू. उद्योग अधिकारी, उद्योग मन्त्रालय (भारत सरकार) नई

दिल्ली

राधाकुण्ड (मथुरा)

सूचीपत्र (प्रथम खण्ड)

विषय

पत्राङ्क

प्रथम अध्याय (भौम)

महामुनि जैमिनी के पास श्रीजनमेजय का भागवत का शेषभाग सुनने के लिए आग्रह प्रकाश, जैमिनी का उत्तरा परीक्षित् संवादरूप अद्भुत भागवतामृताख्यान कथनारम्भ, तीर्थराज प्रयाग में उस देश के अधिकारी ब्राह्मण की शालग्राम-सेवादि दर्शन से नारद को विस्मय और उनको श्रीकृष्णकृपापात्र के रूप में निर्णय, ब्राह्मण के पास दक्षिणदेशीय महाराज की भक्तिमहिमा सुनकर श्रीनारद का दक्षिणदेश को गमन और महाराज के मुख से इन्द्र को भक्ति-महिमा का श्रवण।

द्वितीय अध्याय (दिव्य)

श्रीनारद का स्वर्ग में इन्द्र के निकट गमन और उनकी महिमा कीर्तन। इन्द्र के पास ब्रह्मा की भक्ति महिमा सुनकर श्रीनारद का सत्यलोक गमन और श्रीब्रह्मा की महिमा-कीर्तन। ब्रह्मा के निकट श्रीशिव की भक्ति महिमा सुनकर श्रीनारद का सदाशिव लोक गमन।

तृतीय अध्याय (प्रपञ्चातीत)

श्रीनारद का शिवलोक में श्रीशिव की भक्तिरसोन्मादना दर्शन करना और उनका स्तव, श्रीशिव द्वारा वैकुण्ठपुरवासी भक्तगण की महिमा का वर्णन, भक्ति के प्रभाव से माया के जगत् में स्थित भक्तगणों की पाञ्चभौतिक देह का भी चिन्मयत्व वर्णन और शिव द्वारा प्रह्लाद की भक्तिमहिमा का कथन।

चतुर्थ अध्याय (भक्त)

श्रीप्रह्लाद के दर्शनों के निमित्त श्रीनारद का सुतल गमन और प्रह्लाद की भक्तिमहिमा का कीर्तन। श्रीप्रह्लाद का दैन्यप्रकाश और श्रीहनुमान् की भक्तिमहिमा वर्णन, उसको सुनकर नारद का किंपुरुषवर्ष गमन और वहाँ श्रीहनुमान् के पास पाण्डवगण की महिमा श्रवण।

पञ्चम अध्याय (प्रिय)

श्रीनारद का हस्तिनापुर गमन और पाण्डवगण की भक्तिमहिमा कीर्तन, पाण्डवगण के पास यादवगण की महिमा सुनकर श्रीनारद का द्वारका में सुधर्मा सभा में गमन और यादवगण की महिमा कीर्तन, यादवगण के पास श्रीउद्धव की भक्तिमहिमा का श्रवण।

षष्ठ अध्याय (प्रियतम)

श्रीउद्धव की समधिक महिमा सुनकर उनके दर्शन के लिए श्रीनारदजी की व्याकुलता, द्वारका के अन्तःपुर में गमन और उद्धव के पास ब्रजवासिगण की अद्भुत प्रेममहिमा श्रवण। श्रीरोहिणीदेवी के द्वारा ब्रजवासिगण का विरह-दुःख वर्णन, श्रीरुक्मिणीदेवी का ब्रजवासिगण के प्रेम में मोहित श्रीकृष्ण की विविध चेष्टाओं का वर्णन। श्रीबलदेव का ब्रजवासिगण के पक्ष समर्थन में उनकी अद्भुत विरह वेदना कथन, उसको सुनकर श्रीकृष्ण की विकलता और प्रेममूर्छा, पुरवासिगण का रोदन।

सप्तम अध्याय (पूर्णा)

द्वारकावासिगण का रोदन सुनकर श्रीब्रह्मा का आगमन और मूर्छित श्रीकृष्ण को रैवतक पर्वत पर स्थित नववृन्दावन ले जाने के लिए श्रीगरुड़ को निर्देश प्रदान। श्रीगरुड़ का कृष्ण-बलदेव को लेकर नववृन्दावन गमन, बलदेव और रोहिणी के प्रयास से श्रीभगवान् की मूर्छाभंग और ब्रजभाव का अद्भुत आवेश। श्रीकृष्ण का वन्यवेश देखकर महिषीगण को प्रेममोह, बलदेव के प्रयास से श्रीकृष्ण को अपने द्वारकानाथ रूप की स्मृति और गरुड़ का श्रीकृष्ण को द्वारका ले आना। श्रीउद्धव का रुक्मिणी-वर्णित गोपीगण की महिमा का कथन, सत्यभामा देवी का मान, श्रीकृष्ण के श्रीमुख से ब्रजवासिगण और गोपीगण की प्रेम-महिमा का वर्णन। श्रीनारद के पास श्रीकृष्ण का कृतज्ञता प्रकाश और विरह के रस का वर्णन। श्रीनारद के प्रति वरदान, नारद के साथ श्रीकृष्ण-बलदेव का भोजन, श्रीनारद का प्रयाग आगमन और मुनिगण के पास ब्रजभक्ति की महिमा कीर्तन से मुनिगण का ब्रज भक्ति का आश्रय ग्रहण।

सूचीपत्र (द्वितीय खण्ड)

विषय

प्रष्ठाङ्क

प्रथम अध्याय (वैराग्य)

श्रीजनमेजय का प्रश्न, श्रीजैमिनी द्वारा श्रीगोलोकमहात्म्य-वर्णनारम्भ, श्रीउत्तरादेवी का श्रीपरीक्षित के पास तत्त्व के विषय में प्रश्न, श्रीपरीक्षित का प्राग्ज्योतिषपुरवासी विप्र के वृत्तान्त द्वारा गोलोक-महात्म्य कथनारम्भ। विप्र का दशाक्षर मन्त्रलाभ, वैराग्य, जपनिष्ठा, देवता का दर्शन लाभ, मथुरा-गमन, वृन्दावन में श्रीगोपकुमार का दर्शन लाभ, साध्यसाधन-तत्त्व जिज्ञासा। गोपकुमार का स्वयं के चरित्र का वर्णनारम्भ, श्रीजयन्त विप्र के पास मन्त्रप्राप्ति, जप के प्रभाव से चित्तशुद्धि एवं वैराग्य, जाहनवी तट पर शालिग्राम सेवारत ब्राह्मण के उपदेश से उस देश के राजा की सेवानिष्ठा दर्शन, नीलाचल गमन; श्रीपुरुषोत्तमदेव की सेवा में आसक्ति, चित्त की अप्रसन्नता फिर ईश्वरादेश से मथुरा आगमन।

द्वितीय अध्ययन (ज्ञान)

मन्त्रजप के प्रभाव से गोपकुमार का स्वर्ग में गमन, उपेन्द्र की सेवालाभ, महर्लोक गमन और यज्ञेश्वर की सेवा प्राप्ति, तपलोक गमन, चतुःसन के मुख से ब्रह्मा की महिमा श्रवण करके सत्यलोक में गमन और ब्रह्मा का पद प्राप्ति। श्रुतिगण कथित मुक्ति और भवित का स्वरूपज्ञान भक्तिमहात्म्य सुनकर उल्लास, श्रीभगवान् के आदेश से पुनः वृन्दावन में आगमन।

तृतीय अध्याय (वैकुण्ठ)

श्रीवृन्दावन में श्रीगोपकुमार का अपने गुरु का दर्शन लाभ, जप के प्रभाव से ब्रह्माण्ड के सप्तावरण भेदपूर्वक प्रकृति और प्रकृति के अतीत मुक्तिलोक में गमन, वहाँ सपरिकर श्रीशिव और वैकुण्ठपार्षदगण का दर्शनलाभ, श्रीगणेश के पास वैकुण्ठमहिमा सुनकर गोपकुमार की वैकुण्ठ प्राप्ति के लिए लालसा, वैकुण्ठ पार्षदगण का गोपकुमार के प्रति उपदेश और गोपकुमार का पुनः भौम ब्रज में आगमन।

चतुर्थ अध्याय (वैकुण्ठ)

ब्रज में गोपकुमार का भावावेश, श्रीमन्मदनगोपाल का दर्शन लाभ, प्रेममूर्छा, वैकुण्ठ गमन। वैकुण्ठ का वैभव देखकर विस्मय, श्रीवैकुण्ठेश्वर

का दर्शन लाभ, वैकुण्ठेश्वर से सकरुण वचनों को सुनकर आनन्दलाभ। अन्त में श्रीमन्मदनगोपाल की माधुरी के आस्वादन के अभाव से अतृप्ति, श्रीनारायण के मदनगोपाल रूप में दर्शन देने पर भी तृप्ति का अभाव, श्रीनारद का दर्शन लाभ, श्रीनारद के पास विविध तत्त्व सिद्धान्त श्रवण, अयोध्या गमन और श्रीअयोध्यानाथ के आदेश से द्वारका गमन।

पञ्चम अध्याय (प्रेम)

श्रीगोपकुमार का द्वारका में प्रवेश, श्रीकृष्ण के दर्शन से परमानन्द लाभ, गोपकुमार के दर्शन से श्रीद्वारकानाथ को ब्रजभाव का आवेश। गोपकुमार की उद्धव के घर में स्थिति, ब्रजमाधुरी अनुभव के अभाव में द्वारका में भी अतृप्ति, गोपकुमार के प्रति श्रीनारद का उपदेश, ब्रजलीला वर्णन से श्रीनारद का परमावेश, गोलोक प्राप्ति के उपाय का वर्णन, श्रीगोपमहिमा कथन। गोपकुमार को पुरुषोत्तम जाने के लिए श्रीनारद का उपदेश, उद्धव की उक्ति सुनकर भौमब्रज में जाने की सम्मति प्रदान, प्रेममूर्च्छित दशा में गोपकुमार का ब्रज में आगमन।

षष्ठ अध्याय (अभीष्ट लाभ)

श्रीवृन्दावन में गोपकुमार को रसमोह, श्रीमन्मदनमोहन द्वारा संज्ञासम्पादन, मोहमुक्त दशा में श्रीगोपकुमार का यमुना में पतन और गोलोक गमन। गोलोक को देखकर गोपकुमार को प्रेममोह, उत्तर गोष्ठ में श्रीकृष्ण दर्शन लाभ, श्रीकृष्ण को गोपकुमार को 'सरूप' नाम से आह्वान, गोपकुमार के आलिंगन से श्रीकृष्ण की प्रेममूर्च्छा, उसे देखकर ब्रजवासिगण को शोक, सरूप की परिचर्या से श्रीकृष्ण का मोहभंग और ब्रज में प्रवेश। सरूप का श्रीकृष्ण की स्नान भोजन आदि लीलादर्शन, सरूप का श्रीदाम के घर गमन, प्रातःकालीन और गोष्ठलीला दर्शन, गोलोक की विविध लीलावली दर्शन, मथुरा लीला में ब्रजवासी का शोक मूर्च्छादि वर्णन।

सप्तम अध्याय (जगदानन्द)

श्रीराधिका आदेश से सरूप की जनशर्मा के प्रति कृपा, जनशर्मा का प्रेमविकार, दोनों का भगवत्साक्षात्कार, जनशर्मा के प्रति श्रीकृष्ण की कृपा, श्रीकृष्ण की विविध गोष्ठलीला, श्रीउत्तरा के प्रति श्रीपरीक्षित के उपदेश का उपसंहार और श्रीजैमिनी के प्रति जनमेजय का कृतज्ञता प्रकाश।

श्रीश्रीवृहद्भागवतामृत

प्रथम—खण्ड

प्रथम अध्याय (भौम)

“वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुतपदकमलं श्रीगुरून् वैष्णवांश्च
श्रीरूपं साग्रजातं सहगण-रघुनाथान्वितं तं सजीवम् ।
साद्वैतं सावधूतं परिजन-सहितं कृष्णचैतन्यदेवं
श्रीराधाकृष्ण-पादान् सहगण-ललिता श्रीविशाखान्वितांश्च ॥”

“शचीतनुज-गौरचन्द्र-भक्तवृन्द-तोषकं
स्वकीतिवर्द्धनं समस्तसाधुभिः सभाजितम् ।
सदैव राधिका-वराधिं पङ्कजालिमानसं
भजाम्यहं महाशयं कृपाम्बुधिं सनातनम् ॥”

एकबार परीक्षित नन्दन श्रीजनमेजय महामुनि जैमिनि के पास अद्भुत भारताख्यान सुनकर उसका शेषभाग सुनने के लिए उत्सुक होकर श्रीजैमिनि से बोले— हे ब्रह्मन्! मुझे महर्षि वैशम्पायन के पास महाभारत सुनकर जो रसास्वादन प्राप्त नहीं हुआ, वह आपके पास प्राप्त हुआ है। इस समय उस महाभारत का अन्तिम भाग भी मधुर रस द्वारा समापन करिए। श्रीजनमेजय की बात सुनकर श्रीजैमिनि बोले— हे नृपोत्तम! भगवान्! व्यासदेव ने भक्ति समाधियोग से श्रीभगवान् भक्तिदेवी और श्रीभगवान् की मायाशक्ति का साक्षात्कार प्राप्त कर उसकी प्रत्यक्षानुभूति द्वारा श्रीभगवान् के मधुर रूपगुण लीलादि वर्णनमय श्रीमद्भागवत की रचना की एवं उनके तपोबल से उत्पन्न सन्तान श्रीशुकदेव मुनि ने आत्माराम और आप्तकाम होकर भी श्रीकृष्ण के गुणों से आकर्षित होकर उस सुवृहत् श्रीभागवत आख्यान का अध्ययन किया। उन्होंने गंगातट पर ब्रह्मशाप ग्रस्त मृत्युपर्यन्त निराहार का व्रत लेकर

मरणासन्न बैठे हुए तुम्हारे पिता महाराज परीक्षित की सभा में इसी भागवत कथामृत का परिवेषण करके उनको संसारभय से मुक्त किया एवं उन्हें पराभक्ति का अधिकारी बनाया।

महाराज परीक्षित के स्वाभीष्ट परमपद लाभ के लिए और विलम्ब नहीं था, माता उत्तरा के अपने पुत्र परीक्षित का दर्शन कर पुत्रशोक में अत्यन्त अधीर होने पर महाराज परीक्षित ने माता को आत्मस्वरूप की नित्यता और जन्म मरणादि के मिथ्यात्व की उपलब्धि कराकर सान्त्वना प्रदान की। श्रीपरीक्षित के वचनों से ज्ञान प्राप्त कर माँ ने शोक का परित्याग कर आनन्द लाभ किया और उनके प्रति बोलीं— हे वत्स! परमहंस शिरोमणि श्रीपाद वादरायणि ने तुम्हें जो भागवत रसामृत का पान कराया है, उस परमोपादेय सारांश का यदि मुझे भी कुछ आस्वादन कराओ तो मैं धन्य हो जाऊँ।

उत्तरा की बात सुनकर परीक्षित बोले— मातः! मेरे परलोक जाने में अब अधिक विलम्ब नहीं है, इसलिए मेरे परमाराध्य श्रीगुरुदेव श्रीश्रीशुकदेव मुनि द्वारा कथित भागवत का परम गोपनीय अंश श्रीवृन्दावन की रहस्यमय लीला यदि संक्षेप में सुनने की इच्छा हो तो इस अल्पावधि में उसका कुछ वर्णन किया जा सकता है। उसके उत्तर में माता उत्तरा बोलीं— वत्स! ईश्वर के सारांश शक्कर के समान, अथवा क्षीरसिन्धु सारांश अमृत के समान, श्रीपाद वादरायणि कथित समग्र भागवत का परम मधुर सारांश यत्नपूर्वक अपनी अनुभूति के सहित विचार पूर्वक मुझे आस्वादन कराओ।

श्रीपरीक्षित माता उत्तरा की उत्कण्ठा देखकर परमानन्द से अधीर हो श्रीभागवत का परम मधुर सारतर अंश सुनने का मन बनाकर कहने लगे,— माता! यद्यपि मेरा प्रयाणकाल अत्यन्त निकट है और इस समय को मैं मुनिव्रत का अवलम्बन करके ही बिताना चाहता हूँ, फिर भी आपके प्रश्न की माधुरी मुझे बोलने के लिये विवश कर रही है। श्रीगुरुदेव श्रीलालवादरायणि की कृपा से आपके प्रश्न के उत्तर में श्रीभागवतामृत का वर्णन करता हूँ, आप इसे ध्यान पूर्वक सुनिये।

हे मातः! एकबार तीर्थराज प्रयाग में माघ मास में श्रेष्ठ मुनिगण एकत्रित होकर श्रीविष्णु के पास विराजमान थे, इसी अवसर पर उसी देश के एक सम्पत्तिशाली विप्रवर ब्राह्मण भोजन कराने के विचार से परिवार समेत वहाँ आये और एक स्थान को साफ और शुद्ध करके धार्मिक सेवा भावना से अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति सहित शालग्राम रूपी श्रीभगवान् की सेवा समापन की और उसके

बाद ब्राह्मण, वैष्णव और दीन-दुःखी जनों को आदर पूर्वक महाप्रसाद प्रदान कर सेवा की। अन्त में प्रसाद भोजन करके उस समस्त किये हुए कर्म का फल श्रीभगवान् को समर्पण कर दिया। बाद में शालग्राम रूपी श्रीभगवान् को सिंहासन पर विराजमान कराकर प्रस्थान करने के लिए तैयार होते ही देवर्षि नारदजी संसार में श्रेष्ठ कृष्णकृपापात्र का निर्णय करने के उद्देश्य से मुनि समाज से उठकर उनसे कहने लगे— हे विप्रवर! आप ही श्रीकृष्ण के परम कृपापात्र हैं। नारद की बात सुनकर विप्र ने कहा— हे मुनि! आपने मुझ में भगवत्कृपा का कौन सा लक्षण देखा है। यदि भगवत्कृपापात्र दर्शन करने की इच्छा हो, तो दक्षिण देश में जो एक महाभक्त महाराज विराजमान हैं, उनके पास जाने का कष्ट करिये।

उनकी सपरिवार अपूर्व कृष्ण सेवा, साधु सज्जन सेवा, अतिथि सत्कार आदि महागुणावलि दर्शन करके आप वास्तव में चमत्कृत हो उठेंगे। श्रीनारद ब्राह्मण की बात सुनकर कौतूहल पूर्वक उन महाराज के नगर की ओर चले और विप्र द्वारा वर्णित महिमा की अपेक्षा और भी अधिक महिमा के दर्शन किये। उनकी राजधानी में सच्चिदानन्द विग्रह श्रीभगवान् की विचित्र सेवा, नित्य नये-नये महोत्सव, विचित्र महाप्रसाद द्वारा वैष्णव सेवादि कार्य होते रहते थे।

श्रीनारद ने परमानन्द के साथ महाराज के पास जाकर कहा— हे राजन्! आप ही कृष्ण के कृपापात्र हैं, आपका सुशोभित वैभव समूह श्रीभगवत् सेवा और सज्जन सेवा में लगा हुआ है। महाराज देवर्षि की बात में अपनी प्रशंसा सुनकर लज्जा पूर्वक सिर नीचा किये हुए बोले— हे देवर्षे! मैं मनुष्य हूँ, मेरी आयु भी स्वल्प है, मैं त्रिताप ज्वाला से पीड़ित हूँ, अतः मेरे क्षुद्र जीव में कृष्णकृपा कहाँ? यदि कृष्णकृपा देखने की इच्छा हो तो स्वर्ग में देवगणों के पास जाइये— वे अमृतपान करके जरा मृत्यु इत्यादि को जय कर चुके हैं। फिर उन सब में देवराज इन्द्र श्रेष्ठ हैं। भगवान् विष्णु वामनरूप में उनका कनिष्ठ भ्रातृत्व स्वीकार करके उनकी आज्ञा के अधीन हो गये हैं।

(उस स्थान पर यह जान लेना चाहिए कि जो भक्ति शब्द से सेवा का अर्थ लिया जाता है, मनुष्य की वासना के अनुसार यह सेवा कहीं पर भगवत्सुखैक तात्पर्यमयी और कहीं पर स्वसुख तात्पर्यमयी होती है। भगवत्सुखैक तात्पर्यमयी अर्थात् भगवान् का सुख ही जिस सेवा का एकमात्र उद्देश्य है, उसका नाम शुद्धा भक्ति है और स्वसुख तात्पर्यमयी सेवा का नाम विद्धा भक्ति है। यह विद्धा भक्ति फिर कर्म, ज्ञान और योगादि के मिश्रण से

विभिन्न प्रकार की हो जाती है, यहाँ तक जिस सेवा या भक्ति की बात कही है वह कर्ममिश्रा या आरोपसिद्धा भक्ति है अर्थात् स्वरूपतः भक्ति न होते हुए भी भक्ति का भाव आरोपित है। शुद्धा या निर्गुणा भक्ति का स्वरूप और क्रमोत्कर्ष प्रतिपादन करने के मन से ही श्रीग्रन्थकार ने पहिले ही कर्ममिश्रा भक्ति के अनुष्ठानरत प्रयागदेशाधिकारी ब्राह्मण आदि को कृष्णकृपापात्र रूप में उपस्थापित किया है।)

[टिप्पणी— आरोपसिद्धा, संगसिद्धा और स्वरूपसिद्धा (शुद्धा या निर्गुणा) भक्ति के लक्षण और भेद, श्रीजीवगोस्वामी द्वारा रचित भक्ति सन्दर्भ ग्रन्थ के 217 वें अनुच्छेद में विस्तृत रूप से विर्णित है। मेरे परमाराध्य श्रीश्रीगुरुदेव 1008 श्रीकुञ्जबिहारीदास बाबाजी महाराज द्वारा रचित और श्रीकृष्णचैतन्यशास्त्र मन्दिर (श्रीराधाकुण्ड) से प्रकाशित “परतत्व साम्मुख्य” नामक ग्रन्थ में भक्ति सन्दर्भ के अवलम्बन से उक्त भक्ति के संज्ञा और भेद विचार देखे जा सकते हैं।]

द्वितीय अध्याय (दिव्य)

देवर्षि नारद ने महाराज की बात सुनकर स्वर्ग में जाकर देवताओं की सभा में देवतावृन्द परिवृत श्रीवामदेव के दर्शन किये। देवगण विचित्र स्वर्गीय वस्तुओं द्वारा उनकी सेवा कर रहे हैं और श्रीभगवान् भी अपूर्व वचनामृत रस द्वारा सभी का आनन्दवर्द्धन कर रहे हैं। देवराज इन्द्र वामनदेव के पार्श्व में बैठे हुए भगवान् द्वारा किये हुए उपकार समूह का वर्णन करते करते अश्रु मोचन कर रहे हैं। उचित अवसर पर भगवान् विष्णु के अपने निवास पर चले जाने के बाद श्रीनारद ने इन्द्र के पास आकर उन्हें आशीर्वाद देकर उनसे कहा— हे देवराज! तुम्ही श्रीकृष्ण के परम कृपापात्र हो। तुम्हें विपुल स्वर्गराज का अधिकार प्राप्त है और भगवान् श्रीविष्णु ने तुम्हारा कनिष्ठ भ्रातृत्व स्वीकार करके तुम्हें ज्येष्ठ भ्राता का सम्मान प्रदान किया है।

इन्द्र ने देवर्षि को प्रणाम कर लज्जा पूर्वक कहा— हे मुने! आप क्या मेरा उपहास कर रहे हैं? यह स्वर्ग का राज कितनी विपत्तियों से परिपूर्ण है, क्या आप यह नहीं जानते हैं? कितनी बार असुरों के उपद्रव से विपन्न होकर हमें कितना अपमानित होना पड़ा है। स्वर्ग में स्पर्धा और असूया दोष भी विद्यमान है, और भगवान् वामनदेव ने जो मेरा कनिष्ठ भ्रातृत्व स्वीकार किया है, वह मेरी भक्ति के अधीन होकर नहीं, मेरे माता-पिता की तपस्या के कारण उनका पुत्रत्व स्वीकार किया है और उनके आग्रह के फलस्वरूप ही

मेरे द्वारा प्रदत्त पूजादि ग्रहण करते हैं। वह भी सब समय नहीं, एकाध क्षण दर्शन देकर फिर अन्तर्हित हो जाते हैं।

हे मुने! आप यदि भगवत्कृपापात्र दर्शन के इच्छुक हैं तो अपने पिता श्रीब्रह्म के पास जाइये। उनके एक दिन में मेरे जैसे चौदह इन्द्र प्रादुर्भूत होते हैं। उनकी रात्रि भी इतनी ही बड़ी है। इस प्रकार के रात दिन से सौ वर्ष की उनकी परमायु है। इन सब लोकों के वही सृष्टा है। भगवान् सहस्रशीर्षा पुरुष साक्षात् यज्ञभाग ग्रहण करके उन्हें आनन्द दान प्रदान करते रहते हैं। उनकी महिमा मुझसे अधिक आप स्वयं जानते हैं, इसलिए अधिक क्या कहूँ।

परीक्षित बोले— हे मातः! इन्द्र की बात सुनकर श्रीनारद “साधु-साधु” कहते हुए इन्द्र की प्रशंसा करते-करते सत्यलोक की ओर चले और दूर से ही यज्ञ की ध्वनि उनके कानों तक पहुँचने लगी। वहाँ पर उपस्थित होकर उन्होंने देखा कि भगवान् सहस्रशीर्षा पुरुष लक्ष्मीदेवी के साथ यज्ञ का भाग ग्रहण कर ब्रह्म को परम आनन्द प्रदान कर रहे हैं। उचित समय पर श्रीभगवान् के लक्ष्मीदेवी के साथ अपने निवास को प्रस्थान करने के उपरान्त श्रीब्रह्मा अपने आसन पर विराज कर श्रीकृष्ण महिमा के श्रवण कीर्तन से परम आविष्ट होकर अश्रुधारा बहाने लगे। इसी अवसर पर श्रीनारद ने अपने पिता ब्रह्मा के पास जाकर कहा— हे पितः! आप निश्चित रूप से श्रीहरि के परम कृपाभाजन हैं; आप ही इस विश्व के सृष्टि पालनादि कार्य करते हैं। धर्मादि पुरुषार्थ के और उसके साधन समूह के ज्ञापक वेदपुराणादि आपके चतुर्मुख से ही निकलकर विराज रहे हैं। श्रीभगवान् साक्षात् आपकी भक्तिवश्यता के कारण यज्ञभाग का भोजन करते रहते हैं। हे पितः! आपको श्रीकृष्ण का प्रिय ही क्यों कहूँ, आप श्रीकृष्ण ही हैं, सृष्टि इत्यादि लीला के लिए ही यह कलेवर धारण कर रहे हैं।

ब्रह्मा श्रीनारद की बात सुनकर — “मैं उनका दास हूँ” “मैं उनका दास हूँ” यह बात बार-बार कहते हुए जैसे कुछ क्रोधाविष्ट होकर आक्षेप के साथ स्वपुत्र नारद से बोले— हे नारद! मैं भगवान् कृष्ण नहीं हूँ यह बात तुम्हें बाल्यकाल से ही बार-बार प्रमाण और युक्ति के साथ समझाकर बतलाई गई है, निश्चय ही वह तुम्हारे मन में है (श्रीभागवत के द्वितीय स्कन्ध में ब्रह्म नारद सम्वाद देखा जा सकता है)

श्रीकृष्ण की ही शक्ति महामाया इस जगत की सृष्टि स्थिति संहारादि कार्य करती रहती है। मैं उस माया से मोहित होकर स्वयं को जगत का सृष्टा कहकर अभिमान करता रहता हूँ। मैं सर्वदा काल के भय से डरा हुआ मुक्ति की कामना से भगवत् पूजा करता हूँ, भक्ति के कारण नहीं। और प्रभु भगवान् भी जो मेरे

प्रदत्त यज्ञभाग ग्रहणकरते रहते हैं; वह भी केवल अपनी आज्ञारूप वेदवाणी के प्रचारार्थ या वेदवाक्य की रक्षा के कारण, मेरे अनुग्रह के लिए नहीं।

हे नारद! मेरी भक्ति की बात तो दूर रही, मैंने उनके पास जो अपराध किया है, उसकी चिन्ता से रात दिन मेरा चित्त व्याकुल रहता हूँ दुष्ट हिरण्यकशु ने मेरे वर से ही बलवान होकर विष्णु वैष्णव से द्रोह किया था। प्रभु ने अपने भक्त शिरोमणि प्रह्लाद पर कृपा करने के लिए ही श्रीनृसिंह रूप में अवतीर्ण होकर मुझे आदेश किया था— “हे ब्रह्मन्! दुष्ट असुर आदि को इस प्रकार वर मत देना।” फिर भी मैंने रावणादि को इसी प्रकार का वर दिया है, उसने भी उसी प्रकार मेरे वर से तैयार होकर विष्णु वैष्णव से द्रोह किया है। श्रीभगवान् अपने प्रति द्रोह भी सहन कर सकते हैं; किन्तु भक्त के प्रति विद्रोह कभी सहन नहीं करते हैं। इस कारण मैं उनके भक्त विद्रोह के कारण ही महा अपराध के कीचड़ में डूबा रहता हूँ।

हे नारद! मन में विचार करके देखो, श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्णपार्षद गोप बालक और गोवत्सगण को हरण करके कितना भीषण अपराध किया है, उन मायापति के प्रति माया दिखाने के लिए जाने से जो अन्याय कार्य किया है, वह स्मृति पटल पर उदित होते ही लज्जा से मस्तक झुका जाता है।

हे नारद! तुम आज भगवत्कृपापात्र खोजने को तत्पर हुए हो इसलिए तुम्हें एक रहस्य की बात कहता हूँ— इस विश्व में श्रीमन्महादेव के समान भगवान् का कृपापात्र दूसरा कोई भी नहीं है। जो श्रीकृष्णपदारविन्द के मकरन्द रसपान से उन्मत्त होकर और हर्षित होकर नृत्य करते-करते विश्व को कम्पायमान कर देते हैं, वे इन्द्रादि और मेरे भी वरदाता हैं। अधिक क्या कहूँ, वे श्रीकृष्ण से अभिन्न तत्त्व हैं। शास्त्र में समुद्र मन्थन के समय श्रीभगवान् ने श्रीमन्महादेव को विश्व संहारक कालकूट का पान करवाकर उनकी महामहिमा की घोषणा समस्त संसार में कर दी है।

परीक्षित बोले— मातः! ब्रह्मा की बात सुनकर नारद हर्षित होकर जाने को उत्सुक हुए तब ब्रह्मा ने अपने पुत्र नारद से पुनः कहा— हे वत्स! इस ब्रह्माण्ड के पृथ्वी आदि सात आवरणों के बहिर्भाग में जो शिवलोक विराजमान है, वह नित्य, सुखमय और सत्य स्वरूप है। तुम भी भक्तिबल से उस स्थान पर जाने को समर्थ हो, इसलिए वहाँ जाकर महादेव की महामहिमा राशि के दर्शन करो।

नारद ने ब्रह्मा से सदाशिव की महिमा सुनकर “शिव कृष्ण” कीर्तन करते-करते परमानन्द पूर्वक शिवलोक की ओर प्रस्थान किया।

तृतीय अध्याय (प्रपञ्चातीत)

श्रीनारद ने शिवलोक पहुँच कर दूरसे ही देखा कि श्रीशिव भावाविष्ट चित्त से श्रीसंकर्षण की अर्चना कर रहे हैं, परम भक्तिभाव से स्तव कर रहे हैं, और कभी अपूर्व भावावेश में नृत्य कीर्तन कर रहे हैं। उनके नृत्य के प्रत्येक ताल में श्रीउमादेवी हाथ से ताली बजाकर उनका उत्साह बढ़ा रही हैं, और नन्दीश्वर आदि अनुचर वर्ग “जय-जय” शब्द के उच्चारण से साधुवाद प्रदान कर रहे हैं। (श्रीशिव की संकर्षण की आराधना श्रीभागवत के पञ्चम स्कन्ध में वर्णित है।) श्रीनारद श्रीशिव की भक्तिरसमय मूर्ति के दर्शन से परमानन्द पूर्वक उनको प्रणाम करके कहने लगे— हे देवाधिदेव! आप ही श्रीकृष्ण के परम अनुग्रह भाजन हैं। यह बात कहकर नारद वीणायोग से सुस्वर से ब्रह्मा द्वारा वर्णित शिवमहिमावली का गान करने लगे। अन्त में नारद श्रीशिव के पादपद्मों की धूलि के स्पर्श की इच्छा से पास में आकर उपस्थित हुए तो श्रीशिव ने देवर्षि को आलिंगन किया और कहा— हे नारद! यह क्या कर रहे हो। इसके बाद नारद के सम्भाषण रस से नृत्यादि त्यागकर बैठते ही, श्रीनारद उनके जगदीश्वरत्व प्रतिपादक महिमाराशि का गान करने लगे। वैष्णव चूड़ामणि श्रीशंकर नारद का इस प्रकार का गान सुनकर अपने दोनों कानों को ढककर क्रोधित होकर कहने लगे— हे नारद! मैं न तो जगदीश्वर हूँ और नहीं श्रीकृष्ण कृपापात्र हूँ; मैं तो मात्र श्रीकृष्ण के दासानुदासों का अनुग्रह प्रार्थी हूँ।

परीक्षित ने कहा— मातः! श्रीनारद श्रीशिव की इस प्रकार की बात सुनकर श्रीकृष्ण के साथ श्रीशिव जी जो अभेद स्तुति कर रहे थे, सम्भ्रम पूर्वक उसे छोड़कर अपराधी के समान धीरे-धीरे बोले— हे देव! विष्णु वैष्णव की दुर्गम महिमा आप ही जानते हैं और स्वयं आचरण पूर्वक उस महिमा को जगत में प्रचारित करते हैं, इस प्रकार श्रीकृष्ण ने भी कितनी बार आपकी आराधना करके आपकी महामहिमा को जगत में प्रचारित किया है।

श्रीनारद के वचन सुनकर श्रीशिव ने लज्जित होकर श्रीनारद का मुख आच्छादित किया और कहा— तुम अब मेरी धृष्टता को और प्रकाशित मत करो फिर उच्चहास्य करते हुए कहने लगे— हे नारद! देखो, मेरे प्रभु की

महिमा कितनी विलक्षण है कि मैं इतना अपराधी होते हुए भी वे मेरी उपेक्षा नहीं करते हैं।

श्रीनारद श्रीशिव के भक्तिरसमय वचनों को सुनकर परमानन्दित होकर उनका स्तव गान करने लगे। श्रीनारद ने कहा— हे देव! आपके पास किसी अपराध के लिए अवकाश ही नहीं है, इसलिए आप श्रीकृष्ण के परम प्रिय हैं। अधिक क्या कहा जाये, आपकी कृपा एवं प्रसाद से बहुत से व्यक्ति कृष्णप्रेम लाभ कर धन्य हो गये हैं आपका ब्रह्मादि को दुष्प्राप्य ऐश्वर्य होते हुए भी आप उस ऐश्वर्य का अनादर करते हुए निरन्तर विचित्र भगवन्नाम कीर्तन रस के आनन्द में विभोर होकर भावावेश में दिग्म्बर होकर नृत्य करते रहते हैं। श्रीनारद की बात सुनकर श्रीमन्महादेव ने कहा— हे नारद! कहाँ तुम्हारे समान सर्वाभिमान त्यागी भगवत जनों के ईश्वर श्रीकृष्ण और कहाँ समस्त अभिमान का मूल मैं स्वयं। मैं लोकेश, मुक्तिदाता, ज्ञानदाता, भक्तिदाता आदि के अभिमान में निरन्तर मत्त रहता हूँ। श्रीकृष्ण अकिञ्चन प्रिय, इसलिए जो समस्त अभिमान होकर समस्त भय को भी छोड़ चुके हैं, वही श्रीहरि की कृपा से सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीवैकुण्ठ धाम को प्राप्त होते हैं। हे नारद! वैकुण्ठवासियों के प्रति श्रीकृष्ण की जिस प्रकार की करुणा देखी जाती है वैसी अन्यत्र नहीं देखी जाती है। उस श्रीवैकुण्ठलोक में निरन्तर ही प्रभु की नाम संकीर्तनादि प्रेमामृतवाही विभिन्न प्रकार के भजन को छोड़ अन्य कोई आकांक्षा ही नहीं है। उस स्थान पर निरन्तर परमानन्द का अपूर्व हिल्लोल विराजमान है, जिसके एक कण के साथ भी ब्रह्मानन्द की तुलना नहीं की जा सकती है। जो शुद्धाभक्ति के प्रभाव से वैकुण्ठधाम में साक्षात् श्रीहरि के सेवानन्द रस में सदा डूबे रहते हैं, उनकी तो बात ही क्या कही जाये, मृत्युलोक में भी जो इस लोक और परलोक के विभिन्न साध्य-साधनों से निस्पृह रहते हुए अर्थात् जिन्होंने श्रीहरि चरणों की सेवा प्राप्ति को ही चरम लक्ष्य बना लिया है, निरन्तर कृष्णभक्ति रस सुधापान के प्रभाव से अर्थात् श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण, लीलादि के माधुर्य आस्वादन के फलस्वरूप उनकी पाञ्चभौतिक देह ही सच्चिदानन्द रूपता प्राप्त कर लेती है।

(श्रीमन्महादेव की उक्ति का मर्म यह है कि—भक्ति श्रीभगवान् के स्वरूपशक्ति की वृत्ति ह्लादिनीशक्ति और संविद्शक्ति का सार रूप है। जो श्रीगुरुचरणाश्रय करके कर्म ज्ञानादि आवरण शून्य शुद्धभक्तियोग से श्रीहरि का भजन करते हैं, श्रीहरि की कृपा से चित्रराज्य से श्रीभगवान् की स्वरूप

शक्ति की वृत्ति भक्ति श्रवण कीर्तन द्वारा उसके जड़ीय मन-बुद्धि-जिह्वा-कर्ण-चक्षु आदि में उदित होकर क्रमशः इन्द्रियों के जड़त्व को ध्वंस करके उनको चिन्मय कर देती है। इस भाव से भजन के क्रम परिपाक से साधक की इन्द्रियवृत्ति क्रमशः जड़त्व त्यागकर चिन्मयत्व प्राप्त कर लेती है। पारा और गन्धक पूर्ण के योग के फलस्वरूप जिस प्रकार एक नये यौगिक (Compound) की रचना होती है, जिसे कज्ज्वली (Sulphate of Mercury) कहते हैं। इसकी प्रकृति एवं गुण पारा व गन्धक दोनों से ही भिन्न होते हैं। यह गन्धक और पारे की एक्यावस्था है, इसी प्रकार श्रवण कीर्तनादि भजन के फलस्वरूप भक्तसाधक की प्राकृत मनोवृत्ति सच्चिदानन्दरूपा भक्ति के साथ मिलकर स्वतः ही चिन्मयत्व प्राप्त कर लेती है साधक की मनोवृत्ति और भक्ति की एक्यावस्था का नाम ही प्रेम है। गुरुचरणाश्रय कर भजन क्रिया के दूसरे क्षण से ही भजन के क्रम परिपाक से यह कार्य घटित होना प्रारम्भ हो जाता है, जिस परिमाण में चिद्वृत्ति भक्ति के साथ, जड़ीय मन, बुद्धि और इन्द्रियादि का संमिश्रण घटित होता है, उसी परिमाण में आंशिक रूप से साधक की मन बुद्धि का कुछ अंश (भाग) जड़त्व और कुछ अंश चिन्मयत्व को प्राप्त करता है, इस प्रक्रिया की पूर्णता (जिसमें पूर्ण रूप से मन, बुद्धि, इन्द्रियां चिन्मयत्व प्राप्त कर लेती हैं) का नाम ही प्रेम है।

टिप्पणी— यह प्रेम या प्रीति ही ह्लादिनी की सारवृत्ति हैं माधुर्यमूर्ति भगवत् विग्रह को जिस प्रकार भक्त के हृदय में प्रकाशित करना ह्लादिनी का कार्य है, उसी प्रकार उस विग्रह के प्रति भक्त के हृदय में प्रीति व प्रेम का आविर्भाव करना भी ह्लादिनी का कार्य है कारण यह है कि ऐसा न होने से ह्लादिनी का प्रकृत उद्देश्य सिद्ध नहीं होता है। भगवान् नरवधि आनन्द स्वरूप होते हुए भी अपने स्वरूपानन्द का अनुभव कराकर जीव का जीवन सार्थक करने के लिए एवं स्वरूपानन्द से भी चमत्कारपूर्ण भक्त के हृदय का प्रेमानन्द स्वयं आस्वादन करने के लिए नियत जिस शक्ति की परिचालना करते हैं, उस स्वरूप शक्ति का नाम ही ह्लादिनी शक्ति है इसलिए जीव को भगवत्आनन्द का अनुभव कराने के लिए ह्लादिनी जीव के हृदय में जिस अनुकूल अवस्था की सृष्टि करती है, उसी का नाम प्रेम है। सब भक्तों की बात कही है, ऐसा प्रतीत होता है कि वे सब सिद्ध भक्त हैं। ब्रह्मा ने कहा था कि माया के राज्य में भक्त नहीं है, किन्तु महादेव ने कहा है कि भक्तगण माया के राज्य में रहते हुए भी प्रपञ्चातीत हैं। श्रीउज्ज्वल नीलमणि के हरिवल्लभ प्रकरण में “हरिप्रियजने भावा द्वेषाद्या नोचिता इति” इत्यादि श्लोक की आनन्दचन्द्रिका टीका का मर्म यह है कि, साधन अवस्था में अन्तःकरण में किसी भाग्यक्रम से भक्ति का आविर्भाव होने से भी, वह स्थायी नहीं रह पाती है। इस समय मन में जो भक्ति का आविर्भाव होता है, उसमें मन का और भक्ति का एकीकरण नहीं होता है।

किसी आधार में आधेय रखने से उनमें एक प्रकार से ऐक्य होते हुए भी भक्ति और मन का ऐक्य इस प्रकार नहीं है। भक्ति और मन का वास्तव में ऐक्य किस समय होता है? अग्नि के बीच में लोहा रखने मात्र से ही वह अग्निवत् जलाने में समर्थ नहीं होता है, किन्तु बहुत समय तक लौह को अग्नि में रखने से लौह भी एक प्रकार से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, तब लौह में अग्नि के समान जलाने की सामर्थ्य आ जाती है। साधन भक्ति से प्रारम्भ होकर आसक्ति अवस्था तक मन एवं भक्ति का वास्तविक ऐक्य या तादात्म्य नहीं होता है, आसक्ति की भूमिका के बाद चित्त एवं भक्ति का ऐक्य हो जाता है, तब चित्त का प्राकृतत्व ध्वंस होकर चिन्मयत्व की प्राप्ति होती है। लौह के अग्नित्व प्राप्ति के समान गन्धकचूर्ण और पारे को भी एकपात्र में रख देने मात्र से ही ऐक्य प्राप्ति नहीं होती है, लौह को अग्नि के साथ रखने से जो ऐक्य होता है, पारे एवं गन्धक को मिलाकर कज्ज्वली (Sulphate of Mercury) की प्राप्ति के साथ उसकी यथेष्ट समानता होते हुए भी कुछ अन्तर भी है। लौह को अग्नि में रखने से अग्नि का धर्म प्राप्त होने पर भी पानी में डालते ही वह पुनः लौहत्व प्राप्त कर लेता है किन्तु कज्ज्वली और किसी भी अवस्था में पुनः गन्धक एवं पारे के गुणों को नहीं प्राप्त करता है इसी प्रकार भक्ति और मन के पूर्ण संमिश्रण के बाद अन्तःकरण फिर वापस जड़त्वधर्म को नहीं प्राप्त होता है, अतएव गन्धक एवं पारे का दृष्टान्त अधिकतर उपयुक्त लग रहा है।

श्रीउज्ज्वलनीलमणि की पूर्वोक्त टीका में आसक्ति के बाद रति अवस्था तक चित्त का सम्पूर्ण प्राकृतत्व नष्ट एवं चिन्मयत्व प्राप्ति का सुस्पष्ट उल्लेख न रहने पर भी श्रीभागवत में “ज्ञानं विशुद्धं” इत्यादि (5।12।11) श्लोक की श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती पाद की टीका में स्पष्ट लिखा हुआ है कि रति अवस्था में चित्त का सगुणत्व ध्वंस एवं निर्गुणत्व लाभ होता है। प्रेम की भूमिका में वह और भी दृढ़ हो जाता है। रति की भूमिका में चित्त निर्गुण या चिन्मय होकर भी देह चिन्मय नहीं होता है, किन्तु श्रीमन्महादेव जो नारद के पास पाञ्चभौतिक देह के सच्चिदानन्दरूपता की बात कही है— वह भक्त के पक्ष में प्रेम भूमिका लाभ के बाद ही सम्भव होती है। इसलिए जातरति भक्त को साधक और जातप्रेम भक्त को सिद्ध भक्त कहा जाता है, तभी तो जो उसकी पाञ्चभौतिक देह भी सच्चिदानन्द रूपता या चिन्मयत्व लाभ करती है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।)

श्रीशिव ने नारद से कहा— हे देवर्षे! इस प्रकार का भक्त श्रीभगवान् के समान ही मुझे प्रिय है और मैं उनके संग की प्रार्थना करता रहता हूँ।

श्रीपरीक्षित बोले — मातः! श्रीनारद श्रीशिव के पास वैकुण्ठवासी भक्तगण की अपार महिमावलि सुनकर वैकुण्ठ जाने को तैयार होते ही श्रीशिव उनका अभिप्राय जानकर धीरे-धीरे नारद के कान में एक रहस्यमय बात कहने लगे। श्रीशिव ने कहा— हे नारद! आज तुम श्रीकृष्ण कृपाभरपात्र खोजने को तत्पर हो, इसलिए तुम्हें एक सुगोप्य बात कर रहा हूँ, इस विश्व में मैं, तुम्हारे पिता, गरुड़ादि वैकुण्ठ पार्षदगण यहाँ तक कि महालक्ष्मी से भी श्रीकृष्ण को कृपाभरपात्र के रूप में श्रीप्रह्लाद ही की प्रसिद्धि हैं अतएव श्रीप्रह्लाद ही श्रीकृष्ण के श्रेष्ठ भक्त हैं। हे नारद! पुराणादि में प्रसिद्ध उस भगवद्वाणी को स्मरण करके देखो— “मैं जिनकी परमगति हूँ, उन समस्त साधु भक्तों को छोड़ मैं लक्ष्मी को, यहाँ तक कि अपनी श्रीमूर्ति को भी स्पृहा नहीं करता हूँ।” अतएव उन अनन्यगति भक्तगण की महिमा वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है। उन सभी भक्तगण में श्रीप्रह्लाद का भाग्य तर्कातीत है। श्रीप्रह्लाद का भाग्य हिरण्यकशिपु के वध के समय लक्ष्मी समेत सभी ने प्रत्यक्ष देखा है उस परम तेजस्वी उग्र नृसिंहरूप के तेज से सारा विश्व दग्ध हो रहा था, हम में से कोई भी उस रूप के समीप नहीं हो पा रहा था, यहाँ तक कि लक्ष्मीदेवी भी भय के कारण उस रूप के समीप जाने में समर्थ नहीं थीं। उस समय परम भक्त प्रह्लाद के दर्शन से ही उस महा उग्र रूप को घनीभूत वात्सल्य रस के मूर्त विग्रह रूप में परिणत होते हुए देखा है।

हे नारद! श्रीभगवान् की मुक्ति देने की इच्छा होते हुए भी श्रीप्रह्लाद ने उनके पास केवल भक्ति की ही प्रार्थना की थी। श्रीप्रह्लाद की महामहिमा जगत में प्रचारित करने के उद्देश्य से ही श्रीविष्णु बार-बार उनको मुक्ति दान का आग्रह कर रहे थे। इसलिए पुनः पुनः मुक्ति प्रत्याख्यान के द्वारा भक्ति के विषय में उनकी दृढ़ निष्ठा का भाव ही सूचित हो रहा है। फिर बलि के द्वार पर जो भगवान् की द्वारपाल के रूप में स्थिति एवं दुष्ट बाणासुर का रक्षण, यह भी उनके महा प्रियतम प्रह्लाद की अपेक्षा से समझना चाहिए। इसलिए तुम शीघ्र सुतल जाकर श्रीप्रह्लाद का दर्शन कर आनन्द लाभ करो। किन्तु उनके पास जाकर भ्रमवश भी उनकी स्तुति प्रणति मत करना, वे सज्जनाग्रणी हैं— हमारे द्वारा स्तुति प्रणति सह नहीं पायेंगे। इसलिए यदि आनन्दलाभ करना चाहो तो आशीर्वाद के साथ उनको खूब आलिंगन करना और मेरा भी आलिंगन उन्हें बतलाना।

[इस स्थल पर यह जाना जाता है कि— श्रीमन् महादेव ने जो गरुडादि नित्यपार्षदगण की अपेक्षा भी श्रीप्रह्लाद के उत्कर्ष का वर्णन किया, उसका कारण यह है कि भक्त जिस प्रकार श्रीभगवान् के लिए सर्वस्व त्याग करते हैं, श्रीभगवान् भी भक्त को उसी रूप में आत्मदान करते हैं। अर्थात् भक्त के प्रेम को बढ़ाने के लिए पार्षदगण से भी अधिकतर अपने सौन्दर्य माधुर्यरस का आस्वादन कराकर भक्त को आत्मदान करते हैं, इस नियम के अनुसार ही आधुनिक भक्त श्रीप्रह्लाद का उत्कर्ष है। और भी एक विशेष बात है कि यद्यपि श्रीब्रजगोपीगण ही कृष्णकृपापात्र की चरम सीमा पर अवस्थित हैं, तथापि इन्द्र ब्रह्मा को, ब्रह्मा महादेव को एवं महादेव श्रीप्रह्लाद को ही विश्व के श्रेष्ठ भक्त बतला रहे हैं और इसके बाद भी प्रत्येक ने अपने से श्रेष्ठ भक्त को ही सर्वश्रेष्ठ कहकर प्रतिपादन किया है, उसका कारण यह है कि अपने के समवासन अर्थात् समजातीय भक्ति वासना युक्त एवं अपने से अपेक्षाकृत श्रेष्ठ भक्त की महिमा ही बुद्धि के गोचर होना स्वाभाविक है। अपने असमवासन अर्थात् भिन्न जातीय भक्तिवासना युक्त भक्त श्रेष्ठ होते हुए भी उनका श्रेष्ठत्व विचार बोध के बहिर्भूत होने के कारण अपने से अपेक्षाकृत श्रेष्ठ (समजातीय) भक्त को ही सर्वश्रेष्ठ कहकर कीर्तन कर रहे हैं।]

चतुर्थ अध्याय (भक्त)

श्रीपरीक्षित ने कहा — मातः! श्रीनारद श्रीमन् महादेव की बात सुनकर आश्चर्य चकित होकर प्रह्लाद के दर्शन की इच्छा से शीघ्र ही सुतल की ओर चले। वैष्णवाग्रणी श्रीप्रह्लाद उस समय निर्जन में भगवत् चरणारविन्द के ध्यान में निमग्न थे। उनके ध्यान नेत्रों से ही श्रीनारद के आगमन को जानकर उठकर, मुनिवर की ओर जाते जाते ही श्रीनारद द्रुतगति से उनके पास उपस्थित हो गये, तब श्रीप्रह्लाद ने उन्हें प्रणाम किया। श्रीप्रह्लाद पूर्ववत् पूजा की समस्त सामग्री द्वारा मुनिवर की अर्चना करने के लिए तैयार होते ही आदर पूर्वक मुनि उसे छोड़कर अश्रुधारा बहाते हुए पुनः पुनः श्रीप्रह्लाद को आलिङ्गन करने लगे।

श्रीनारद ने कहा— वत्स! तुम्हीं श्रीकृष्ण के परम कृपापात्र हो, आज तुम्हारे दर्शन से मेरा समस्त श्रम सार्थक हो गया अर्थात् मैं प्रयाग से कृष्णकृपापात्र खोजते-खोजते सुतल पर्यन्त आ गया हूँ, मेरा यह भ्रमण श्रम सफल हुआ। हे वत्स! तुम्हारे पिता ने जो तुम्हारे प्रति निदारुण विघ्नस्वरूप अनेक उपद्रवों का विधान किया था, तुमने भक्ति के प्रभाव से उन सभी को जय कर लिया था। तुम्हारे प्रभाव से तामस प्रकृति असुर बालकगण भी परम

भागवत हो गये हैं। भगवान् नृसिंहदेव के स्वभक्त द्रोह जनित महाक्रोध से समस्त ब्रह्माण्ड को ध्वंस करने के लिए उद्यत होते ही, अत्यन्त भयभीत होकर देवगणों के द्वारा प्रार्थना करने पर और तुम्हारे प्रभु के चरणों में गिरते ही उन्होंने स्वयं तुम्हें उठाकर तुम्हारे सर्वांग को चाटा था। हे परम भागवत! श्रीभगवान् के तुम्हें परमपद देने की इच्छा करने पर भी तुमने उसे त्याग दिया है, किन्तु अपने प्रभु की प्रीति कामना से राज्य स्वीकार कर लिया है। भक्त के हृदयकमल कोष में निहित प्रेममधु में ही भगवान् भ्रमर की सन्तुष्टि है, तभी तो श्रीभगवान् की इच्छा— किस प्रकार जगत् के सब प्राणी उनके चरणों में प्रेमलाभ कर सकेंगे, अतएव सकल लोक के उद्धार की कामना से तुमने जो राज्य स्वीकार किया वह भी भगवत्प्रीति कामना में ही समाप्त हुआ है। इसलिये यह राज्यादि स्वीकारना तुम्हारे परमार्थ के लिये हानिकर नहीं हो सकता है। हे भक्तप्रवर! तुमने जो भगवान् को जयकर लिया है उसके बारे में और क्या कहा जाय। तुम्हारे पौत्र बलिने भी तुम्हारे ही प्रसाद से श्रीभगवान् को वशीभूत करके उन्हें द्वारपाल बनाकर रखा है।

श्रीपरीक्षित् ने कहा— मातः! श्रीप्रह्लाद मुनिवर की बातों से लज्जित हो उन्हें नमस्कार कर कहने लगे— हे गुरो! बाल्यकाल में ज्ञान का ही विकास नहीं होता है, कृष्णभक्ति का ज्ञान किस प्रकार प्रस्फुटित होगा? आपने जिन सब महागुण के विषय में कीर्तन किया, भक्तिनिष्ठ महापुरुषगण में यह समस्त गुण स्वाभाविक रूप से विद्यमान होते हैं, मेरे में यह सब गुण कहाँ हैं? मैंने विघ्नाकुल चित्त से केवल प्रभु को स्मरणमात्र किया था, ताकि मैं विघ्नाभिभूत न होऊँ, यह लक्षण देखकर भगवान् के विशेष अनुग्रह का अनुमान नहीं किया जा सकता है। जिसे श्रीकृष्ण का अनुग्रह कहते हैं, वह उनके सेवकगण में ही प्रकाशित होता है। अर्थात् भगवत्चरणों में विचित्र सेवा सौभाग्य लाभ ही भगवत्कृपा का सबसे अच्छा लक्षण है, किन्तु विघ्न से रक्षा या अनर्थ निवृत्ति श्रीकृष्ण के विशेष अनुग्रह का लक्षण नहीं है। यदि कहें— “श्रीनृसिंहदेव ने जो तुम्हारा लाड़ प्यार किया है, उसी को तुम्हारे प्रति उनकी अनुकम्पा का लक्षण कहा जायेगा” उसके उत्तर में कहता हूँ— इस लालनादि को मायावादिगण माया का कार्य ही कहते हैं अर्थात् परब्रह्म द्वारा इस प्रकार का कार्य किया जाना सम्भव नहीं है, ऐसा वे मन में विचार करते हैं और कोई कोई भक्त इसको प्रभु का लीला स्वभाव कहते हैं। अर्थात् अग्नि के सान्निध्य मात्र से ही जिस प्रकार शीत जाड़ा इत्यादि दूर हो जाता है, उसी प्रकार सर्वत्र साम्यस्वभाव

श्रीभगवान् का स्वाभाविक वात्सल्य या करुणा कोमल स्वभाव से ही संघटित होती है, इसलिए लालनादि को प्रकृत अनुग्रह नहीं कहा जा सकता हैं भक्तिपरायण महात्मागण कहते हैं, श्रीहनुमान इत्यादि प्रभु की जो विचित्र सेवा लाभ कर रहे हैं, उस प्रकार की सेवा सौभाग्य लाभ ही प्रभु का प्रकृत अनुग्रह है— किन्तु लालनादि विशेष अनुग्रह की श्रेणी में नहीं आते हैं।

हे भगवन्! श्रीमन् नृसिंहदेव ने जो सब लीला की वह स्वभक्त देवगण की रक्षा, अपने दो अभिशप्त पार्षदों (जय और विजय) के उद्धार एवं ब्रह्मा इत्यादि अपने पुत्रों के वचनों की सत्यता सिद्ध करने के लिए ही की, न कि मेरे प्रति अनुग्रह के लिए की है। हे गुरो! यदि मेरे प्रति उनकी कृपा लेशमात्र भी होती तो क्या वे मुझे राज्य देकर वंचना करते? प्रभु की उस श्रीमुखवाणी को एकबार स्मरण करके देखिये, “मैं जिस पर अनुग्रह करने की इच्छा करता हूँ उसको सम्पत्ति से अलग कर देता हूँ।” इसलिए मुझे राज्य देना ही प्रभु की अकृपा के कारण बन्धु भृत्यादि के सम्पर्कवश मेरा भगवत्भजन भी समाप्त हो रहा है। उनके एकान्त भक्त की बुद्धि कभी भी विषय सुख से आकर्षित नहीं होती है, यह भी उनके श्रीमुख की ही वाणी है, इसलिए मेरी राज्यादि विषयासक्ति, क्या एकान्तिक भक्ति निष्ठा की चरम रुकावट नहीं है?

(इस स्थान पर यह जानना चाहिए कि, प्रकृतपक्ष से भक्त की बुद्धि कभी भी विषय सुख में आसक्त नहीं होती है, अतएव प्रह्लाद की यह उक्ति उनके स्वाभाविक दैन्य से ही उत्पन्न समझी जायेगी। भक्ति या भजन की परिपाक अवस्था में ही भक्त के हृदय में क्रमशः इस दीनता का उदय होता है। भक्त सर्वदा ही अपना दोषानुसन्धान करता है और दूसरों के थोड़े से गुण को भी बहुत बड़ा गुण मानता है। भक्ति स्वभाव से ही मधुर कोमल स्वभावा, दैन्य विनयादि महागुणावलि द्वारा निरन्तर परिसेवित होती है। सब प्रकार की योग्यता और उत्कर्ष के होने के बावजूद भी जिस भाव से अपने को सर्वापेक्षा अधम बुद्धि की अनुभूति होती है, उसी भाव का नाम दैन्य हैं वास्तव में श्रीभगवान् के आत्मसमर्पण यज्ञ में पूर्णाहुति का नाम ही दैन्य है।

कोई-कोई व्यक्ति दैन्य या दीनता कहने से दुर्बलता, भीरुता, कायरता का भाव ग्रहण करते हैं, इसलिए इस अर्थ में दैन्य को अत्यन्त हीनवृत्ति मानते हैं। इस प्रकार का दैन्य तमोगुण का धर्म है, इसलिए निन्दनीय है। लेकिन इस प्रकार का दैन्य भक्त में कभी भी नहीं होता है, भक्त के दैन्य की बात सुनकर साधारण दैन्य के रूप में ग्रहण करके अनेक लोग निन्दा या प्रतिवाद करते हैं

एवं शब्दसाम्य के कारण नितान्त भ्रम से पतित हो जाते हैं। किन्तु भक्त का दैन्य अत्यन्त विलक्षण होता है। प्रेमभक्ति से उत्पन्न या प्रेमभक्ति की परिपाक अवस्था से ही इस दैन्य का उदय होता है। जो परम विशुद्ध, पापरति हैं, वही स्वयं को दीनतम मानते हैं वैष्णव सम्प्रदाय में इस प्रकार के दृष्टान्तों का अभाव नहीं है पापी या अपराधी व्यक्ति कभी भी स्वयं को पापी या अपराधी स्वीकार नहीं करना चाहता है किन्तु निरपराध एवं पृथ्वी के अलंकार स्वरूप महात्मागण स्वयं को पृथ्वी का भार एवं कलंक स्वरूप मानते हैं, यह सभी गुणों में श्रेष्ठ भगवद् भक्ति के अचिन्त्य प्रभाव से ही सम्भव हो सकता है साधारण जीव के पक्ष में यह सुदुर्बोध्य है, इसलिए तमोगण से उत्पन्न दैन्य क्रमशः अन्धकार और प्रकाश अथवा काम और प्रेम के समान परस्पर विपरीत धर्मयुक्त है। वर्णसाम्य होते हुए भी वस्तुतः साधारण दैन्य काँच के टुकड़े के समान अतितुच्छ एवं भक्त के प्रेमभावित हृदय का दैन्य हरि के टुकड़े के समान मूल्यवान है। द्वितीय खण्ड में इस विषय की विस्तृत विवेचनाकी जायेगी। श्रीप्रह्लाद अपने स्वाभाविक भक्ति से उत्पन्न दैन्य या अयोग्यता बुद्धि के वश होकर ही श्रीनारद के पास स्वयं को विषयासक्त कह रहे हैं और श्रीहनुमान के सेवा सौभाग्य के विषय में कीर्तन कर रहे हैं— इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

श्रीप्रह्लाद ने श्रीनारद से कहा— हे प्रभो! असुर बालक गण के प्रति जो आपने उपदेश देने की बात कही, — वह आत्मतत्त्वोपदेश के विषय में असुरगण का दुष्पाण्डित्य मात्र ही है असुरगण के संग के प्रभाव से आज भी मेरा वह शुष्क ज्ञानांश नहीं गया है, इसलिए कर्म ज्ञानादि आवरण शून्या जिस शुद्धा भक्ति के अभाव में प्रभु की कृपा का लाभ किस प्रकार होगा? त्र फिर मेरी भक्ति के प्रभाव से प्रभु बलि के द्वारपाल रूप में अवस्थित नहीं है, सुतल में बलि के अपराध के कारण उसके द्वारपाल रूप में अवस्थित हैं। वह भी फिर हर समय वे किसी के दृष्टिगोचर नहीं है, कदाचित् कभी किसी ने बलि के द्वार पर प्रभु के दर्शन किये हों। जिसको जिस स्थान पर भगवत्प्राप्ति की तीव्र उत्कण्ठा होती है, उन्हें उसी स्थान पर भगवद् दर्शन का लाभ मिलता है, इस नीति के अनुसार ही किसी किसी को बलि के द्वार पर उनके दर्शन हुए हैं, अतएव इसमें मेरी भक्ति महिमा का कोई कारण नहीं देखा जा सकता है।

हे गुरो! मेरे दुर्भाग्य की और भी बहुत सी बातें कहने से आपको दुःख ही होगा, अतएव किंपुरुषवर्ष जाकर श्रीहनुमान की प्रति श्रीभगवान् की

करुणा का अवलोकन करिये। श्रीहनुमान नैष्ठिक ब्रह्मचारी एवं शास्त्रवेत्ता एवं महावीर कहे जाते हैं और वे श्रीरघुनाथ के प्रधान सेवक हैं। वे श्रीरामचन्द्र की सेवाकार्य के लिए अतल स्पर्श शतयोजन सागर को अनायास ही लाँघ गये थे, उन्होंने श्रीविभीषण की अभिलाषा पूर्ण की थी और विशाल राक्षस सेना का विनाश किया था। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर विशल्यकरणी नामक औषधि लाने में भी उन्हीं की प्रमुख भूमिका थी। उन्होंने श्रीरावण वध आदि की बात कहकर श्रीसीतादेवी के आनन्द की वृद्धि की और श्रीजानकी के कण्ठहार प्राप्त करने के छल से विशुद्ध प्रेम भक्ति रूप उत्तम प्रसाद ही लाभ किया था। हे प्रभो! “कपिपतिर्दास्ये” इत्यादि प्रसिद्ध शास्त्र प्रमाण के द्वारा उनकी महामहिमा की ही सुसिद्ध हो रही है। आप स्वयं उनकी महिमा से अवगत हैं, मैं और क्या कहूँगा ? आप किंपुरुषवर्ष जाकर श्रीहनुमान का दर्शन कर आनन्द का अनुभव करिये।

श्रीपरीक्षित ने कहा— मातः! मुनिवर प्रह्लाद के वचनों को सुनकर श्रीहनुमान के दर्शन करने के मन से शीघ्र ही किंपुरुषवर्ष की ओर चले और उन्होंने आकाश में रहते हुए ही देखा, श्रीहनुमान विचित्र वन्यवस्तुओं के द्वारा जैसे साक्षात् श्रीरामचन्द्र के पादपदमों की अर्चना में लगे हुए हैं। हनुमान उस कर्णरसायन श्रीरामचरित को कर्णद्वारा पान करते करते आनन्दाश्रु बहा रहे हैं, कभी-कभी विविध गद्यपद्यमय वाक्यों से प्रभु का स्तव करते करते साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर रहे हैं। उनके दर्शन से परमानन्दित हो श्रीनारद उच्च स्वर से बोलने लगे— हे रघुनाथ! जय श्रीजानकीकान्त! जय श्रीलक्ष्मणराज! श्रीहनुमान अपने इष्टदेव श्रीरामचन्द्र का नाम कीर्तन सुनकर परम हर्ष पूर्वक छलाँग लगाकर आकाश में उठ गये एवं श्रीनारद के कण्ठदेश का आलिंगन कर लिया। मुनिवर ने भी आकाश में रहते हुए ही परमानन्द से नृत्य करते करते श्रीहनुमान ने कुछ क्षणों के उपरान्त ही प्रकृतिस्थ कर दिया। श्रीहनुमान ने कुछ क्षणों के उपरान्त ही प्रकृतिस्थ हो श्रीनारद को प्रणाम किया और उनको भगवत मन्दिर में ले गये। श्रीनारद के मन्दिर में जाकर श्रीमूर्ति को प्रणाम करने पर श्रीहनुमान ने यत्न पूर्वक उनको आसन पर बिठाया।

श्रीनारद श्रीहनुमान की भक्ति महिमा का दर्शन कर अश्रु पुलकादि सात्त्विक विकारों से परिव्याप्त देह से बोले— हे कपीश्वर! सच तो यह है कि आप ही श्रीभगवान् के निरूपम कृपाभाजन हैं। अहो! आप विचित्र? भजनामृत के सागर स्वरूप हैं। आप सर्वभाव से आत्मसमर्पण पूर्वक प्रभु के परम

प्रसादभाजन हो रहे हैं। आप उनके दास, सखा, वाहन, आसन, ध्वज, छत्र, चामर-व्यजन, बन्दी, मन्त्री, चिकित्सक, सेनापति, श्रेष्ठ सहायक और महाकीर्ति विवर्धनकारी हैं। श्रीपरीक्षित ने कहा— मातः! श्रीनारद के वचन सुनकर श्रीरामचन्द्र के विशेषकृपारूप ईधन के संयोग से उनका विरहानल और प्रदीप्त हो उठा, वे उनके विरह से शोकाकुल होकर रोने लगे, बाद में श्रीनारद की करुणा से शोकावेग कुछ शान्त होते ही वे कहने लगे— हे मुनिवर! मैं अत्यन्त दीन, प्रभु के चरण-कमल से परित्यक्त हो गया हूँ, आप क्यों फिर मुझे उनका विरह-स्मरण कराके रुला रहे हैं? मैं यदि उनका सेवक होता, तो क्या वे मुझे सहसा त्याग कर पाते? आप मेरे प्रति स्नेहवश ही मुझे प्रभु का अनुग्रहभाजन कहकर अनुमान कर रहे हैं।

(इस स्थल पर यह जानने योग्य है कि, श्रीहनुमान श्रीरामचन्द्र के नित्य परिकर हैं, एवं साक्षात् सेवाधिकारी होते हुए भी साधन भक्ति के रसास्वादन के लिए और भगवत् प्रीति कामना से अर्च्चाविग्रह की सेवामहिमादि के प्रचार के उद्देश्य से किंपुरुषवर्ष में विग्रह सेवा में निरत हैं। साक्षात् श्रीभगवान् और उनके अर्च्चा विग्रह में कोई भेद नहीं है भक्तवत्सल भगवान् ही भक्त के प्रति करुणावश होकर मन्दिर-मन्दिर में श्रीविग्रहरूप में विराजमान हो रहे हैं। यहाँ तक कि किसी-किसी अंश में साक्षात् सेवा से भी विग्रह सेवा में श्रीभगवान् का अधिकतर सन्तोष या कृपा विशेष की बात सुनी जाती है। एक दृष्टान्त द्वारा विषय को समझने का प्रयत्न किया जा सकता है। स्त्री जब तक पति के सान्निध्य में रहती है, तब तक उसकी पतिभक्ति रहे या न रहे, वह पति की सेवा करने को बाध्य होती है। किन्तु पति के प्रवासगत होने पर भी जो पत्नी पति का चित्रपट आदि लेकर परम भक्तिपूर्वक पुष्प-माल्य-चन्दन से उसे सजाकर सेवा करके पति के विरह में प्राण रक्षा करती रहे, वह जो प्रकृत रूप से ही पति परायणा है इस विषय में सन्देह का अवकाश नहीं है, और प्रवासगत पति को जब पतिव्रता की इस प्रकार की सेवा का पता चले, तब साक्षात् सेवा से भी वह पतिव्रता की प्रीति में समाधिक वशीभूत हो जाता है। उसी प्रकार परम भगवत् भक्तगण भी भगवत् विरह में परम अनुराग पूर्वक उनके विग्रह की प्रीति सेवा करके श्रीभगवान् के परम अनुग्रह भाजन हो जाते हैं। वस्तुतः चिद्वस्तु के साथ जड़वस्तु का दृष्टान्त पूर्णरूप से नहीं हो सकता है। पतिव्रता पत्नी के पति का चित्रपट पति के देह का प्रतीक मात्र

है, किन्तु भगवद् विग्रह और श्रीभगवान् में कोई पार्थक्य नहीं है, श्रीभगवान् विग्रह और भगवान् में कोई पार्थक्य नहीं है, श्रीभगवान् ही मौन मुद्रा धारण कर भक्त के चिर आकांक्षित प्राणों की सेवा ग्रहण करके उसको कृतार्थ करने के उद्देश्य से प्रतिमा रूप में प्रकट हो रहे हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत में देखा जाता है कि श्रीगोपाल दक्षिण देशीय ब्राह्मण की भक्ति के वशीभूत होकर गवाही देने के छल से विग्रह रूप से ही पैरों से चलकर श्रीवृन्दावन से दक्षिण देश गये थे। श्रीवैष्णवाचार्य श्रीरूप सनातनादि की भक्ति के वशीभूत होकर विग्रह रूप से ही कथावार्ता आलाप भोजन आदि करते थे। यह सभी लोग भली भाँति जानते हैं, इसलिए “प्रतिमा नह तुमि साक्षात् ब्रजेन्द्रनन्दन” इस ज्ञान से ही विग्रह सेवा में सेवा की सार्थकता है।)

श्रीहनुमान ने नारद से कहा— हे मुने! आजकल श्रीभगवान् मथुरा में अवतार लेकर पाण्डवगण के प्रति परम अनुग्रह विस्तार कर रहे हैं, उनके प्रति श्रीभगवान् का अनुग्रह सुमेरु के समान और मेरे प्रति अनुग्रह एक धूलिकण के समान भी नहीं है, बाल्यपन से पाण्डवगण के धैर्य, धर्म, यश, ज्ञान, प्रेमभक्ति की इस जगत् में घोषणा करने के मन से श्रीभगवान् ने विष दानादि बहुत सी विपत्तियाँ उनके पास प्रेरित की हैं, अन्यथा विपद्वारण श्रीभगवान् जिनके श्रेष्ठतम सहायक हों, उनके पास क्या आपद-विपद आ सकती है? इसलिए पाण्डवगण की विपदादि सभी भगवत् प्रदत्त हैं। पाण्डवगण की भक्ति के वशीभूत होकर श्रीभगवान् ने उनके सारथ्य, मन्त्रित्व, दौत्य, अनुगमन, स्तव, नमस्कारादि कार्य भी किये हैं। इस रूप में प्रभु के प्रति पाण्डवगण की सेवा, सख्य और प्रियत्व भी समभाव से प्रकाशित होता है। हे मुने! विचार करके देखिये, प्रीति एक अनावृत विपुल आनन्द की ही कामना करती है, आदर संकोच आने से प्रीति संकुचित हो जाती है। प्रीति सर्वदा ही निःसंकोच को हृदय में रखना चाहती है। पाण्डवगण और श्रीकृष्ण का परस्पर यह सख्यभाव सतत वर्तमान रहते हुए किसी के प्रति किसी की प्रीति संकुचित नहीं हो पाती है और प्रियता के सहित सेवा सम्पादित होती रहती है। इस प्रकार की प्रीतिमय सेवा मेरे जैसे व्यक्तियों की बुद्धि से भी अगोचर है। फिर प्रभु के बराबर अवस्थान के लिए पाण्डवों की राजधानी महर्षिगण के तपोवन रूप में प्रकाशित हो रही है, अर्थात् जो भगवत्प्राप्ति समस्त तपस्या का चरणफल है, सतत उस भगवत्साक्षात्कार हेतु इस समय पाण्डवों का हस्तिनापुर ही जैसे तपस्या के सिद्धि क्षेत्र के रूप में परिणत हो रहा है।

हे मुने! पाण्डवगण निश्चय ही कोई मन्त्रौषधि जानते हैं, जिसके प्रभाव से परम मोहन श्रीभगवान् को भी वश में कर रखा है। (श्रीहनुमान की इस बात का तात्पर्य यह है कि जो श्रीभगवान् प्रेमपराधीन हैं, अर्थात् प्रेम द्वारा नियन्त्रित हैं इसलिए प्रेम को छोड़ अन्य किसी मन्त्रौषधि से श्रीभगवान् को मोहित करना सम्भव नहीं है, अतएव महामोहन श्रीभगवान् की इस प्रकार की वश्यता ही पाण्डवों के प्रेम का एक ज्वलन्त उदाहरण है।)

परीक्षित् ने कहा— मातः! यह बात कहकर श्रीहनुमान परमानन्द पूर्वक श्रीनारद के साथ बार-बार नृत्य करने लगे। बाद में कुछ प्रकृतिस्थ होने पर श्रीहनुमान ने नारद ने कहा— हे देवर्षे! आप शीघ्र ही पाण्डवगण के घर जाकर उनके घर में विराजमान नराकृति परब्रह्म का और उनके सेवक पाण्डव गण का दर्शन लाभ कर अपना उद्देश्य सफल करिये। किन्तु “मैं नैष्ठिक ब्रह्मचारी, पाण्डवगण गृही और साम्राज्य व्यापार में लिप्त” इस प्रकार की विवेचना करके अपने को अपराधी मत करना, कारण पाण्डवगण वास्तव में निष्किंचन और सभी विषय भोगों से निस्पृह हैं, इसलिए वे परमहंस आचार्यगण के भी पूज्यनीय हैं। श्रीयुधिष्ठिर की साम्राज्य या राजसूयादि यज्ञ के अनुष्ठान में जो प्रवृत्ति है, वह भगवत्प्रीति कामना में ही पर्यवसित है, अपने सुख के लिये नहीं है। अर्थात् साम्राज्य स्वीकार करने से सर्वत्र भगवद्भक्ति प्रवर्तन द्वारा समस्त लोक का परमहित होगा एवं उससे श्रीभगवान् का भी सन्तोष साधन हो जायेगा। इस उद्देश्य से ही उनका साम्राज्य स्वीकारना और यज्ञादि के छल से सदा ही कृष्ण को अपने पास में रखना और श्रीकृष्ण का भी अपने प्रियजनों के साथ रहकर उनके यज्ञादि कार्य में सहायता करके आनन्द पाना सम्भव हो सका। राजसूयादि यज्ञ के अनुष्ठान का यही प्रयोजन था। वास्तव में पाण्डवगण की त्रिभुवन व्यापी यशोराशि देवगणों के लिए स्पृहनीय होते हुए भी, कृष्ण प्रेमानल में दह्यमान श्रीयुधिष्ठिरादि भी राज्यादि में या उसी प्रकार अन्य यशोराशि में कोई प्रीति नहीं रखते थे, जिस प्रकार जठरानल से पीड़ित व्यक्ति को अन्न भोजन को छोड़कर माला वन्दन आदि कोई सुख या प्रीति प्रदान नहीं कर सकते हैं।

(श्रीहनुमान की इस बात का तात्पर्य यह है कि जठरानल से पीड़ित व्यक्ति जिस प्रकार अन्न भोजन को छोड़ अन्य किसी से भी शान्ति नहीं प्राप्त करता है, उसी प्रकार प्रेमिक भक्तगण भी कृष्ण को छोड़ अन्य किसी वस्तु

से शान्ति नहीं पाते हैं। श्रीभगवान् के नाम, रूप, गुण, लीला के माधुर्य आस्वादन के फलस्वरूप साधक का चित्त क्रमशः विषयों से निःस्पृह होकर कृष्णनिष्ठ हो जाता है। भजन के परिपाक होने पर क्रमशः चित्त जब कृष्णस्पृहा छोड़ अन्य स्पृहा शून्य हो जाता है, तभी वास्तव में निष्किकचन पदवी प्राप्त होती है।

इसलिए ही भक्तिशास्त्र में देखा जाता है कि कृष्ण को छोड़ अन्य विषयों में इन्द्रियों की जो अरोचकता है वही वास्तव में वैराग्य है। प्रेम का आविर्भाव होने पर चित्त की ममता देह-गेहादि विषयों में शून्य होकर एकमात्र श्रीकृष्ण के बारे में ही केन्द्रीभूत हो जाती है।)

श्रीहनुमान ने कहा— हे मुने! और विषय की बात ही क्या, रमणी ललामभूता श्रीद्रौपदीदेवी, सकल गुणों से अलंकृत भ्रातृवर्ग भीमार्जुनादि भी देह-सम्बन्ध के कारण युधिष्ठिर के प्रिय नहीं हैं, परन्तु श्रीकृष्ण के पदकमल के प्रेम सम्बन्ध के कारण ही उनके प्रिय हैं।

हे भगवन्! मैं वानर हूँ, पाण्डवगण की महिमा कैसे जान सकता हूँ, और फिर वर्णन करने की शक्ति कहाँ से धारण करूँ? उनकी महिमा मुझ से अधिक आप जानते हैं, इसलिए हस्तिनापुर जाकर उनके दर्शन कर परमानन्द लाभ करिये।

पञ्चम अध्याय (प्रिय)

श्रीपरीक्षित बोले— हे मातः! श्रीहनुमान की बात सुनकर श्रीनारद परमानन्द पूर्वक नृत्य करते हुए हस्तिनापुर की ओर चले एवं तेजी से राजा युधिष्ठिर के राजभवन में प्रवेश कर गए। उस समय महाराज युधिष्ठिर अपने आत्मीय स्वजनों के साथ मन्त्रणा कर रहे थे कि किस प्रकार की विपत्ति या यज्ञ का बहाना बनाकर श्रीकृष्ण को द्वारका से बुलाकर उनका दर्शन किया जाये। इस अवसर पर श्रीनारद के वहाँ पहुँचने पर धर्मराज ने परमादर पूर्वक दौड़कर देवर्षि को प्रणाम किया और सभा के मध्य में लाकर उन्हें उत्तम आसन पर विराजमान कराया। इसके बाद श्रीयुधिष्ठिर श्रीनारद की अर्चना के लिए जो सब पूजा की सामग्री लाये थे, श्रीनारद उसी द्रव्य सामग्री से स्वयं श्रीयुधिष्ठिरादि की पूजा करने लगे एवं श्रीहनुमान ने पाण्डवगण के प्रति

श्रीकृष्ण के जिस प्रकार के कृपावैभव का वर्णन किया था, देवर्षि वीणागीत द्वारा मधुर स्वर से बार बार वही गान करने लगे।

श्रीनारद ने कहा— हे धर्मराज! इस नरलोक में आप लोग ही महाभागवान् हैं, इसी कारण श्रीकृष्ण आप लोगों के प्रिय, इष्ट, देवता, गुरु, मातुलेय, दूत, सारथि, सुहृद् यहाँ तक कि आज्ञाधीन सेवक भी हो गये हैं। जो ब्रह्मा रुद्रादि देवगणों की समाधि में भी दुर्लभ है, जो निखिल वेदशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय हैं, श्रीनृसिंह, श्रीवामन, श्रीरामचन्द्र जिनके अंशरूप हैं, अन्यान्य अवतार जिनके अंशलेश या कलामात्र हैं, सर्वज्ञ श्रीगर्गाचार्य ने किसी एक निर्जन स्थान पर जिन्हें प्रकाशित किया है, अर्थात् श्रीकृष्ण की तुलना केवल उस भगवान् श्रीनारायण से ही कुछ कुछ हो सकता है— पूर्णरूप से नहीं, इस भाव से श्रीगर्ग ने श्रीकृष्णकीस्वयं भगवत्ता स्थापन की है। आत्मारामता, मुक्ति, भक्ति, वैष्णवसंगादि द्वारा मेरे समान मुनिगण जिनके प्रसाद की प्रार्थना मात्र करते हैं, किन्तु उन्हें वह लभ्य नहीं है, इस प्रकार के स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण बिना किसी साधन के आपके प्रति प्रसन्न है और पूर्णरूप से आपके वशीभूत हो गये हैं।

[इस स्थल पर श्रीनारद की उक्ति का यह मर्म है कि अद्वयज्ञानतत्त्व श्रीनन्दनन्दन की स्वयं भगवत्ता श्रीमद्भागवतादि शास्त्रों में व्यक्त हो रही है। किसी अक्षय सरोवर से जिस प्रकार असंख्य निर्झरिणी प्रवाहित होती है; उसीप्रकार जिस पूर्णतम परतत्त्व से असंख्य अवतार आते हैं, उसको “स्वयं भगवान्” कहते हैं। श्रीमद्भागवत में “एते चांशकलापुंस कृष्णस्तु भगवान् स्वयं” इस सूतवाणीसे श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता स्थापित हो रही है। आचार्यपादगण के मत से यह श्लोक श्रीमद्भागवत के मौलिक तत्त्व की “परिभाषा” है। अर्थात् जो भाषा या लक्षण समग्रशास्त्र के ऊपर अपना प्रभाव विस्तार करके लक्ष्य वस्तु को समझा दे उसे ही शास्त्र में “परिभाषा” कहते हैं। परिभाषा शास्त्र में मात्र एक बार ही पढ़ी जाती है, आवृत्ति नहीं होती है। “कृष्णस्तु भगवान् स्वयं” यह श्लोक भी श्रीमद्भागवत में मात्र एक बार ही पढ़ा गया है महाराज चक्रवर्ती के समान इस वाक्य को स्वाधीन विजय पताका भागवत में अन्य सभी वाक्यों के मस्तक के ऊपर गौरव से फहरा रही है। गोस्वामिपादगण के मत से यह भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास कीप्रतिज्ञा वाणीहै। श्रीधरस्वामिपाद इत्यादि महानुभाव आचार्यगण इस श्लोक का अवलम्बन करके श्रीकृष्ण तत्त्व को सर्वश्रेष्ठ परमतत्त्व कहकर स्वीकार करते हैं। इस श्लोक का तात्पर्य क्या है, और श्रीमद्भागवत में इस प्रकार के शब्द का सन्निवेश क्यों हुआ, यह समस्त विषय अच्छी प्रकार समझने के लिए हमें श्रीमद् जीवगोस्वामिपाद की विचारधारा के साथ थोड़ा परिचित होना होगा अर्थात् श्रीमद्भागवत के मनोरम भाष्य उनके श्रीभागवत सन्दर्भ का आश्रय ग्रहण करना होगा।

तत्त्वसन्दर्भ में श्रीपाद ने कहा है— “ब्रह्म जिनकी अंगकांति या सामान्यप्रकाश है, परमात्मा जिसका अंशविभव और वैकुण्ठपति श्रीनारायण जिसका विलास हैं, वही स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपने भजनकारी को प्रेमदान करें।” उन्होंने श्रीकृष्णसन्दर्भ में “एते चांशकला पुंस कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्” इस परिभाषा वाले श्लोक की विस्तृत व्याख्या से विभिन्न युक्ति और तर्क द्वारा श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता प्रतिपादित की है। इस स्थल पर स्थानाभाव है, इसलिए जो इस विषय को विस्तृत रूप से जानना चाहें, वे उनके श्रीकृष्णसन्दर्भ ग्रन्थ में इसे देख सकते हैं। अंश और अंशी के हिसाब से श्रीनृसिंह श्रीराघवेन्द्र इत्यादि अन्यान्य अवतारों से जिस प्रकार स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का वैशिष्ट्य है, उसी प्रकार अन्यान्य अवतारों के धाम, परिकर, सेवादि से श्रीकृष्ण के धाम, परिकरादि का भी वैशिष्ट्य रहता है, और उसी के अनुरूप अन्यअवतारों की कृपावश्यता की अपेक्षा श्रीकृष्ण कृपावश्यता का भी भेद रहता है। इसी कारण श्रीनारद ने श्रीनृसिंह और श्रीराघवेन्द्र के उपासक श्रीप्रह्लाद और श्रीहनुमान के प्रति भगवत्कृपा या वश्यता से श्रीपाण्डवगण के प्रति श्रीकृष्ण की कृपावश्यता की समधिक प्रशंसा की है।]

श्रीनारद ने श्रीयुधिष्ठिर से कहा— हे राजन्! श्रीनृसिंह, श्रीराघवेन्द्रादि अवतार में भगवान् ने हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण और कुम्भकर्ण का वध करके भी मुक्ति प्रदान नहीं की, अतएव मुक्ति ही जब प्रदान नहीं की, तब विशुद्ध प्रेमलक्षणा भक्ति जो किसी को भी प्रदान नहीं की, यह कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं है केवल श्रीनृसिंहावतार में श्रीप्रह्लाद को ज्ञानमिश्रा भक्ति प्रदान की है। (प्रह्लाद की भक्ति जो ज्ञानमिश्रा, यह पहले प्रह्लाद की उक्ति से भी जाना गया है। प्रह्लाद से श्रीहनुमानादि की उत्तरोत्तर भक्ति का शुद्धत्व समझना चाहिए। इस शुद्धा भक्ति या निर्गुणा भक्ति का चरमतम विकास श्रीवृन्दावन में श्रीगोपिकागण के महाश्चर्यमय श्रीगोविन्दपदारविन्द की सेवा में देखा जाता है, वह क्रमशः वर्णित होगा) श्रीरामावतार में श्रीहनुमान, जाम्बवान सुग्रीव, विभीषण, गुहक, दशरथ इत्यादि कई महानुभावों को शुद्धाभक्ति प्राप्ति हुई थी, यह सही है, किन्तु गौरव सम्मानहीन सद्बन्धुवत् प्रीति या शुद्धप्रेम की तो बात भी तत्काल सुनी नहीं जाती है। आजकल के समय में आपके ममेरे भाई श्रीकृष्ण ने अपने हाथ से या अर्जुनादि के द्वारा मारे गये सभी अनुसरण को ही मुक्ति प्रदान करदी है एवं बहुत से लोगों को

शुद्धाभक्ति या प्रेममय से सम्पूरित कर दिया है। मनुष्यादि जंगम जाति की बात तो दूर, तमोयोनिगत तरुलतादि स्थावर सभी श्रीकृष्णकृपा से शुद्धसात्त्विक भाव प्राप्त होकर प्रेमरसधारा की वर्षा कर रहे हैं।

हे कृष्णभ्रातृगण! जो कभी भी वैकुण्ठेश्वर श्रीनारायण में भी प्रकटित नहीं है, उस प्रकार की श्रीकृष्ण के रूप सौन्दर्य लावण्यादि को माधुरी का क्या वर्णन करूँ, वह सब कुछ अपूर्व है। उनकी लीला गुणग्राम, प्रेम महिमा एवं केलि भूमि भी उसी प्रकार अपूर्व है। हे राजन्! श्रीकृष्ण का रूप लीलादि प्रपञ्चातीत श्रीगोलोक में नित्य विद्यमान होते हुए भी यदि वे अपनेधाम पार्षद आदि के साथ इस भूमण्डल पर अवतीर्ण न होते, तो यह अपूर्व रूप लीलाआदि की माधुरी किसी दिन भी जगत जीव के अनुभव का विषय न हो पाती। इस विश्व में उनका रूप लीलादि अपूर्व ही था, किन्तु इस समय उनकी कृपा से विश्व में प्रकट होकर सभी के अनुभव का विषय हो गया है। आधुनिक युग में उनका भक्तवात्सल्यादि गुण एवं अधिकतर माधुरौ सब प्रकार से पराकाष्ठा प्राप्त होकर उनकी स्वयं भगवत्ता भी सर्वत्र सब प्रकार से परिस्फुट हो गई है।

इसके बाद अत्यन्त विस्मय से श्रीनारद ने श्रीयुधिष्ठिर से कहा— हे राजन्! श्रीकृष्ण की कृपा की बात तो दूर ही रहने दो, उनका निग्रह भी परम प्रशंसनीय है। रुधिराशना राक्षसी पूतना ने उनके प्राणनाश करने के अभिप्राय से विषस्तन पान कराकर, उनके पास से माता के समान गति प्राप्त की थी। महाविषधर कालिय को उनके श्रीअंग पर दंशनादि द्वारा शत्रुता करने पर भी अपने मस्तक पर योगीन्द्र मुनीन्द्र को दुर्लभ उनके श्रीचरण का नर्तन रूप प्रसाद प्राप्त हुआ था। कंसासुर को जीवन काल में ही उनका तन्मयतारूप योगिजन दुर्लभ भाव प्राप्त हो गया था और मृत्यु के समय वह श्रीकृष्ण के पादपद्म स्पर्शलाभ और साक्षात् उनके मुखचन्द्र का दर्शन करते-करते देह त्याग कर परमगति प्राप्त कर लिए थे।

श्रीपरीक्षित् ने कहा— मातः! मुनिवर यह बात कहकर सहसा चमक उठे एवं माधव कीर्ति लम्पट अपनी जिह्वा को दाँत द्वारा दंशन करके कहने लगे— ‘अरे रसने! फिर तुम माधव की कीर्ति वर्णन करने में प्रवृत्त हो गई? आज यदि तुम उनके प्रिय भक्त पाण्डवगण की महिमा कीर्तन कर सको तभी तुम्हारे महाभाग्य का बोध होगा।’ इसके बाद पाण्डवगण के प्रति कहा— हे महानुभावगण! श्रीकृष्ण के प्रति आप में से प्रत्येक का जिस प्रकार का प्रेम

देखा जाता है, श्रीकृष्ण की भी कृपा उसी प्रकार आप सबके प्रति देखी जाती है। यादव जीवन श्रीकृष्ण बहुत समय तक आपके घर रहने के बाद जब द्वारका जाने के लिए तैयार हुए, तो आपकी माता कुन्ती ने विनयपूर्ण स्तुति द्वारा उनको जाने से रोका और अपने घर में रखा था, महाराज युधिष्ठिर को जिन्होंने इस लोक और परलोक का महान् यश और जरासन्धादि वध के द्वारा भीमसेन को अपनी अतुलनीय कीर्ति प्रदान की थी। नकुल, सहदेव भी श्रीकृष्ण के जिस प्रकार के प्रीतिभाजन थे, वह राजसूय यज्ञ में अग्रपूजा दान के समय सभी ने प्रत्यक्ष देखा था। द्रौपदी को जो “प्रियसखी” कहकर सम्बोधन करते हैं और दुर्वासा, दुःशासन के भय से मोचन करके समस्त शोक नाश किया है। हे राजन्! विदुर भीष्मदेवादि आपका पक्षपात करते हैं, इसलिए श्रीभगवान् ने विदुर का अन्न आस्वादन और भीष्म के निर्वाण महोत्सव का सम्पादन किया है। कौरव सभा में जिन्होंने स्पष्टभाव से सबके सामने कहा है, “जो पाण्डवगण के शत्रु हैं, वे मेरे भी शत्रु हैं, कारण यह है कि पाण्डवगण मुझे प्राणसम प्रिय हैं।” इसलिए हे राजन्! आपके गुणों का वर्णन करते जाना मेरी धृष्टता को छोड़ अन्य कुछ भी नहीं है। आप लोगों की गुणराशि एकमात्र श्रीकृष्ण ही जानते हैं, एवं वही वर्णन करने में भी समर्थ हैं।

परीक्षित् ने कहा— मातः! युधिष्ठिर श्रीनारद की बात सुनकर नारद के द्वारा कहे गये महात्म्य विशेष को उपहास के तुल्य मानकर लज्जा से सिर नीचा कर दीर्घनिःश्वास छोड़ते-छोड़ते बोले— हे वाग्मिशिरोमणे! मैं बार बार विचार करके भी अपने प्रति श्रीकृष्ण की किसी कृपा को नहीं समझ पाया हूँ। (इस स्थल पर यह जानना चाहिए कि वस्तुतः अतृप्ति ही भक्ति का स्वभाव है। साधक जितना ही भक्ति साधना के उच्च स्तर की ओर उठते हैं, उतना ही स्वयं को भक्ति सम्पर्क शून्य मानने लगते हैं। प्रेम के स्तर पर यह अतृप्ति घनीभूत होकर भक्त हृदय में गम्भीर हाहाकार जगाती है। साधक निरन्तर भगवत्कृपा से सिंचित होते हुए भी तृप्ति लाभ नहीं करते हैं। श्रीभगवान् भी उसी प्रकार भक्त को निविड़ करुणा से घेर कर बाँधने के बाद भी तृप्ति बोध नहीं कर पाते हैं, यही श्रीभगवान् भक्त और भक्ति साधना का निगूढ़ रहस्य है।) श्रीयुधिष्ठिर ने कहा— हे मुने! मेरे विपद्समूह का दर्शन कर साधारण का श्रीकृष्ण भजन में प्रवृत्ति या “भगवद्भक्त का कभी अशुभ नहीं

हो सकता।” इत्यादि शास्त्र वाक्यों में विश्वास का हास ही होगा। हाल में ही श्रीकृष्ण द्वारा मेरे विपक्षीगण का वध करके मुझे जो राज्य प्रदान किया गया है, उससे पूर्वापेक्षा हमें शोक ही मिला है। इस राज्य लाभ के लिए ही भीष्म द्रोणादि गुरुवर्ग, अभिमन्यु आदि पुत्रगण एवं दूसरे अच्छे राजा वर्ग मृत्यु को प्राप्त हो गये हैं। अब उनके विच्छेद के कारण मैं क्षणकाल भी सुख लाभ नहीं कर पा रहा हूँ। हे मुने! विष्णुभक्त की विच्छेद ज्वाला कितनी दुःखप्रदायी है, यह आप अच्छी तरह जानते हैं। फिर श्रीकृष्ण के मुखकमल दर्शन का सुख भी बहुत समय हुए तिरोहित हो गया है। अब वे द्वारका में रहते हुए अपने परम बान्धव प्रियतम यादवगण के साथ रहकर उन्हें सुखी कर रहे हैं। आप जो उन्हें कभीकभी मेरा दौत्य या सारथ्य करते देखते हैं, उसे आप पृथ्वी का भार हरण औरधर्म संस्थापना के लिए ही समझिये।

श्रीपरीक्षित ने कहा— मातः! इसके बाद श्रीकृष्ण के परम सुहृद् श्रीभीमसेन ने कहा— हे मुने! आपने इतनी अच्छी वाक्चातुरी क्या उस धूर्त्तशिरोमणि से ही सीखी है? देखिये, श्रीकृष्ण की लीला अति दुर्बोध है; उनका वाक्नैपुण्य व्यवहार पटुता कहाँ प्रकाशित नहीं हो रही है, मैं यह समस्त तत्त्व जानता हूँ इसलिए उनकी बात पर विश्वास नहीं कर पा रहा हूँ।

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण ने प्रिय सखा अर्जुन ने शोकाकुल हृदय से कहा— हे भगवन्! आपके प्रियतम प्रभु श्रीकृष्ण ने मेरे प्रति जो कुछ कृपा प्रकाश लिया था, वह सब क्या हम लोगों हम लोगों के दुःख का कारण नहीं था? जिन्होंने कुरुक्षेत्र के युद्ध में बार-बार मेरे द्वारा मना करने के बाद भी हमारे लिए प्रतिपक्ष के मर्मभेदी अस्त्र प्रहारों को अपने श्रीअंग पर स्वीकार किया था, वह दुःख तीर के समान आज तक हमारे हृदय से नहीं गया है, मेरे सुख की सम्भावना कहाँ से है? जिस कार्य के लिए अपने प्रियजनों को दुःख हो, उसका अनुष्ठान क्या कभी प्रीति या कृपा का लक्षण हो सकता है?

श्रीनकुल-सहदेव ने कहा— हे भगवन्! श्रीकृष्णने हम सब की अग्रपूजा स्वीकार कर हम लोगों के प्रति कृपा-विस्तार की है, यह ठीक है, किन्तु अभी तक हम उनके द्वारा सभी प्रकार से वञ्चित हो रहे हैं। हमारे द्वारा अग्रपूजा स्वीकार करने के महोत्सव की बात तो दूर, इस समय उनके दर्शन भी मेरे लिए दुर्लभ हो गये हैं, इसलिए जीवन धारण की आशा का त्याग कर दिया है।

उनकी बात सुनकर श्रीद्रौपदीदेवी शोक से विह्वल होकर क्रन्दन करती-करती गद्गद स्वर से कहने लगी— हे भगवन्! मैंने किसी एक अभीष्ट फल लाभ की आशा से युद्ध में मारे गये स्वजनों के लिए दुःख प्रकाश नहीं किया, सब कुछ श्रीकृष्ण की इच्छा जानकर धैर्य धरण कर लिया था। आशा की थी कि श्रीकृष्ण सदैव की भाँति मेरे बगल में बैठकर युक्तिपूर्ण वचनों से मुझे आप्यायित करेंगे और बन्धुजनों के वियोग से मुझे सान्त्वना प्रदान करेंगे। किन्तु हाय! वह आशा पूर्ण होना तो दूर, वे अब पहले जैसे यहाँ आते ही नहीं हैं, इसलिए मैं अब श्रीकृष्ण की किस दया का बोध करूँ?

श्रीपरीक्षित् ने कहा— मातः! इसके बाद श्रीकृष्णदर्शन जीवना शोकार्त्ता कुन्तीदेवी सजल नयनों से कहने लगी— हे मुने! मेरे अपने अनाथ पुत्रगण के साथ, बार-बार विपद् सागर में पड़ते ही श्रीकृष्ण बार-बार मुझे विपद् सागर से उद्धार करते रहते थे, तभी तो मैं उनकी माता देवकी से भी अपने को अधिक भाग्यशाली मानती थी, किन्तु अब “निष्कण्टक राज्य प्रदान कर दिया है, अतः पाण्डवगण सुखपूर्वक वास कर रहे हैं” यही सोचकर हम सबको त्याग कर वे द्वारका में वास कर रहे हैं। इधर युद्ध में मृत बन्धुरमणीगणका निरन्तर हृदय विदारक रोदन और हा-हाकार सुनाई पड़ रहा है। हे मुने! उनके दर्शन को छोड़ शान्ति लाभ का और कोई उपाय नहीं है, इसलिए मैं सम्पत्ति की कामना का परित्याग कर उनके दर्शन प्राप्ति के हेतु विपद् समूह की ही प्रार्थना करती थी। किन्तु इस समय यादवगण के साथ उनके गाढ़ सम्बन्धों कीविवेचना करने से उनके यहाँ आने का आशासूत्र छिन्न हो गया लगता है, अतएव इस समय यदि मेरी शीघ्र मृत्यु हो जावे, तभी मैं उनका अनुग्रह मानूँगी। हे भगवन्! आप यदि कृष्णकृपापात्र का दर्शन करना चाहते हैं, तो उन यादवगण के पास ही जाइये वे श्रीकृष्ण के प्रियवर्ग के प्रधान हैं, इसलिए निरन्तर प्रमोद सागर में मग्न हैं। ओहो! आप तो उनकी महिमा अच्छी प्रकार से जानते हैं, इसलिए मैं और क्या कहूँ।

श्रीपरीक्षित् ने कहा— मातः! श्रीकुन्तीदेवी की बात सुनकर श्रीनारद अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक द्वारकापुरी की ओर चले और बार-बार दण्डवत् प्रणाम करते-करते पुरी में प्रवेश किया। उन्होंने दूर से ही देख लिया कि सौभाग्यवान् यादवगण सुधर्मा नामक सभा में यथाक्रम में सुखासीन हैं। वे स्वाभाविक सौन्दर्य, विविध भूषण एवं पारिजात पुष्प की मालादि से विभूषित होकर

शोभा पा रहे हैं। दिव्यातिदिव्यसंगीत और नृत्यादि के महोत्सवों से सभास्थल मुखरित एवं बन्दीगण विचित्र प्रकार के वाद्यों से उनकी स्तुति कर रहे हैं। वे परस्पर हास्यरस में निमग्न हैं, उनकी अंगकान्ति से सूर्यप्रभा भी धोखा खा रही है, किन्तु उस स्निग्ध कान्ति को माधुरी से किसी भी दर्शक को चक्षुपीड़ा न होकर आँखें शीतल हो रही है। वे सभी महाराज को घेरकर शोभा पा रहे हैं और आदर के साथ श्रीकृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

श्रीनारद का आगमन जान पाने पर वे आदर पूर्वक उनके स्वागत के लिये दौड़ पड़े और उनके दर्शन पाकर श्रीनारद के दण्डवत् होकर पृथ्वी पर गिरते ही उन्होंने हाथ पकड़ कर श्रीनारद को सभा के मध्य लाकर बैठने के लिए दिव्य आसन प्रदान किया। किन्तु श्रीनारद यादवगण प्रदत्त आसन पर न बैठकर स्वेच्छा से पृथ्वी पर ही उपविष्ट हो गये, तब उनको घेरकर सभी यादवगण भी पृथ्वी पर ही बैठ गये। यादवगण देवर्षि की अर्चना के लिये जो द्रव्य सामग्री लाये थे, श्रीनारद उस द्रव्य सामग्री को नमस्कार कर उठकर हाथ जोड़ते हुए विनीत भाव से कहने लगे—हे लोकातीत यादवगण! आप श्रीकृष्ण के विशेष अनुग्रह के पात्र हैं। इस समय आप लोग मेरे ऊपर इस प्रकार अनुग्रह का प्रकाश करे जिससे मैं जगत् में आपकी कीर्ति का निरन्तर गान कर सकूँ। आप लोग श्रीकृष्ण के दर्शन, स्पर्शन, सम्भाषण, उपवेशन, भोजन, शयन, विहारादि दूसरे दैहिक अटूट सम्बन्ध तथा अधिकतर प्रेम-सम्बन्धों द्वारा दृढरूप से आबद्ध हैं। इसलिए ही प्रभु वैकुण्ठ वास भूलकर हर समय विविध विलास द्वारा आप लोगों को नवीन-नवीन अनिर्वचनीय महा सुख प्रदान कर रहे हैं। हे महाराजाधिराज उग्रसेन! आप विश्व में विशेष रूप से श्रीकृष्ण के कृपास्पदरूप में प्रसिद्ध हैं। आपकी इस अद्भुत सौभाग्य महिमा का वर्णन कौन कर सकता है? आपके राज्य सिंहासन पर बैठने पर श्रीकृष्ण आपके सामने सेवक की भाँति अवस्थित होकर सम्बोधन पूर्वक बोलते हैं— “हे देव! मैं आपका भृत्य हूँ, कृपा करके मुझे यथायोग्य आदेश करें।” इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ और जिस किसी के भी साथ आपका सम्पर्क है उसे भी नमस्कार करता हूँ।

श्रीपरीक्षित् बोले— मातः! श्रीनारद के वचन सुनकर यादवगण उनके पादपद्म स्पर्श कर महामुनि को नमस्कार कर बोलने लगे— हे परमाराध्यपाद मुने! आप मेरे पूज्य श्रीकृष्ण के भी पूज्यनीय हैं, इसलिए किस कारण हम

महानीचों को बार-बार नमस्कार कर रहे हैं? हे मुने! आपने मेरी जो कुछ महिमा कीर्तन की— श्रीयादवेन्द्र के प्रभाव से वह असम्भव नहीं है; उनके साथ सम्बन्ध की गन्धमात्र से ही सभीसिद्ध हो सकते हैं, कारण यह है कि वे दया के सागर हैं और निरुपाधि सुहृत्तम हैं। किन्तु हे मुने! हम लोगों के बीच श्रीमान् उद्धव ही यादवेन्द्र के परम अनुग्रह भाजन हैं। वे उनके मन्त्री, शिष्य, भृत्य और परमप्रिय हैं। केवल श्रीउद्धव ही उनके पास रहकर सदा उनकी सेवा का सौभाग्य लाभ करते हैं। हे मुने! श्रीभगवान् उनको अपने गमनयोग्य स्थान पर प्रेरण करते रहते हैं, जिस प्रकार दुर्योधन की कन्या के हरण निमित्त जाम्बवती सुत साम्ब को भीष्म द्रोणादि कौरवों के द्वारा रोके जाने पर उसके निवारण के लिए श्रीभगवान् ने उद्धव को ही प्रेरित किया था। (“अपने गमन योग्य स्थान पर।” कहने से श्रीनन्दादि वृजवासिगण के आश्वासन से निमित्त एकमात्र उद्धव को ही प्रेरित किया था। अति रहस्यमय होने के कारण उसे प्रकाशित नहीं किया।) श्रीउद्धव प्रभु के भोजन, क्रीड़ा, कौतुक के समय भी पास ही रहते हैं एवं एकाकी रूप से नित्य प्रभु का उच्छिष्ट महाप्रसाद आस्वादन करते रहते हैं। वे श्रीकृष्ण-पदकमल को अपनेगोद में रखकर ही शयन करते रहते हैं। श्रीमाधव की पादपद्म सेवारस का अद्भुत रसिकतत्व एवं उनका महत्व एकमात्र श्रीउद्धव द्वारा ही विश्व में प्रकाश पा रहा है। अधिक क्या कहा जाय, वे इस देह से ही श्रीकृष्ण का सारूप्य पा रहे हैं अर्थात् स्वाभाविक गौरत्वादि को त्याग श्रीकृष्ण का वर्णसाम्य लाभ कर रहे हैं। वे प्रभु की प्रसादी माला, पीत वस्त्र, मणि-मकर कुण्डल और हार आदि के द्वारा विभूषित हो हमें सदा सुखी करते रहते हैं, अर्थात् उन्हें नेपथ्य से देखने पर प्रतीत होता है कि यही मेरे देवकीनन्दन हैं, इस प्रकार कृष्ण भ्रान्ति उत्पादन द्वारा वे हमारे हृदय में किसी अनिर्वचनीय आनन्द का विधान करते हैं।

देवर्षि नारद इस प्रकार उद्धव के महासौभाग्य की बात सुनकर विविध प्रेम विकारों से विभूषित होकर हर्ष पूर्वक श्रीउद्धव के घर जाने के लिए उठते होते ही श्रीयदुराज श्रीउग्रसेन ने कहा— हे भगवन्! मैंने पहले ही कहा है, श्रीउद्धव प्रभु के आदेश के बिना क्षण काल के लिए भी उनको त्याग कर अन्य स्थान पर अवस्थान नहीं करते हैं। इसलिए आप शीघ्र ही भगवान् के अन्तःपुर में जाकर उद्धव के दर्शन करिये और उसके साथ ही मेरा यह

निवेदन भी ज्ञापन करिए कि, आज प्रभु के सभा में आने का समय बीता जा रहा है, हम सभी उनके दर्शन की आशा में उत्कण्ठित हो रहे हैं, वे शीघ्र ही अपने प्रभु को लाकर और सभा में पधारकर सभा को सनाथ करें।

षष्ठ अध्याय (प्रियतम)

श्रीपरीक्षित ने कहा— मातः! श्रीउद्धव महात्म्य सुनकर श्रीनारद महाप्रेमरस में विह्वल हो गये, हाथ में वीणा रहते हुए भी उसको बजाने की सामर्थ्य नहीं रही। अन्तःपुर का मार्ग परम कौतुहलपूर्ण होते हुए भी पूर्वाभास वश प्रवेश तो कर गये, किन्तु तत्काल ही उन्हें भूताविष्ट या महाउन्माद ग्रस्त व्यक्ति के समान बोध हुआ। श्रीनारद कभी स्खलित, कभी भूतल पतित, कभी चेष्टा रहित होने लगे। फिर कभी लोटन, कभी आर्तवत् रोदन, कभी चीत्कार, कभी गान और नृत्य करने लगे और कभी एक साथ समस्त प्रेमविकार उदय होने लगे।

श्रीपरीक्षित ने कहा— मातः! अब श्रीभगवान् की किसी एक परम मोहन चेष्टा का वर्णन होगा, अतएव मुझे अस्थिर देखते ही धैर्य सम्पादन कराकर आप स्वयं धैर्यपूर्वक विषय को सुनिये। उस दिन किसी कारणवश श्रीमान् उद्धव अन्तःपुर में निद्रित प्रभु का पार्श्व त्याग कर पास में ही द्वार पर बेमन से बैठे हुए थे। उनके साथ श्रीबलदेव, श्रीदेवकी, श्रीरोहिणी, श्रीरुक्मिणी और सत्यभामा आदि महिषीगण एवं भगवत्वार्त्ता को बाहर प्रकाशित करने वाली कंसमाता पद्मावती और दूसरी सभी दासियाँ चुपचाप बैठी हुई थी। इसी अवसर पर श्रीनारद अपूर्व चेष्टा प्रकाशित करते हुए वहाँ पर आकर उपस्थित हुए और उन्हें देखकर वे सभी लोग विस्मित हो गये। उन्होंने यत्नपूर्वक श्रीनारद का स्वास्थ्य सम्पादन करके उनका अश्रुपूर्ण मुखमण्डल धोकर धीरे धीरे कहा— हे ब्रह्मन्! आज हम लोग आपकी यह कौन सी आकस्मित चेष्टा देख रहे हैं? यह प्रयास समूह इससे पहले कभी नहीं देखे गये हैं, थोड़ा स्थिर होकर बैठिये।

श्रीनारद ने आँसुओं से लगभग बन्द होती हुई दोनों आँखों को यत्नपूर्वक खोलकर नमस्कार किया एवं पुलकित देह से गद्गद स्वर में बोले— आप उन आकर्षक सौभाग्य भाजन श्रीउद्धव के साथ मेरा मिलन करा दीजिये,

आप मेरे ऊपर कृपा करिये जिससे मैं उनकी पदधूलि पा सकूँ, इससे ही मेरी अन्तरात्मा को शान्ति मिलेगी। श्रीनारद ने अत्यन्त विस्मय के साथ कहा— अहो! प्रभु के क्या पुराने और क्या नये सेवक उनमें से कोई भी प्रभु का जो अनुग्रह लाभ न कर सके, श्रीउद्धव को वही अनुग्रह पर्याप्त परिमाण में प्राप्त हो रहा है। श्रीभगवान् ने स्वयं 'त्वन्तुभागवतेष्वहं' इत्यादि वाक्य से इनको अपनी महाविभूति कहकर उल्लेख किया है। महानुभाव भगवद्भक्तगण के बीच यह महोत्तम हैं। अहो! और अधिक क्या कहूँ, पूर्ववर्ती ब्रह्मा आदि भगवान् के समस्त पुत्र, बलराम आदि भ्रातृगण, शिवादि, सुहृद्यगण, रमादि भार्यागण यहाँ तक कि अपनी असाधारण मूर्ति भी श्रीउद्धव से अधिक प्रिय नहीं है, यह बात उन्होंने अपने श्रीमुख से ही कही है। इसे छोड़कर श्रीउद्धव की सौभाग्य महिमा प्रकट करने वाले पुराणप्रथित श्रीभगवान् के जगद्विलक्षण श्रीमुखवाणी समूह का आज यादवगण मेरे पास कीर्तन कर रहे हैं। हाय! श्रीउद्धव केवल वे महामहिमा व्यंजक, वाणी समूह मेरे कर्णद्वार से मेरे हृदय में प्रवेश कर अकस्मात् मेरा धैर्यधन लूट रहे हैं।

श्रीनारद की सारी बात सुनकर श्रीउद्धव अत्यन्त आदर के साथ तेजी से उठे और उनके चरण युगल अपनी गोद में लेकर उन्हें आलिंगन करने लगे। उनके भगवत्कृपाभर पात्र निर्धारणरूप अप्रीभाय को जान श्रीभगवान् और उनके प्रसाद भाजन जनों की बात उनके स्मृति पटल पर उदित हो आई, तब वे उनकी प्रेम सम्पत्ति वैभव के स्मरण से नितान्त व्याकुल व विवश होकर दीनभाव से रोदन करने लगे। बाद में श्रीबलराम के प्रयास से धैर्य धारण कर प्रेम से उत्पन्न विभिन्न सात्त्विक विकारों से भूषित हो श्रीनारद के प्रति कहने लगे— हे मुने! आप सर्वज्ञ, सत्यवादी श्रेष्ठ एवं भगवद् भक्ति मार्ग के आदि गुरु हैं आपने मेरे प्रति श्रीभगवान् की जिस विशेष कृपाका वर्णन किया है, उससे भी अधिक कृपा मुझ में परिस्फुट रूप में वर्तमान है, यह उग्रसेन आदि यादवगण जानते हैं एवं मैं भी अब तक इसी रूप में अभिमान पोषण करता आ रहा था। किन्तु हाल ही में वृज में जाकर जो एक अनिर्वचनीय विषय अनुभव किया है, उससे मेरा वह सुमेरु तुल्य सौभाग्यगर्व तुरन्त ही चूर-चूर हो गया है। हे मुने! श्रीकृष्ण ने अपने विरह रूप बड़वानल से दग्ध ब्रजवासिगण को सान्त्वना प्रदान करने के छलसे मुझे वृज भेजकर मेरे प्रति निगूढ़ अनुकम्पा ही प्रकाशित की है। जिससे मैं श्रीकृष्ण की, उनके प्रेम की एवं उनके प्रेमभाजन जनों की अद्भुत माधुरी से अवगत होकर धन्यहो गया हूँ।

हे मुने! निखिल वृजवासिगण में ही श्रीकृष्ण का विलक्षण प्रेम है, तथापि वृजगोपिकागण की प्रेम पराकाष्ठा देखकर उनके प्रति मेरे मन में परम चमत्कारमयी भक्ति का उदय हुआ था, अर्थात् भाव जगत् में जिस स्तरीय एवं जिस परिमाण की भाव महिमा कहीं किसी भक्त ने न देखी न सुनी, गोपिकागण की उस स्तरीय एवं उस परिमाण की भावचेष्टा का दर्शन कर भावमयी भाषा सुनकर मैं चमत्कृत हो गया था। गोपीगण की भावमाधुरी दर्शन कर मैंने आविष्ट होकर परम आवेगमयी भाषामें कहा था “अहो इस विश्व जगत् में नन्दवृजवासिनी भगवत्प्रेयसीगण ही उत्तम देहधारिणी हैं, क्योंकि महाभावाख्य प्रेम का वही एकमात्र आधार हैं। अखिलरसामृतमूर्ति स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण में उनका रूढ़-महाभाव है। अर्थात् श्रीकृष्ण का जिस परिमाण में विशेष माधुर्य अनुभव करके यह गाढ़ आवेश में उन्मादिनी हो जाती है, उस प्रकार के असाधारण माधुर्यास्वादन की क्षमता विश्व में अन्य किसी में नहीं है। हे मुने! वृज में अवस्थान काल में वृजरमणीगण के प्रेम की महिमा देख विस्मित होकर मैंने कोई परम दुर्लभ विषय की लालसा प्रकट की थी, वह यह कि श्रीवृन्दावन में जो गुल्म, लता, औषधि इत्यादि हैं वे सभी परम सौभाग्यवान और परम सौभाग्यवती हैं। कारण यह है कि इन सभी वृजांगनागण की चरणरेणु अनायास ही अपने मस्तक पर धारण करते हैं। यदि मैं इन गुल्म, लता, औषधिगण में से किसी एक में जन्म लाभ कर पाऊँ तो मैं भीवृजांगनागण की पदरेणु लाभ करके जीवन धन्य कर लूँ। जिस लता के भीतर पदरेणु को लेकर वायु द्वारा मेरे ऊपर उड़कर पड़ेगी या मैं उसके ऊपर उड़कर पड़ूँगी तब स्वजातीयाशय लता के संग में मेरे श्रीगोपीचरण की लालसा का पोषण होगा। यदि कोई कहे— हे उद्धव! तुम तो तृण जन्म लेकर पथ के बाहर ही पड़े रहोगे, और वृजांगनागण तो पथ से चली जायेंगी इसलिए तुम किस प्रकार उनकी चरणरेणु पा सकोगे।” इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि श्रीगोपिकागण जब मोहन की मुरली रव से उन्मादिनी होकर अपने प्राणवल्लभ के निकट अभिसार के लिए जायेगी तो उन्हें पथ या विपथ का कुछ बोध नहीं रहेगा। उस अवस्था में उनके पदरज की लालसा से ही मैं वृज में तृण, गुल्म के रूप में जन्म की कामना कर रहा हूँ। हे मुने! श्रीगोपीगण के चरणरेणु के अभिषेक से कृतार्थ होने की लालसा से ही मैंने इस प्रकार की प्रार्थना की थी एवं उन नन्दवृजवासी गोपिकागण के चरणरेणु

की बार-बार वन्दना की थी। जिनके प्रेमविभावित कण्ठ से निकले कृष्णगुणगान ने त्रिभुवन को पवित्र कर दिया था। वृज जाकर आनन्द सागर में मग्न होकर बार-बार जो गान किया था और जैसी अभिलाषा और आचरण किया था, वह सभी अच्छी प्रकार से जानते हैं। हे मुनिवर! उसकी महिमा का कीर्तन करने से श्रीभगवान् की प्रेम पीड़ादि आविर्भाव रूप महा अनिष्ट की आशंका है, इस लिए अधिक नहीं बोल पाऊँगा। अतएव आप से यह विनीत प्रार्थना है कि यह सब वृत्तान्त सुनने का आग्रह त्याग दीजिए।

श्रीपरीक्षित ने कहा— मातः! श्रीउद्धव के अभिप्राय को जानकर दीर्घकाल तक गोकुल में रहने के कारण गोकुलवासिगण की परम प्रिय रोहिणीदेवी सजन नयनों से बोलीं— हे उद्धव! तुम इसे छोड़ो, मैं जिनकी चिन्ता त्यागकर कुछ सुखी हुई हूँ, उस महा दुर्दैवहत, सौभाग्य गन्धरहित, दैन्य सागर में निमग्न, भीषण बड़वानल की आग में दग्ध और विरहविष से जर्जरित वृजवासिगण को स्मृति पटल पर मत लाओ। श्रीवसुदेव जब मुझे गोकुल से लाये, तब से गोकुलवासियों की गम्भीर विरह वेदना का चित्र मेरे हृदय पटल पर अंकित हो रहा है। उस समय श्रीकृष्ण विरह में महादुखी यशोदा के रोदन से कठोर पत्थर भी रो रहे थे, वज्र भी विदीर्ण हो गया था, राधादि गोपीगण जीवित थीं या मृत, उनकी बात कौन वर्णन कर सकता है?

हे उद्धव! तुम्हारे प्रभु श्रीकृष्ण जब गुरु सान्दीपनि मुनि के घर से लौटे थे, तब मैंने अत्यन्त संक्षेप में उन्हें वृज का वृत्तान्त ज्ञापन किया था। यद्यपि मैं जानती थी, कि इससे कुछ भी फल प्राप्त नहीं होगा, तब भी हृदय का दुःख कह देने से सुख प्राप्त होता है, इसीलिए कहा था। मेरी बात से निश्चय ही तुम्हारे प्रभु का चित्त कोमल नहीं हुआ, इसलिए स्वयं वृज न जाकर सन्देश, विद्या और चातुरी में कुशल तुम्हें वृज में भेजा था।

हे उद्धव! दैवहत ब्रजवासिगण के प्रति तुमने तुम्हारे प्रभु का जो महान् अनुग्रह का विषय कीर्तन किया, उस अनुग्रह का क्या यही लक्षण है? जिस समय तुम्हारे प्रभु वृज में थे, उस समय भी उन्होंने ब्रजवासिगण के सुख का कोई कार्य नहीं किया था। मैंने दीर्घकाल तक ब्रज में वास करके यह साक्षात् देखा और अनुभव किया है। श्रीकृष्ण के ब्रज में रहने की अवधि में पूतना से आरम्भ कर केशीदैत्य पर्यन्त बार-बार कितने असुरों ने ब्रज में उपद्रव किया था, वरुणादि देवता और अजगर द्वारा विविध ब्रजनाशक उपद्रव घटित हुए

थे, ब्रजवासिगण ने कभी भी उनके बारे में चिन्ता नहीं की या निज सुख दुःख के प्रतिकार का भी प्रयास नहीं किया। वे तो केवल कृष्णमाधुर्य से मुग्ध होकर उनकी मंगल कामना करते हैं, कभी भी स्वयं के हित के विषय में वे चिन्ता नहीं करते हैं। ब्रजवासी स्वाभाविक प्रेमवश उनके पास जो कुछ भी है वह समस्त श्रीकृष्ण के सुख के लिए समर्पित कर देते हैं। वे श्रीकृष्ण को नन्दनन्दन ही समझते हैं, परमेश्वर या यदुनन्दन नहीं मानते हैं, इस प्रकार के स्वाभाविक प्रेमविशेष के आविर्भाव से उनका श्रीकृष्ण के इस प्रकार का व्यवहार सम्पन्न हो गया था।

तुम्हारे प्रभु स्वार्थ साधन के उद्देश्य से जितने दिन ब्रज में रहे थे, ब्रजवासिगण का कुछ भी उपकार नहीं किया, और अब तो उनका स्वार्थ साधन हो गया है, विशेषतः आज कल अपने स्वजनों के साथ परम सुख से रह रहे हैं। अब उनके लिए जो कुछ कर रहे हैं, वह और किससे कहूँ? (अर्थात् ब्रजवासीगण को परित्याग कर अपने दुःसह दावानल सेदुःसह पीड़ा दानादि जो कार्य कर रहे हैं, उसको कहने वाला मर्माजन यहाँ कोई भी नहीं है, इसलिए वह विषय यहाँ बोलना उचित नहीं होगा, ऐसा मेरा मानना है)

श्रीरोहिणीदेवी की बात सुनकर जराहता, विचार विहीना धृष्टाचारिणी (अर्थात् जिन्होंने द्रमिलदैत्य द्वारा पुत्रोत्पादन किया था।) कंस माता पद्मावती सिर हिलाकर बोलने लगी— अहो! कितने कष्ट का विषय है, निर्दय गोपगण ने श्रीअच्युत को बाल्यकाल से ही दुर्गम कण्टकारण्य में गाय चराने के लिए नियुक्त कर रखा था। कण्टक वन में घूमने के समय वे उन्हें पादुका तक नहीं देते थे वे भूख से व्याकुल होकर कुछ मुट्ठा आदि गोरस पान कर लेते थे तो यशोदादि निष्ठुर हृदया गोपीगण उनको गाय बाँधने वाली रस्सी से बाँध देती थीं। इस प्रकार यशोदा की निष्ठुरता से क्षुधा पीड़ित होकर यदि वे किसी अन्य गोपी के घर से कुछ गोरस आदि पान करते तो वह भीषण चीत्कार करती हुई यशोदा से शिकायत करती — “हे यशोदे! तुम्हारा यह बालक असमय में मेरे बछड़ों को खोल देता है; भर्त्सना करने से हँसता है, कभी चोरी करके दूध-दही खाता है और वानरों आदि को खिला देता है” इत्यादि कथा (भागवत में) प्रसिद्ध है। श्रीकृष्ण क्या करेंगे, बाल्यकाल से ही इतना कष्ट सह कर उनका गाय चराने का कार्य कर दिया है, अर्थात् दारुण दुःख-कष्ट सहकर उनका यथेष्ट उपकार किया है, इस समय वे इस बारे में और क्या कर सकेंगे?

श्रीपरीक्षित् ने कहा— मातः! परम गम्भीर चित्ता श्रीरोहिणी को पद्मावती की बातों को ग्रहण न करते हुए श्रीउद्धव से बोलीं— हे उद्धव! तुम्हारे प्रभु इस समय शत्रु वर्ग का विनाश कर यादवकुल की राजधानी में राजराजेश्वर हो गये हैं एवं द्वारका में विश्राम सुख भोग रहे हैं। अब देवतागण भी उनकी चरण वन्दना करते रहते हैं। हाय! वे अब उन दीन ब्रजवासिगण की बात भी स्मरण नहीं करते हैं।

श्रीरोहिणीदेवी की बात सुनकर श्रीकृष्णवल्लभ रुक्मिणी देवी बोलीं— मातः! आप नवनीत के समान कोमल प्रभु के अन्तर की भावना न जानकर ही क्यों यह सब बात कह रही हैं? मैंने वृन्दावन सम्बन्धीय जो सब वृत्तान्त प्रभु के श्रीमुख से सुना है और जो सब चेष्टादि साक्षात् अनुभव की है, वह आप से कह रही हूँ, सुनिये। प्रभु रात्रिकाल में निद्रित अवस्था में भी ब्रज की कितनी बातें बोलते रहते हैं, कभी प्रीति पूर्वक मधुर मधुर गंगा, यमुना, श्यामली, धवली कहकर गायों को बुलाते हैं, फिर कभी मनोहर त्रिभंग सुन्दर आकार का अभिनय करते हैं। कभी कहते हैं— माँ! मुझे मक्खन दो, कभी मुझे ही 'अयि श्रीराधे' 'श्रीललिते' कहकर सम्बोधन करते हैं। फिर कभी 'अयि चन्द्रावलि तुम्हारा यह क्या आचरण है, तुम क्यों मुझे धोखा दे रही हो?' यह बात कहकर मेरा वस्त्रांचल खींचते हैं। कभी अश्रुधारा से पृथ्वी को भिगो देते हैं, फिर कभी निद्रा भंग होने के बाद शय्या से उठकर आर्तस्वर में रोदन करने लगते हैं, मैं उनके इस रोदनादि की ध्वनि सुनकर दुःख शोक रूप महासागर में डूब जाया करती हूँ।

(इस स्थल पर यह विचारणीय है कि, श्रीभगवान् प्रेम के ही वशीभूत होते हुए भी प्रेम के स्तर और परिमाण के अनुसार ही उनकी वश्यता में अन्तर होता रहता है। ब्रजवासिगण का सर्वोपरि श्रीराधादि ब्रजगोपीगण का प्रेम परम महान् है। इसलिए उनके प्रति श्रीभगवान् की सार्वधिक वश्यता भीस्वाभाविक हैं किन्तु उनका अधिकांश समय श्रीकृष्ण-विरह ज्वाला का भोग करते ही देखा जाता है, इसका कारण एक प्रेमरस की ही विरह और मिलन दो माधुरी हैं। उपादान प्रेम इसलिए दोनों अवस्थाओं में ही घनीभूत आनन्द के रूप में घुल मिल कर समाया हुआ है। आचार्यपादगण ने कृष्ण-विरहको 'रस' कहकर स्वीकार किया है, कारण यह है कि विरह मिलनरस का पुष्टि कारक हैं। ब्रजसुन्दरीगण में विरह की ही प्रधानता है। यह विरह ही उनके प्रेम के प्रभाव को विश्व में अतुलनीय करके रखे हुए हैं।

जिस प्रकार एक बड़ा हाथी जब स्वच्छन्द रूप से रास्ते पर चलता है, तब उस के शरीरिक बल का अनुमान लगाना कठिन है, किन्तु यदि उसी हाथ को उस की स्वच्छन्द गति में बाधक शृंखला में बाँध दिया जाये एवं वह उस बाधा का अतिक्रमण करने के लिए यथासाध्य रूप से शरीर की सामर्थ्य प्रगट करे, उस समय उस हाथी के बल को देखकर सब स्तम्भित रह जाते हैं। उसी प्रकार मिलनकाल में प्रियतम को यथेच्छरूप में आस्वादन किया जा सकता है इसलिए उस अवस्था में अनुराग का बल और परिमाण समझा नहीं जा सकता है, विरह शृंखला में आबद्ध होने से जब इच्छानुरूप निज प्रियतम को आस्वादन नहीं किया जा सकता है, तभी आन्तरिक आकुलतामय अनुराग बाहर प्रकाशित होता है, इसलिए रसिक समाज उस अनुराग के बल को पहचान लेता है। श्रीभगवान् जैसे विरह-पर्वत द्वारा अपने प्रेमसिन्धु का मन्थन करके उस सिन्धु के गर्भ में निहित महामूल्यवान् विचित्र भावरत्न राशि को उठाकर विश्व के प्रेमी भक्तगण के कण्ठ में उपहार स्वरूप प्रदान कर रहे हो। वस्तुतः श्रीभगवान् उन्हें त्याग नहीं सकते हैं। प्रेम का स्वभाव ही है कि प्रेमी को अपने प्रियतम का अनुभव प्रदान करे। वियोग

[टिप्पणी— श्रीउज्ज्वल के “न बिना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।” इत्यादि श्लोक की आनन्द चन्द्रिका टीका में लिखा है कि, “प्रश्न हो सकता है कि विरह यदि सम्भोगरस का पुष्टिकारक ही है तो विरह को सम्भोग का अंग न कहकर पृथक् भाव से ‘रस’ की संज्ञा देने का क्या कारण है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि विरह केवल सम्भोगरस का पुष्टिकारक ही नहीं है, वरन् विरह दशा में रति-प्रेमादि स्थायीभाव युक्त नायक-नायिका के परस्पर के निविड़ स्फुरणादि से साक्षात् सम्भोगरस की अपेक्षा भी कोई एक चमत्कारितापूर्ण आस्वादन लाभ होता रहता है इसलिए विरह को पृथक् ‘रस’ रूप में आख्या प्रदान करना समीचीन ही है।”]

दशा में बाहर विरह ज्वाला, किन्तु अन्तर में प्रियतम के अनुभवरूप निविड़ आनन्द का उपभोग विराजमान होता है। इसीलिए महाजनगण कहते हैं, “ब्रजगोपिकागण की श्रीकृष्णविरह ज्वाला प्रेमराज्य के समान आनन्द के मस्तक पर हर्ष पूर्वक बार-बार नृत्य करती रहती है।’ यही उनके प्रेम की विष और अमृत के एक साथ मिलन रूप, विचित्र अवस्था है। अतएव प्रेमवश श्रीभगवान् द्वारका में रहते हुए भी ब्रजसुन्दरीगण के उस अपूर्व प्रेमरस का इस भाव से ही आस्वादन कर रहे हैं।)

श्रीरुक्मिणीदेवी ने कहा— मातः! आज भी प्रभु रात्रि काल में एक स्वप्न होकर शोकार्त होकर रोते-रोते विमनस्क हो गये और अपने उत्तरीय

द्वारा मुह ढक कर सोते हुए व्यक्ति के समान शैय्या पर पड़े हैं, हाय! अभी तक उन्होंने नित्यकृत्यादि कुछ भी नहीं किया है।

श्रीरुक्मिणीदेवी की बात सुनकर श्रीसत्यभामादेवी जैसे सपत्नीगण के साथ बोली— हे भामिनि! आप क्या प्रलाप वाक्य कह रही है? प्रभु क्या निद्रावस्था में ही निद्रित के समान ही वही-वही आचरण करते रहते हैं। हे भगिनि! हम तो प्रभु की नाम मात्र की ही भार्या हैं, वास्तव में ब्रजरमणीयगण की दासियाँ भी मेरी अपेक्षा प्रभु को अधिक प्रिय हैं।

श्रीपरीक्षित् ने कहा— मातः! महिषीगण की बात सुनकर गोकुलबान्धव श्रीबलदेव जैसे रोष में भरकर बोले— अयि वधूगण! हम ब्रजवासिगण की सहज दैन्यवार्ता कहने के लिए तत्पर हो रहे हैं इसलिए भ्राता श्रीकृष्ण हमारी वञ्चना के निमित्त इस प्रकार स्वप्न चरितादि कपट-चातुरी प्रकाशित कर रहे हैं। मैं ब्रजवासिगण की सान्त्वना के लिए ब्रज में गया और वहाँ दो मास रहकर समझ गया हूँ कि श्रीकृष्ण को छोड़ और कोई भी उनके स्वास्थ्य सम्पादन में समर्थ नहीं है, अतएव यहाँ आकर उनको कातरभाव से बोला— “भाई श्रीकृष्ण एकबार ब्रज में जाकर ब्रजवासिगण के जीवन की रक्षा करो।” उन्होंने कहा ‘जाऊँगा’ लेकिन उनके हृदय का भाव ठीक उस रूप का नहीं है।

यह बात सुनकर श्रीकृष्ण शीघ्र ही शैय्या से उठे एवं प्रियजन की प्रेमपराधीनतावश उच्चस्वर से रोदन करते-करते शैय्या से बाहर हो गये। उनके प्रफुल्लित कमल सदृश नयनयुगलों से अविचल अश्रुधारा बहकर नीचे गिरने लगी, वे गद्गद स्वर से बोले— सत्य ही मेरा हृदय महावज्रसार से गठित है, जिस कारण अब भी यह हृदय दो टुकड़ों में विदीर्ण नहीं हो रहा है। उन ब्रजवासिगण ने बाल्यावधि में मेरा लालन पालन किया है, किन्तु मैं इतना निष्ठुर हूँ कि उनके उस असाधारण प्रेम को भुला बैठा हूँ, उनका कुछ भी हितसाधन तो दूर रहा, उन मृदुल स्वभाव ब्रजवासिगण के लिए सदैव दुःख की रचना ही की है। हे भ्रातः! उद्धव! तुम सर्वज्ञ हो और मेरे भी प्रिय हो, शीघ्र बोलो कि मैं क्या करूँ, इस शोक समुद्र से मेरा उद्धार करो।

श्रीपरीक्षित् ने कहा— मातः! श्रीउद्धव श्रीकृष्ण को यदि गोकुल जाने की बात बोलें, इस आशंका से नके उत्तर देने के पहले ही पुत्रवत्सला श्रीदेवकीदेवी बोलीं— हे वत्स! सुहृत्तम ब्रजवासिगण जो भी अभिलाषा करें, तुम उन्हें वही वही प्रदान करो। यह बात सुनकर यदुराज-महिषी पद्मावती

पहले रोहिणी द्वारा अवहेलिता होने के बाद भी राज्यदान के भय से परिहास सूचक वाक्यभंगि द्वारा प्रभु के चित्त को स्वस्थ करने के छल से बोलीं— हे कृष्ण! तुम मेरी मन्त्रणा सुनो। तुम दोनों भाई नन्दगोप के घर रहकर जो कुछ उपभोग किये हों, उस बीच में उन लोगों ने तुम्हारे गोरक्षा के लिए कुछ दिया हो या न दिया हो, यदुराज गर्गमुनि द्वारा गणना करवा कर कण-कण के साथ उनसे प्राप्त द्रव्य का दुगुना करके प्रदान कर दो। श्रीभगवान् यह बात अग्राह्य कर ब्रजवासिगण के प्रति उनका क्या कर्तव्य है, शोकातुर होकर इस विषय में श्रीउद्धव से पूछने लगे, — हे विद्वान श्रेष्ठ! तुम ब्रजवासिगण के समस्त अभिप्राय से अवगत हो, उनका अभिप्राय क्या है वह मुझसे कहो।

श्रीउद्धव पश्चाताप के सहित दीर्घ निःश्वास त्याग करते करते बोले— हे प्रभो! ब्रजवासिगण केवल आपको ही चाहते हैं, वे राजराजेश्वरत्व, सकल विभूति, स्वर्गीय सम्पद्, इस लोक की सम्पदादि, किसी की भी कामना नहीं करते हैं। मैं निश्चय पूर्वक कहता हूँ कि वहाँ आपके शुभागमन के बिना किसी प्रकार भी उनके जीवन की रक्षा नहीं हो पायेगी। वे आपको पाने के लिए समस्त भोगादि को त्यागकर जिस अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं, उसे अग्रज से ही पूछ लीजिए।

(श्रीउद्धव की उक्ति का मर्म यह है कि, ब्रजवासिगण श्रीकृष्ण को ब्रज के उपयोगी 'गोपवेश वेणुकर-नवकिशोर नटवर' — रूप में ही पाने की इच्छा करते हैं। श्रीकृष्ण को अन्यत्र अन्वेश में पाने पर भी वे आनन्द लाभ नहीं कर पाते हैं। इसलिए श्रीकृष्ण के मथुरा वास के समय कृष्ण विरह में प्राणान्तकार दुःख भोग करने पर भी श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए वे मथुरा नहीं गये। उनकी श्रीकृष्णसुखैक तात्पर्यमयी स्वसुख वासना गन्ध रहित परम विशुद्ध प्रीति ही इसका एकमात्र कारण है। वे मन में मानते हैं कि ब्रज छोड़कर श्रीकृष्ण अन्यत्र कभी भी आनन्द नहीं पा सकते हैं। अन्यत्र कर्तव्य के अनुरोध से अपनी अनिच्छा के बावजूद यह सब व्यवहार करते हैं, यही उनके शुद्ध प्रेमभावित हृदय का विश्वास है। इस प्रकार की अवस्था में वे यदि ब्रज छोड़कर श्रीकृष्ण के पास जायें भी, तो भी अपनी इच्छानुसार श्रीकृष्ण की सेवा लालन-पालनादि प्रीति व्यवहार द्वारा उनको सुखी नहीं कर पायेंगे, इससे उन (ब्रजवासिगण) का दुःख ही बढ़ेगा और उनके दर्शन से ब्रजविहार की पूर्वस्मृति श्रीकृष्ण के हृदय में जागरित होकर श्रीकृष्ण के

दुःख को अनन्तगुना बढ़ा देगी, यह बात विचार कर भी वे अन्यत्र श्रीकृष्ण दर्शन के लिए जाने का संकल्प नहीं कर पाते हैं। ब्रज में जाकर श्रीउद्धव ब्रजवासिगण का यह विशुद्ध प्रेम व्यवहार स्वयं अनुभव करके आये हैं, इसीलिए कहा कि ब्रज में श्रीकृष्ण के आगमन को छोड़ अन्य किसी उपाय से वे ब्रजवासिगण को सुखी नहीं कर पायेंगे।)

श्रीउद्धव की बात सुनकर एवं स्वयं श्रीकृष्ण के अभिप्राय को समझकर श्रीबलदेव ब्रजभूमि के स्मरण से धैर्य-धारण में असमर्थ होकर उच्च स्वर में रोदन करते-करते बोले— हे भ्रातः! ब्रजवासी गोप-गोपीगण की तो बात ही क्या, तुम्हारे विरह में वहाँ तुम्हारी प्रिय सभी गायें, मृगकुल, विहंगम समूह, कदम्बादि वृक्ष समूह, लतार्ये, तृणमण्डित समस्त क्षेत्र ने भी तुम्हें अपने प्राण समर्पण कर दिये हैं। सरोवर सूख गये हैं, पर्वत भी दिन प्रतिदिन छोटे होते जा रहे हैं। मनुष्यों में कदाचित् कोई तुम्हारे सत्य वचनों पर निर्भर होकर तुम्हारे दर्शन की आशा से जीवन धारण कर रहे हैं। यमुना लगभग सूख सी गई है, उच्च शिखर वाले गिरिराज भी भूमिगत होते जा रहे हैं। हे भ्रातः! और अधिक सुनने की इच्छा मत करना, अब भी यदि तुम उनके प्रति अनुग्रह प्रकाश नहीं करते हो, तो यम ही शीघ्र उनके प्रति अनुग्रह करेंगे। जो जीवित हैं, वे स्नान-भोजन-पानादि त्याग दिये हैं, बाद में शुष्क महावन की दावागिनी ही उनकी गति होगी।

यह सारी बात सुनकर कोमल स्वभाव श्रीकृष्ण बलदेव का गला पकड़कर दीनवत् रोदन करने लगे। अश्रुधारा से उनका श्रीअंग भीगने लगा। इस भावावेश में वे बलदेव के साथ रोदन करते-करते भूमि पर लोटने लगे एवं कुछ क्षणों में ही वे मूर्छित हो गये। उनकी इस प्रकार की दशा देखकर श्रीरोहिणी, उद्धव, देवकी, रुक्मिणी, सत्यभामा इत्यादि अन्तःपुरवासी सभी रोदन करते-करते व्याकुल होने लगे। अन्तःपुर से रोदनध्वनि आती हुई सुनकर उग्रसेनादि यादवगण वसुदेव आदि के सहित तेजी से वहाँ पहुँच गये एवं श्रीकृष्ण को उस अवस्था में देखकर सभी विह्वल होकर रोदन करने लगे।

सप्तम अध्याय (पूर्ण)

श्रीपरीक्षित् बोले— हे मातः! इस प्रकार यादवगणों के सपरिवार रोदन करने से उनकीवह रोदन ध्वनि क्षणकाल में ही समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो गई। तब उनको सान्त्वना देने के लिए वहाँ कोई नहीं था। इसलिए चतुर्मुख ब्रह्मा, वेद-पुराणादि परिवार वर्ग भी देवगणों के साथ वहाँ पर आ गये। श्रीब्रह्मा ने विस्मय से देखा कि उनके पिता महानारायण श्रीकृष्ण अपूर्व मोहदशा को प्राप्त हो रहे हैं। उन्होंने प्रभु को प्रियतमजनों के प्रणय से कातर एवं अपनी निगूढ़ प्रेम माधुरी प्रकट करने के लिए उद्यत देख धैर्य खोकर, कुछ क्षण रोदन किया। श्रीवृन्दावन में गायों और बछड़ों का हरण करने के समय वहाँ स्थित प्रिय परिकर वर्ग के साथ प्रभु की जो निरुपम प्रेममाधुरी अनुभव कर थी, उसका स्पष्ट चित्र उनके हृदय पटल पर प्रकट हो गया। बाद में यत्नपूर्वक धैर्य धारण कर प्रभु के स्वास्थ्य सम्पादन के उपाय की चिन्ता करने लगे एवं क्षणकाल में ही वह उपाय अपने हृदय में अवधारण कर लिया। उस स्थान पर विनतानन्दन श्रीगरुड़ भी विह्वल हो रोदन कर रहे थे, ब्रह्मा उनको यत्नपूर्वक संज्ञा प्राप्त कराकर बोले— हे वैनतेय! लवण समुद्र के मध्य स्थान में रैवतक-पर्वत पर श्रीविश्वकर्मा द्वारा निर्मित श्रीनन्द-यशोदादि गोप-गोपियों का एवं गोयूथ की प्रतिकृति के द्वारा अलंकृत नववृन्दावन नामक एक स्थान है, वह मथुरा मण्डल के अन्तर्गत साक्षात् वृन्दावन के समान ही विराजमान है। इस समय तुम श्रीकृष्ण को अग्रज समेत इस अवस्था में ही यत्नपूर्वक धीरे-धीरे उस कृत्रिम वृन्दावन में ले जाओ। एकाकी श्रीरोहिणीदेवी ही वहाँ जायें, दूसरा कोई न जाये।

ब्रह्मा की बात सुनकर श्रीगरुड़ श्रीकृष्ण और बलराम को धीरे-धीरे अपनी पीठ पर स्थापन कर रैवतक पर्वत पर ले जाने लगे। इस बीच में श्रीबलेदव को किंचित संज्ञा प्राप्त हुई। श्रीवसुदेवादि यादवगण श्रीब्रह्मा द्वारा सान्त्वना दिये जाने पर अपने-अपने स्थान को चले गये। उस रचित वृन्दावन में जैसे साक्षात् (वास्तविक) गोप-गोपियों के समान ही उनकी प्रतिमूर्ति विराजमान हो रही है, गरुड़ ने धीरे-धीरे श्रीनन्दनन्दन को पीठ पर से उतारकर उस स्थान पर पलंग पर स्थापित कर दिया। पुत्रवत्सला देवकी, रुक्मिणी,

सत्यभामा इत्यादि देवीगण और वही पद्मावती इस प्रकार की दशा प्राप्त श्रीकृष्ण को त्याग करने में असमर्थ होने के कारण उद्धव के साथ उस नववृन्दावन में आ गये। किन्तु ब्रह्मा की प्रार्थना से छिपकर रहते हुए घटनावली का दर्शन करने लगे। श्रीनारद अपने को अपराधी के समान मानते हुए न तो देवगण के साथ और न ही यादवगण के साथ ही वहाँ गये। किन्तु कौतूहलवश श्रीभगवान् के लीलामाधुर्य के आस्वादन के लिए आकाश में अन्तर्हित के समान अवस्थान करने लगे। श्रीगरुड़ अलक्षित रूप से आकाश में रहकर अपने पंखों के द्वारा छाया विस्तार पूर्वक श्रीप्रभु की सेवा करने लगे।

श्रीबलराम क्षणकाल में ही स्वास्थ्य लाभ कर श्रीब्रह्मा के इस कार्य का मर्म समझ गये। अर्थात् ब्रजवासिगण के विरह की तीव्रता से श्रीभगवान् की इस प्रकार की प्रेममूर्छा का उदय हुआ है, इस कारण श्रीवृन्दावन एवं ब्रजवासिगण के मिलन अनुभव को छोड़ अन्य किसी भी उपाय से इस प्रेममूर्छा का अन्त नहीं होगा। जिस प्रकार के प्रेम की स्मृति से इस मूर्छा का उदय हुआ है, उसी प्रकार के प्रेमी की मिलनानुभूति की ही वर्तमान में आवश्यकता है। किन्तु इस अवस्था में उनको मथुरा मण्डल में स्थित श्रीवृन्दावन ले जाना सम्भव नहीं है, क्योंकि वे विरहतापित ब्रजवासिगण उनकी इस अवस्था को देखकर न जाने कौन सी अभावनीय दशा में पहुँच जायें, जिससे उन (श्रीकृष्ण)की प्रेममूर्छा का नाश होना तो दूर, किसी एक अनिर्वचनीय अवस्था का उदय न हो जाये। इस कारण श्रीब्रह्मा विश्वकर्मा निर्मित कृत्रिम वृन्दावन में, जहाँ श्रीनन्द-यशोदादि गोप गोपीगण की मणि प्रस्तरादि निर्मित शान्त प्रतिकृति (प्रतिमा) विराजित है एवं वृक्षलतादि अन्यान्य प्राकृतिक दृश्य भी श्रीवृन्दावन के अनुरूप ही है, श्रीबलदेव और रोहिणी को साथ लेकर श्रीकृष्ण को उस स्थल पर ले जाकर ब्रजलीला का सुमधुर चित्र प्रेमरस कृष्ण के मानस पटल पर अंकित कर उनकी प्रेममूर्छा को हटाने की इच्छा कर रहे हैं श्रीबलदेव ने ब्रह्मा के इस उद्देश्य को जानकर शीघ्र पहले अपना मुखकमल धोया फिर अनुज का मुखकमल धो दिया। फिर धीरे-धीरे श्रीकृष्ण के पेट पर वंशी, कुक्षि पर शृंग, वेत्र, कण्ठ में कदम्ब पुष्प की माला, मस्तक पर मयूर पुच्छ का चूड़ा और दोनों कानों में नवगुँजा-निर्मित अवतंस धारण करा दिये। इस प्रकार विश्वकर्मा द्वारा निर्मित सामग्री से श्रीकृष्ण के वन्यवेश की रचना करके बलपूर्वक शैय्या से उठकर उच्च स्वर

से बोलने लगे— हे कृष्ण! भ्रातः उठो, उठो, जाग जाओ, देखो श्रीदामादि वयस्यगण तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं, माता पिता प्रेमवश तुमसे कुछ भी बोल नहीं पा रहे हैं। फिर यह भी देखो कि सब गोपीगण तुम्हारा मुखकमल देखकर परस्पर एक दूसरे के कान में कुछ कह रही हैं, ऐसा लगता है कि वे तुम्हारा उपहास कर रही हैं श्रीबलेदव इस प्रकार बार-बार लालनादि द्वारा नाम लेकर पुकार रहे हैं और उन्होंने उन्हें बलपूर्वक उठाकर बिठा लिया। इस प्रकार बलराम द्वारा उठाने पर काफी देर बार चैतन्यलाभ करके विस्मयपूर्वक 'शिव' 'शिव' कहते हुए वे शैय्या से उठे।

श्रीकृष्ण ने आँख खोलते हुए चारों ओर दृष्टि संचालित की और कुछ हँसते-हँसते सम्मुख ही पिता नन्द को देखकर लज्जापूर्वक झुककर उन्हें प्रणाम किया। और उनके बगल में माता यशोदा, जिन्होंने स्नेहवश उनके बदन पर जैसे निर्निमेष दृष्टि अर्पण कर रखी है, माँ को देखकर आनन्द से हँसते-हँसते बोले— मातः! मैंने आज प्रभातकाल में जागते हुए के समान कितना विचित्र स्वप्न देखा था। देखा कि यहाँ से मथुरा जाकर दृष्ट कंसादि का निधन कर दिया है। हे मातः! मानो महासमुद्र के किनारे द्वारका नाम की महापुरी का निर्माण किया है इत्यादि, बहुत कुछ देखा इस समय वनगमन के कारण उसे शीघ्र नहीं बोल पा रहा हूँ। यद्यपि श्रीकृष्ण स्वप्न वृत्तान्त बोले— तब भी (प्रतिमार्रूपी) माता-निर्निमेष नेत्रों से चाह रही है देखकर कृष्ण ने मन में सोचा— मेरी निद्रा की अधिकता से अस्वस्थ होने की आंशका के कारण माँ दुःख पा रही है, इसलिए श्रीभगवान् माँ को सान्त्वना देने के लिए बोले— माँ, देर तक चलने वाले मनोहर स्वप्नरूप विघ्न के कारण आज अन्य दिनों की तरह शैय्या से उठ नहीं सका। श्रीबलदेव से कहा— हे आर्य! आप यदि इस महाश्चर्यमय स्वप्न वृत्तान्त को असम्भव न माने तो बन जाने पर इसे सविस्तार बतलाऊँगा। (इस स्थल पर श्रीभगवान् द्वारका एवं मथुरालीला को जो स्वप्नवत् मान रहे हैं, इसका मर्म यह है कि आनन्द मूर्ति श्रीभगवान् भक्त की प्रेम भक्ति की रसमाधुरी आस्वादन करने के लिए चिर उत्कण्ठित हैं। श्रीभागवत में देखा जाता है—“भगवान् भक्त भक्तिमान्।” वे स्वभाव से ही भक्त के प्रीतिरस के विषय होकर भी भक्त के हृदयस्थ भक्ति के स्तर और परिमाण के अनुसार ही भक्त को प्रीति करते हैं भगवत् प्रीति सोपाधिक और निरुपाधिक भेद से दो प्रकार की है। सोपाधिक प्रीति में विमलता न होने से

उसका आस्वादन भी विमलता हीन हैं और जहाँ पर निरुपाधिक प्रीति है वहाँ आस्वादन या रस भी विमल है। एक प्रीति के गर्भ में बहुत प्रकार की उपाधि होने पर भी, प्रमुख रूप से यह दो प्रकार की हैं प्रथम प्रीतिमान् भक्त के स्वसुख-तात्पर्य और दूसरी श्रीभगवान् के अलोक सामान्य ऐश्वर्य के अवलम्बन से प्रीति। जिस प्रकार किसी गायक की गाना गाने की क्षमता के कारण जिस स्थल पर उसके प्रति प्रीति उत्पन्न होती है, उस स्थान पर उस व्यक्ति से प्रीति नहीं की जा रही हैं उसके गान करने की शक्ति से प्रीति की जा रही है। उसी प्रकार श्रीभगवान् की असीम महिमा की ओर देखकर जो प्रीति की जाती है, उसे सोपाधिक कहते हैं। सब प्रकार की निरुपाधि प्रीति के एकमात्र आस्पद ब्रजवासिगण हैं। उनकी प्रीति में उपर्युक्त दो प्रकार की उपाधि की गन्धमात्र भी नहीं है। तभी तो प्रेमाधीन श्रीकृष्ण ब्रजवासिगण की निरुपाधि एवं परिमाणगत उन्नत प्रेम के सर्वाधिक वशीभूत रहते हैं। “ये यथामां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्” इस गीतोक्ति के अनुसार ब्रजवासिगण सब भूलकर जिस प्रकार श्रीगोविन्द में ही तन्मय रहते हैं, उसी प्रकार श्रीगोविन्द भी सब कुछ भूलकर ब्रजवासिगण में ही तन्मय रहते हैं। किन्तु वे बड़े प्रेम को पाकर भी छोटे प्रेम के प्रति कभी भी उदासीन नहीं हो पाते हैं— यह उनका स्वरूपसिद्ध धर्म है। देवकी वसुदेव के प्रति उदासीन होने से उनके भक्तवात्सल्य गुण में विघ्न घटित होगा। इसलिए कंसादि असुरगण के अत्याचार से पीड़ित यादवगण को छुटकारा दिलाने के लिए विशुद्ध प्रीतिरस के धाम ब्रज को भी छोड़कर मथुरादि जाकर कंस वधादि लीला की है। लेकिन वहाँ रहते हुए भी जिस समय निर्भर ब्रजलीला की स्मृति उनके हृदय में उदित होती है; तब मथुरादि में होने वाली लीला उस विशुद्ध प्रीतिरसोज्ज्वल ब्रजलीला के सम्मुख स्वप्न के समान ही प्रतीत होती है जो कि स्वाभाविक भी है। यही द्वारकादि लीला से भी विशुद्ध प्रेम रसमयी ब्रजलीला की विशेषता है।) श्रीपरीक्षित ने कहा— मातः! इस प्रकार श्रीकृष्ण ने भ्राता बलदेव को सादर सम्भाषण और जननी को अभिवादन कर वन्यभोजन की उपयोगी खाद्य सामग्री की इच्छा से अपना हस्त प्रसारण किया अभिज्ञ श्रीरोहिणीदेवी यह देखकर बोलीं— हे वत्स! आज तुम्हारी माता तुम्हारी निद्रा के आधिक्य के कारण चिन्ता करके कुछ अस्वस्थ हो गई हैं, कारण यह है कि तुम ही उनकी एकमात्र सन्तान हो। अतएव उनके साथ और अधिक वार्तालाप की इस समय आवश्यकता नहीं है। गायें और गोप बालकगण पहले ही वन जाने

के उद्देश्य से बाहर निकल गये हैं, तुम भी उनके पीछे-पीछे जाओ। स्नेहमयी श्रीरोहिणी देवी की बात सुनकर श्रीकृष्ण उन्हें अभिवादन कर प्रतिमारूपा यशोदा के हाथ में विश्वकर्मा द्वारा रखा हुआ नवनीत हँसते-हँसते धीरे-धीरे चुराकर ज्येष्ठ भ्राता बलदेव को बुलाने लगे, किन्तु वे गायों के पहले ही आगे जा चुके थे अतः उनको न देखकर उन्होंने वह नवनीत स्वयं भी नहीं खाया। इसी प्रकार वन की ओर कुछ दूर जाकर परिहास द्वारा गोपीगण से सम्भाषण किया। बाद में वेणुनाद द्वारा समस्त गायों को रोककर सखीगण के साथ श्रीमती राधिका को पाकर मृदुहास्य और परिहास के साथ बोलने लगे— हे प्राणेश्वरि! मैं तुम्हारा एकान्त भक्त हूँ, मुझे निर्जन में पाकर भी तुम मेरे साथ बात क्यों नहीं करती हो? क्या तुम मानिनी हो रही हो? मैंने क्या तुम्हारा कोई अपराध किया है? ओहो! समझा, तुम सर्वज्ञ हो, तभी आज के मेरे स्वप्न के वृत्तान्त को तुम आमूल भली प्रकार जानती हो। हे प्रियतमे! मैंने स्वप्न में देखा है कि मैं जैसे तुम्हें त्यागकर दूर द्वारका चला गया हूँ और वहाँ मेरे लिए मरने को उद्यत अनेक राजपुत्रीगणों से विवाह कर रहा हूँ। इस प्रकार मेरे अनेक पुत्र पौत्रादि उत्पन्न हुए हैं। इस समय वह सब बात रहने दो, मैं इस समय शीघ्र ही वन को जा रहा हूँ। आज प्रदोष काल में तुम्हें आनन्दित करूँगा। इस प्रकार प्रतिमारूपा श्रीराधिका को स्वप्न-वृत्तान्त कहकर श्रीराधा के बदन पर पुष्प फेरकर चारों ओर दृष्टिपात करके उन्हें चुम्बन के साथ आलिंगन कर लिया एवं आगे गये हुए गोपबालकगण और गायों के साथ जाकर सम्मिलित हो गये।

श्रीदेवकीदेवी ने जब श्रीकृष्ण के इस अदृष्टपूर्व महामनोहर मुरली वादन परायण अद्भुत ब्रजवेश के दर्शन किये, तो वृद्ध होते हुए भी स्नेह के कारण उनके स्तनों से दुग्धधारा क्षरित होने लगी। श्रीरुक्मिणी, जाम्बवती इत्यादि कतिपय महिषी उस अपरूप रूपमाधुरी के दर्शन से महाप्रेम से धैर्यच्युत एवं मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ीं। वृद्धा पद्मावती सत्यभामा के साथ कामवेग से मत्त होकर बारम्बार बाँहें फैलाते हुए- आलिंगन का अभिनय करती हुई श्रीहरि को पकड़ने के लिये दौड़ पड़ीं। आदित्यसुता बुद्धिमती कालिन्दी देवी ने, ब्रज में श्रीकृष्ण के वन्यवेशादि के पहले के अनुभव के कारण अत्यन्त कष्ट से धैर्यधारण करके, श्रीउद्धव की सहायता से इन दोनों को खींचकर रास्ता रोक लिया।

(श्रीकृष्ण के वन्यवेश के दर्शन से इन दोनों के इस प्रकार की उन्मादना का कारण यह है कि ब्रजलीला में श्रीभगवान् का जो अनन्य साधारण रूपमाधुर्य प्रकाशित होता है, वह मथुरा-द्वारकादि में प्रकाशित नहीं होता। श्रीमद् रूपगोस्वामिपाद कहते हैं—

“लीला प्रेम्णा प्रियाधिक्यं माधुर्यं वेणुरूपयोः।

इत्यसाधारणं प्रोक्तं गोविन्दस्य चतुष्टयम्॥”

अर्थात् श्रीभगवान् की असाधारण रूप माधुरी, लीलामाधुरी, वेणुमाधुरी एवं प्रेममाधुरी ब्रज की ही अन्य साधारण सम्पदा हैं। “असमानोर्द्ध-रूपश्री विस्मापित चराचरः” स्थावर जंगम के मोहनकारी श्रीश्यामसुन्दर के इस वन्यवेश की कोई तुलना ही नहीं है। मरकतमणि-निन्दित अंगकान्ति, सिरपर शिखिपाखा, मुख चित्रमुग्ध हास्यमधुर, नेत्रयुगल भावविलास से सतृष्ण कटाक्षयुक्त गतिविन्यास मत्त गज की अपेक्षा भी प्रशंसनीय हैं श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने कहा है—“ये-रूपे एक कण, डुबाय सब त्रिभुवन, सर्वप्राणी करे आकर्षण” (चै. चै.)। श्रुति के उस “रसो वै सः” मन्त्र के देवता की रसमाधुरी की पूर्णतम् अभिव्यक्ति ब्रजलीला में ही है। उनके भुवनमोहन रूप, सुमधुर वंशी की तान में पक्षी, मृग, गाय आदि पशुगण पर्यन्त आत्महारा हो जाते हैं। यहाँ तक कि दर्पण आदि में अपनी रूपमाधुरी देखकर स्वयं भी विमोहित हो जाते हैं।

“रूप देखि आपनार, कृष्णोर हय चमत्कार,
आस्वादिते मने उठे काम।” (चै. च.)

इसलिए विश्वमोहन श्यामसुन्दर के उस वन्यवेश के दर्शन से उसमें इस प्रकार की स्थायिभावशून्या पद्मावती तक में कन्दर्पचेष्टा का प्रकाश पाया गया था, उसस्थल पर महिषीगण में जिस अनिर्वचनीय भाव दशा का उदय होगा,— उसे कहने की आवश्यकता ही नहीं है।)

इधर श्रीभगवान् गोचारण करते-करते कुछ ही आगे चले कि सामने लवण समुद्र को देखकर यमुना के भ्रम से आनन्दित हो उस स्थान पर जलविहार के निमित्त सखागण को आह्वान करने लगे, हे श्रीदाम, हे सुचल, हे अर्जुन तुम सब किधर चले गये हो? आओ, हम लोग सब गायों को

जलपान कराकर इस मधुर, स्वच्छ, शीतल सलिलवाहिनी यमुना में स्नान कर सुख से विहार करें। इस प्रकार श्री अच्युत सब गायों के सहित आगे बढ़कर कोलाहल युक्त तरंगायित समुद्र के किनारे पर आ उपस्थित हुए। अनन्तर श्रीकृष्ण के चारों ओर निरीक्षण करते-करते इस समुद्र के किनारे प्रकाशमाना स्वकीय महापुरी देखकर विस्मय हो गये और बोलने लगे— यह क्या? मैं कहाँ रह रहा हूँ? मैं कौन हूँ? इस प्रकार आश्चर्यचकित हो जब बार-बार बोलने लगे— तब श्रीमद् बलदेव बोले— प्रभो वैकुण्ठेश्वर! आत्मानुसन्धान करो, आप देवगण की प्रार्थना से पृथ्वी का भार हरण करने के लिये अवतरित हुए हो। अतए इस समय दुष्टगण का संहार और शिष्टगण का पालन करो, धर्मराज युधिष्ठिर के यज्ञ का विस्तार करो।

(इस स्थल पर श्रीबलदेव के श्रीभगवान् को “वैकुण्ठेश्वर” कहकर सम्बोधन करने का तात्पर्य यह है कि ब्रजवासिगण के प्रेम से मुग्ध श्रीभगवान् वर्तमान में श्रीनन्दनन्दन के आवेश में आत्महारा हैं, तभी तो श्रीबलदेव “वैकुण्ठेश्वर” कहकर धराभार हरणादिकर्तव्य की स्मृति जगाकर प्रेममुग्ध भगवान् के हृदय में रसान्तर की सृष्टि कर उनको प्रकृतिस्थ करने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। यद्यपि श्रीभगवान् गोलोक में ही अवतीर्ण हुए हैं एवं ब्रजवासीगण के साथ वृन्दावन विहारादि द्वारा असमोद्ध रसमाधुरी आस्वादन कर रहे हैं तथापि ब्रजविषयक वार्ता सुनकर फिर उसी प्रकार की मोहदशा की उत्पत्ति हो सकती है, इसी आशंका से श्रीबलदेव ने उसे प्रकाशित नहीं किया। फिर स्वयं भगवान् के अवतार के समय श्रीवैकुण्ठेश्वर आदि सभी भगवत्स्वरूप भी वैकुण्ठ से अवतीर्ण होकर श्रीनन्दनन्दन के साथ एकीभूत हो जाते हैं। इसलिए तत्त्वतः श्रीनन्दनन्दन को वैकुण्ठेश्वर आदि की संज्ञा प्रदान करने से कोई दोष नहीं है। “सकल सम्भवे कृष्णे याते अवतारी।”) (चै. च.)

श्रीबलदेव ने कहा— तुम्हीं ने युधिष्ठिरादि को राजचक्रवर्ती पद पर प्रतिष्ठित किया है, किन्तु इस समय अनुशाल्व आदि के विपुल विक्रम से वे भयभीत हो रहे हैं। इसलिए शीघ्र ही यादवगण के साथ वहाँ जाकर दुष्टगणों का विनाश करने के लिये प्रयत्नशील हो, तुम्हारे साथ शत्रुता के कारण ही तुम्हारे प्रिय अजातशत्रु युधिष्ठिर आदि को कष्ट दे रहे हैं।

श्रीपरीक्षित् ने कहा— हे मातः! श्रीबलेदव ने श्रीकृष्ण को रसान्तर में ले जाकर स्वस्थ करने के लिए जो कहा, उसे सुनकर श्रीकृष्ण को भावान्तर

प्राप्त हुआ। उन्होंने क्रुद्ध होकर कहा— भ्रात! वह अनुशाल्वादि अति तुच्छ हैं, मैं अकेला ही जाकर उसका वध करूँगा। आप मेरी इस प्रतिज्ञा का विश्वास कीजिए। इस प्रकार श्रीकृष्ण धीरे-धीरे प्रेममुग्ध भाव का त्याग करके अपने चारों ओर अवलोकन करते-करते स्वयं को यादवेन्द्र समझने लगे। इसके बाद उन्हें यह भी स्मरण हुआ कि वे प्रासाद के अन्दर निद्रामग्न थे, लेकिन अपने हाथ में वंशी और अग्रज का वन्यवेश देखकर चमत्कृत हो गये। फिर यह भी देखा कि पुरी के बाहर भाग में समुद्र के किनारे जैसे वे गोचारण कर रहे हैं। इस प्रकार उस विषय की चिन्ता करते-करते विस्मित और संशयान्वित होकर हँसने लगे। तब उनके हृदयज्ञ श्रीबलदेव ने कुछ हँसकर उनकी प्रेममूर्च्छादि और ब्रह्माकृत समस्त घटनाक्रम उनको समझाकर बतलाया। यह सब वृत्तान्त सुनकर श्रीकृष्ण ज्येष्ठ भ्राता के मुख की ओर देखकर कुछ लज्जित के समान धीरे-धीरे मुस्कराने लगे। किन्तु बलदेव ने और कुछ नहीं कहा, धूलि धूसरित श्रीकृष्ण के अंगों का मार्जन करके समुद्र स्नान कराया। इस समय भगवत्भावविज्ञ श्रीगरुड़ के वहाँ आने पर श्रीकृष्ण उन पर आरोहण कर अलक्षित भाव से अपने प्रासाद में आ गये। इसके बाद सर्वज्ञ श्रीउद्धव ने देवकी, रुक्मिणी इत्यादि देवीगण को प्रबोधित कर अन्तःपुर में श्रीभगवान् के पास प्रेरित किया। कालाभिज्ञा मातादेवकी पुत्र को आशीर्वचनों से अभिनन्दित कर उनके भोग सम्पादन के लिये शीघ्र ही गई। प्रभुप्रिया रुक्मिणी इत्यादि देवीगण स्तम्भ की आड़ में विराजमान थीं, केवल सत्यभामा देवी ही वहाँ पर नहीं थीं, उनके लिये श्रीभगवान् ने उद्धव से उनके बारे में पूछताछ की।

श्रीउद्धव ने कहा— प्रभो! रैवतक पर्वत के मध्यवर्ती नववृन्दावन में जिस समय आपकी शुभ विजय हुई, उस समय आपका प्रेमतत्त्व ज्ञानहीनजन के दुस्तर्क्य जो विचित्र भाव प्रकाशित हुआ था, उसे अवलोकन करने के लिए खलस्वभावा कंसमाता पद्मावती, श्रीरुक्मिणी प्रमुख देवीगण के साथ उस स्थान से कुछ दूर अलक्षितभाव से अवस्थान कर रही थीं। आपका वह अपूर्वभाव देखकर पद्मा बोली, ओ रे पुण्यहीन देवकि! ओ रे दुर्भगे रुक्मिणी! ओरे नीच सत्यभामे! ओरे हीन जाम्बवति प्रमुख रमणीवृन्द! हाय! तुम क्या श्रीकृष्ण की चेष्टा नहीं देख रही हो? इस समय अपना-अपना सौभाग्याभिमान त्यागकर उन अहीरीगण की दासी होने के लिए कठोर तपस्या करो। उनकी

यह बुरी बात सुनकर परम अभिज्ञा माता देवकी बोलीं— अयि मूर्खे! इसमें आश्चर्य की बात क्या है? मैंने पहले वसुदेव के साथ श्रीकृष्ण को पुत्ररूप में प्राप्त करने के लिए तपस्या की थी, उस तपस्या के फल स्वरूप श्रीकृष्ण ने मेरा पुत्रत्व अंगीकार किया है; किन्तु ननद यशोदा ने केवल भक्ति प्राप्ति के लिए ही ब्रह्मा के पास प्रार्थना की थी। इसीलिए उन्हें भक्ति के प्रभाव से हमारी अपेक्षा अधिक माहात्म्य प्राप्त हुआ है। उन्होंने स्नेह से केवल श्रीकृष्ण का लालन पालन किया है, उससे उनके प्रति श्रीकृष्ण का इस प्रकार का भाव उपर्युक्त ही हुआ है, यह भाव मुझे भी प्रिय लगता है। इसके बाद श्रीरुक्मिणीदेवी ने हर्षपूर्वक जो भी कहा उसको सुनकर सभी भक्तों का श्रीभगवान् में प्रेम वर्द्धित होगा।

श्रीरुक्मिणीदेवी बोलीं— गोपीगण इस लोक और परलोक की सभी प्रकार के विषयों की अपेक्षा पति पुत्रादि का परित्याग कर श्रीवृन्दावन में रसक्रीड़ादि रूप विविध विलास विभ्रम से किसी एक गोपनीय रीति से प्रेमातुर होकर श्रीकृष्ण की सेवा करती थीं। उन्होंने श्रीकृष्ण का उसी प्रकार का कोई रहस्यमय प्रेमविशेष भी लाभ किया है, जो मेरे भावयोग में भी सतत विचारणीय एवं उत्कृष्ट साधन और ध्यान का विषय हो रहा है। इसीलिए हमारी अपेक्षा उन गोपीगण के प्रति प्रभु का अधिकतर प्रेमप्रकाश उपयुक्त ही हो रहा है, कारण यह है कि हम उनकी विवाहिता पत्नी हैं, पतिभाव और सम्मान और गौरवमय भाव से प्रभु की सेवा करती रहती हैं, किन्तु गोपीगण धर्मकर्मादि समस्त विषयों में अपेक्षा रहित होकर परम विशुद्धभाव से प्रभु की सेवा करती हैं। अतएव गोपीगण के प्रति श्रीकृष्ण का भाव हमारी अपेक्षा अधिक एवं उत्कृष्ट होना मन से उचित ही लगता है। श्रीगोपिकागण का यह भाव हमारे मात्सर्य का विषय नहीं है; कारण यह है कि परमोत्कृष्टजन के साथ निकृष्टजन का सापत्न्य भाव नितान्त अनुचित और अयोग्य है, परन्तु यह भावविशेष हमारे लिये परम प्रशंसनीय और श्लाघनीय है।

(इस स्थल पर श्रीरुक्मिणीदेवी की उक्ति का तात्पर्य यह है कि गोपिकागण इह-परकाल की अपेक्षा रहित होकर अनुरागपूर्वक ही श्रीकृष्ण को आत्मसमर्पण करती हैं। श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति होते हुए भी श्रीकृष्ण द्वारा विवाह प्रक्रियात्मक धर्म से स्वीकृता न होने के कारण पण्डितगण इनका 'परकीयाकान्ता' कहकर कीर्तन करते हैं। रसिकशेखर श्रीकृष्ण किसी एक

अनिर्वचनीय प्रेमरस माधुरी का आस्वादन करने के अभिप्राय से योगमाया द्वारा अपनी आनन्दिनीशक्तिगण को परोद्धा अभिमान प्रदान करते हैं। स्वजन और आर्यपथ से विचलित होना कुलवती रमणीगण के लिए परम दुःख का कारण होता है। वे अग्निप्रवेश या विषपान द्वारा मरणादि को सादर वरण कर सकती हैं, किन्तु पातिव्रत्यधर्म लज्जादि का त्याग नहीं कर पाती हैं। ब्रजदेवीगण राग की अदम्य प्रेरणा से वेदमर्यादा, लोकमर्यादा और सब प्रकार के बाधाविघ्न आदि का अतिक्रमण करके श्रीकृष्ण की सेवा करती हैं, इससे उनके कृष्णानुराग की पराकाष्ठा प्रदर्शित होती है।

उनके इस परकीया भाव में रसिकशेखर के रस आस्वादन की असीम वैचित्र्य और अनन्यवेद्यत्व प्रकाशित होता रहता है। तभी रुक्मिणीदेवी बोल रही हैं— गोपिकागण प्रेमातुर होकर सुगोप्य प्रणय और सम्मानपूर्वक श्रीकृष्ण की जिस प्रकार की सेवा करती रहती है, वह उनके (महिषीगण के) पक्ष में परम दुर्गम एवं उत्कृष्ट और साधना का विषय है।

इस ब्रज में अनुराग के प्रबल आकर्षण से नायक नायिका दोनों ही निविड़ प्रेम के सुदृढ़ बन्धन से बँधे रहते हैं, इसमें दिनों दिन कितनी प्रेम-वैचित्र्य और कितना रसविलास है। इस प्रकार की विलास माधुरी महिषीगण की धारणा से भी अगोचर है। कदाचित् श्रीकृष्ण के मध्य रात्रि में भयभीत और सावधानी पूर्वक पैर बढ़ाते हुए चोर के समान श्रीराधादि गोपीगण के प्रांगण के कोने में आकर एकान्त में छिपकर विचित्र संकेत शब्द करने से गोपीगण धीरे-धीरे शैय्या से उठकर सासु आदि के भय से बिना आवाज के द्वार के किवाड़ खोलकर घर से निकलकर श्रीकृष्ण के साथ मिलती रहती हैं एवं गाढ़ालिंगन एवं चुम्बनादि के द्वारा उनको सुखी करती हैं। और कभी-कभी गुरुजन के जागरण से बाधा प्राप्त होने से गुप्त मिलन प्रयासी विरह विधुर नायक नायिका का हृदयाकाश निराशा के घने अन्धकार से ढक जाता है। फिर कभी दिन के किसी भाग में श्रीकृष्ण यमुना पुलिन के संकेतित कुञ्ज में अभिसार कर कोमल पल्लव पुष्पादि से शैय्या रचना करके गोपीगण की प्रतीक्षा में पथ की ओर देखते रहते हैं— वृक्ष के सूखे पत्तों की खरखराहट से प्रिया के आगमन की सम्भावना से हृदय चमक उठता है, और गोपीगण भी यमुना के जल लाने के बहाने से संकेतित कुञ्ज में श्रीकृष्ण के साथ मिलकर उन्हें सुखी करती रहती है। कभी सन्ध्या समय श्रीकृष्ण की मोहिनी वेणुनाद से आकर्षित और उन्मादिनी होकर गोपीगण आत्मीय स्वजनादि की बाधा का

अतिक्रमण करके श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्ण के साथ मिलकर उन्हें विचित्र रसमय-माधुरी आस्वादन कराकर उनका स्वागत कर उन्हें आनन्द प्रदान करती है। इस प्रकार की विचित्ररस परिपाटी पूर्ण कृष्णसेवा स्वकीयाकान्ता महिषीगण के पक्ष में कभी सम्भव नहीं है इसलिए श्रीरुक्मिणी कहती है— यह हमारे मात्सर्य का विषय नहीं हो सकता है। प्राचीन रसशास्त्रज्ञ जिस परोढ़ा नायिका में रस स्वीकार नहीं करते हैं। उसे प्राकृत नायक नायिका के सम्बन्ध में ही समझना चाहिए। श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्ति कमलनयना ब्रजांगनागण के सम्बन्ध में यह नीति स्वीकार नहीं की जा सकती है कारण यह है कि अवतारी रसिक शेखर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण रसतत्त्व के आस्वादन के लिए अपनी ही स्वरूपशक्ति ब्रजसुन्दरीगण को योगमाया द्वारा नित्यही परोढ़ा अभिमान प्रदान करते हैं इससे गोपीगण का विशुद्ध अनुराग धर्म-अधर्म, विचार-अविचार, इस लोक-परलोक के अपेक्षारूप सब प्रकार की उपाधि रहित होता है, इसलिये यह परकीया भाव निरुपाधि और अचिन्त्य है। श्रीभागवत में देखा जाता है, साधुकुल-मुकुटमणि श्रीउद्धव महाशय ने ब्रजसुन्दरीगण के कृष्णानुराग की परिपाटी का दर्शन कर आनन्द से चमत्कृत होकर कहा है— “ब्रजसुन्दरीगण जिस दुस्त्याज्य स्वजन और आर्यपथ उल्लंघनकारिणी पदवी का अवलम्बन करती है, वह मुकुन्दप्राप्ति के असमोर्द्ध उपाय एवं श्रुतिगण के भी अन्वेषण का विषय है।” जो भाव श्रुतिगण के अन्वेषणनीय है, वह अवश्य ही परमानन्द स्वरूप और नित्य परमार्थिक होगा, इसके द्वारा परकीया भाव में शृंगार रसास्वादन की असीम वैचित्री, परमपुरुषार्थता एवं नियत्व स्पष्ट ही प्रकाश पा रहा है।)

श्रीउद्धव ने कहा— हे प्रभो! अन्यान्य महिषीगण ने श्रीरुक्मिणीदेवी के वचनों का अनुमोदन किया, किन्तु सत्यभामादेवी वह सहन न कर पाने के कारण मानागार में प्रविष्ट हो गई। श्रीउद्धव की बात सुनकर श्रीमद् गोपीजवल्लभ ने क्रोधित होकर आदेश किया, महामूढ़ सत्राजित तनया सत्यभामा को यहाँ ले आओ। विदग्धा श्रीसत्यभामा दासीगण के मुख से श्रीकृष्ण का आदेश सुनकर भूमिशैय्या त्याग कर अंग मार्जन करते-करते द्रुतगति से प्रभु के बगल में आकर अपने पति को सन्तुष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुई। वे असमय में मान में प्रवृत्ता होने के कारण लज्जित एवं भीता होकर स्तम्भ की ओट में स्वयं को छिपाये हुए थीं, श्रीभगवान् उनके अंग सौरभादि

के विशेष लक्षणों से उनके आगमन को जानकर क्रोधवेश में बोलने लगे— अरे संकीर्णचित्त सत्राजित तनये। तुमने पहले रुक्मिणी के पारिजात प्राप्ति से जिस प्रकार का मान किया था, आज ब्रजजनों के प्रति मेरे पराकाष्ठाप्राप्त प्रेम को देखकर उसी प्रकार मान कर रही हो? अरे बुद्धिहीने! मैं जो ब्रजवासिगण का इच्छानुवर्ती हूँ, क्या तुम यह नहीं जानती हो? तुम सबको परित्याग करने से यदि ब्रजवासिगण अपना मंगल माने तो मैं शपथपूर्वक कह रहा हूँ कि मैं वास्तव में इसी समय वही करूँगा।

(इस स्थल पर यह जानने योग्य है— जैसा हमने पहले भी कहा है— श्रीकृष्ण को वशीभूत करने का उपकरण एकमात्र विशुद्ध आत्मसुख वासना शून्य ऐश्वर्यज्ञान गन्धहीन प्रेम है। मथुरा-द्वारकावासिगण का प्रेम ऐश्वर्यज्ञान-सम्बलित कुछ कुछ आत्मसुख वासना द्वारा विद्ध किन्तु ब्रजवासिगण का प्रेम आत्मेन्द्रियसुख वासना शून्य, ऐश्वर्यज्ञान गन्धहीन विशुद्ध माधुर्यमय प्रेम है। उस पर समर्था रतिमती ब्रजसुन्दरीगण का प्रेम भावराज्य में अतुलनीय है। श्रीकृष्ण के मन में जो समस्त सम्भोगवासना निरन्तर उदित होती है, उस समस्त वासना समूह की पूर्ति का उपयोगी स्वभाविक चेष्टा सम्पन्न भाव विग्रह ही, गोपीदेह है। अर्थात् जिसका चित्तमन देहेन्द्रियादि श्रीकृष्ण वाञ्छा पूर्ति के उपकरण से ही गठित है। उनकी स्वभावसिद्ध समर्थारति या प्रेमवैशिष्ट्य ही उस उत्कर्ष का कारण है।

भगवत् विषयक सम्भोगतृष्णा से भिन्न मथुरा रति नहीं होती है, वह सम्भोगतृष्णा फिर कहीं-कहीं श्रीकृष्णसुख के लिए और कहीं आत्मसुख के लिए कल्पित होती हैं। जिस परिमाण में कृष्णसुख के लिए कल्पित होती हैं, उसी परिमाण में ही रति निरूपाधि होती जाती हैं। आत्मसुख के लिए कल्पित सोपाधिक रति से श्रीकृष्ण उस प्रकार वशीभूत नहीं होते हैं। ब्रजसुन्दरीगण की समर्थारति में आत्मसुखवासना की गन्ध मात्र भी नहीं है, इसलिए प्रेमवश श्रीकृष्ण इसमें सर्वाधिक वशीभूत रहते हैं। रसशास्त्रकारगण कृष्णसुख और स्वसुख वासना की भिन्नता के अनुसार मधुरारति के साधारणी, समंजसा और समर्था संज्ञा का नाम देते हैं।

संभोगेच्छा द्वारा बहुत प्रकार से विद्धा जो अतिनिविड़ नहीं और श्रीहरि के साक्षात् दर्शन कदाचित् श्रवण से उत्पन्न और सम्भोगतृष्णा ही जिनका निदान या कारण हो, इस प्रकार की मधुरारति को साधारणी कहते हैं। जिस प्रकार कुब्जा ने जब कृष्ण का दर्शन किया तो उसके मन में आया, इस परम

सुन्दर पुरुषरत्न के साथ मेरा संग हो— अर्थात् स्वसुख तात्पर्यमय आकांक्षा का उदय हुआ। इसके बाद मन में आया कि जिन्होंने दर्शन देकर मुझे इस प्रकार सुखी किया, उन्हें कुछ समय के लिए समुचित सेवा द्वारा अपना अंग संग देकर सुखी करूँगी, इस प्रकार संकल्पमती रति उपस्थित हुई। इससे सम्भोगतृष्णा ही इस रति उत्पत्ति का कारण है, इसलिए सम्भोगतृष्णा के हास से रति का भी हास हो जाता है किसी किसी के अभिमत से यह किसी किसी देवांगना, मथुरांगना और विदर्भांगनागण में भी है।

जिस रति से पत्नीत्वाभिमान एवं जो प्रायः गुणादि सुनकर प्रादुर्भूत होता है और कभी कभी सम्भोगतृष्णा द्वारा भी पहचाना जाता है, उसे समंजसारति कहते हैं। जिस प्रकार रुक्मिणी आदि की वयःसन्धि के समय नारदादि के मुखसे श्रीकृष्णगुण श्रवणादि द्वारा उद्बुद्ध स्वाभाविकी रति एवं तत्काल ही कामोद्गम के लिए सम्भोगतृष्णा से उत्पन्न रति यह दोनों ही एक साथ उदित हुए, इन दोनों के एकसाथ मिलने से इसका समंजसा नाम हुआ। पहले वाली अधिक प्रमाणा और बाद वाली अत्यल्प प्रमाणा, इसलिए पहले वाली के साथ मिलकर उसी प्रकार की हो जाती है। महिषीगण की यही समंजसा रति है। इसी में यदि सम्भोगतृष्णा किसी समय पृथकरूप में प्रकाशित होती है, तब हाव भावादि सभी प्रकार के प्रयास श्रीकृष्ण को वशीभूत नहीं कर पाते हैं। तब जिस परिमाण में उसमें प्रेमांश रहता है, उसी परिमाण में श्रीकृष्ण वशीभूत हो पाते हैं। अर्थात् निजापेक्षा श्रेष्ठ भाववतीगण के प्रति श्रीकृष्ण की वश्यता देखकर “मैं भी श्रीकृष्ण को इसी प्रकार वशीभूत करूँगी” इस आशा से श्रेष्ठ भाववतीगण के समान कटाक्ष हाव भावादि प्रकाश करती है; किन्तु हृदय में उस प्रकार का प्रेम नहीं होता है, इसलिए हावभावादि अभिनय के रूप में ही होकर रह जाते हैं। श्रीकृष्ण प्रेम के ही वश हैं; वे किसी के प्रेम को अस्वीकार नहीं कर पाते हैं। इसलिये महिषीगण का जिस परिमाण में शुद्ध प्रेम होता है, उसी परिमाण में ही वशीभूत हैं, मात्र ऊपर से अनुकरण देखकर वशीभूत नहीं होते हैं।

साधारणी और समंजसा से किसी वैशिष्ट्ययुक्त सम्भोगेच्छा (निजेन्द्रिय द्वारा कृष्णेन्द्रियतर्पण रूप प्रीतिमय इच्छा) जो रति की आत्मा है, जो स्वभावतः ही उपस्थित होती है, श्रवणादि की अपेक्षा नहीं करती है, जिस रति की गन्धमात्र से कुलधर्म, धैर्य, लज्जादि की अपने आप ही विस्मृति हो आती है,

जो सान्द्रतम अर्थात् भावान्तर द्वारा सम्पूर्ण रूप से अभेद्य है, उसी का नाम “सामर्थारति” है। साधारणी आत्मसुख हितेच्छा द्वारा सम्पूर्णरूप से विद्धा, समंजसा कभी-कभी विद्धा होती है, इसलिए दोनों प्रकार की रति आत्मसुखगन्ध युक्त, किन्तु समर्थारति की सामर्थ्य इस प्रकार की है कि आत्मसुखेच्छा कभी भी इसको वेध यहाँ तक कि स्पर्श भी नहीं कर पाती है। इस रति को समर्था कहने का उद्देश्य यह है कि यह स्वीयरमण श्रीकृष्ण को सर्वतोभाव से वशीकरण करने में समर्था, ब्रजसुन्दरीगण के कुलधर्म लज्जादि के विस्मृतिकरण में समर्था, यह श्रीकृष्ण के रूप, गुण, लीला माधुर्य के समग्र भाव से आस्वादन में समर्था, स्वीय माधुर्य के आस्वादन दान से स्वयं श्रीकृष्ण को अतिशय चमत्कार सम्पादन में समर्था है, यह समर्था रति ही महाभाव स्तर पर उन्नति कर पाती है। इस कारण ही प्रेमवश श्रीकृष्ण समर्थारतिमती ब्रजसुन्दरीगण के समधिक वशीभूत रते हैं। तभी तो समंजसा रतिमती सत्यभामादेवी के गोपिकागण के प्रति श्रीकृष्ण की वश्यता सुनकर मानिनी होने के कारण श्रीकृष्ण कहते हैं— तुम सब को त्याग करने से यदि वे (गोपीगण) कोई सुखी होती है, तब मैं इसी क्षण तुम्हारा त्याग कर सकता हूँ।)

श्रीकृष्ण ने पुनः कहा— ब्रह्मा ने जो मेरा स्तव करते करते कहा है— “हे कृष्ण! तुम परमेश्वर होकर भी ब्रजवासिगण के प्रत्युपकार में असमर्थ हो” वह कभी भी मिथ्या नहीं है, वह प्रामाणिक सत्य है, कारण यह है कि मैं ब्रजवासिगण का महा ऋणी हूँ। यदि कहो कि आपके ब्रज में जाकर वहाँ वास करने से ही तो उनका ऋण शोध और सन्तोष साधन हो सकता है, इसके उत्तर में मेरा कथन यह है कि मैं यदि ब्रज में जाऊँ और वास भी करूँ, तथापि उनके स्वास्थ्य लाभ व मेरे वियोग जनित दुःख का अन्त होगा कि नहीं, वह भी मैं विचार करके समझ नहीं पाता हूँ कारण मेरी विच्छेद चिन्ता से वे सर्वदा व्याकुल रहते हैं इसलिए उनके हर्ष के निमित्त मैं वहाँ जाकर यदि मधुर विहार भी करूँ, तो वह उनके दुःख को अधिकतर वर्द्धित ही कर देगा। अर्थात् निरन्तर मेरी विरहाग्नि में दग्ध ब्रजवासिगण को अचानक मिलनरूप शीलता प्रदान करने से उनका ताप शान्ति में विनिमय से सौगुना बढ़ ही जायेगा। अग्निदग्ध व्यक्ति का जिस प्रकार अग्नि से ही उपचार होता है, उसी प्रकार मेरी प्रबल विरहाग्नि से दग्ध ब्रजवासिगण को विरह देकर ही उनके

दुःख के कुछ प्रतिकार करने का प्रयास करता रहता हूँ, इसे छोड़कर अन्य कोई विकल्प नहीं देखता हूँ। यदि कहो, उनके समान महाप्रेमिकागण को त्यागकर आपने इस प्रकार की विरहज्वाला क्यों प्रदान की? इसके उत्तर में मेरा कथन यह है कि वे मेरे दर्शन से भी कोई विचित्र प्रगाढ़ भाव के उदय से विकल और मोहित होकर देह दैहिकादि समस्त विषय भूल बैठते हैं। इसलिए मेरे प्रति परमावेश से उनका वाह्य अनुसन्धान न रहने से क्या विरह और क्या मिलन में सर्वदा ही मैं उनके वाह्य-स्वास्थ्य सम्पादन में असमर्थ रहता हूँ। अर्थात् मेरे मिलन में भी भावी-विरह की आशंका से निरन्तर उनके चित्त में एक अभावनीय ज्वाला का भोग होता रहता है।

फिर मेरे अदृश्य होने से वे कभी प्रदीप्त विरहानल से विकल कदाचित् मृतप्राय होते हैं, कभी-कभी उन्मादग्रस्त होकर विविध मधुर भावों का आश्रय करते रहते हैं। वे मेरे वर्णसाम्य से तिमिरपुञ्ज तमालादि को देखकर मेरी स्वरूपबुद्धि से उसी को चुम्बन-आलिंगन आदि करते रहते हैं यह सब विषय मैं यहाँ किससे कहूँ। अर्थात् इस प्रकार आवेशमय भाव अनुभव करने की उपयोगिता द्वारका के परिकरगण के प्रेम में नहीं है। इसलिए मेरा ब्रज में वास करना या न करना दोनों ही एक समान मन में विचारकर वहाँ नहीं जाता हूँ। तब भी तुम सब के साथ जो विवाह किया है, उसका कारण सुनो।

[टिप्पणी :- विरह ही ब्रजवासिगण के प्रेम को इतना उन्नत करके रखता है। कृष्ण विरह प्रेम-विशेष का परम महत्व एवं स्वाद ब्रजवासिगण ही आस्वादन करते रहते हैं। भगवत् विरह प्रेम से ही उत्पन्न होने के कारण विरह के बीच में एक अनिर्वचनीय आस्वादन अन्तर्निहित है। यद्यपि समस्त भक्तों को भगवत् प्राप्ति के अभाव में विरहदशा उपस्थित होती है, तथापि अन्यान्य भक्तों को उस प्रकार के प्रेम के अभाव हेतु ब्रजवासिगण के समान विरहार्ति पूर्णरूप से उदित नहीं होती है। इस कारण उन्हें विशेष महासुख का लाभ प्राप्त नहीं होता है।]

अयि मानिनि! पहले मथुरावास के समय गोपीगण के साथ विच्छेद होते हुए भी मेरे विवाह करने की कोई इच्छा नहीं थी, परन्तु रुक्मिणीदेवी मुझे न पाने पर प्राणत्याग करने का संकल्प ले चुकी थीं; इसलिए मेरे पास एक आर्त्तिसूचक विज्ञप्तिपत्रिका भेजी थी एवं उनके द्वारा भेजे गये पत्र वाहक के मुख से भी उनकी आर्ति का वृत्तान्त सुनकर श्रीरुक्मिणी को हरण करके इनका पाणिग्रहण किया है किन्तु श्रीरुक्मिणी को देखकर मेरी उन गोपीगण की स्मृति महाशोकार्तिजनक हो गई थी, अतः मैं अत्यन्त व्याकुल हो गया था। इस शोकार्ति से कुछ स्वस्थ होने के लिए मेरी प्राप्ति कामना में कात्यायनी

ब्रजपरायणा ब्रज की सोलह सहस्र एक सौ गोपकुमारियों के साथ तुम्हारी संख्या की समानता देखकर तुम सबसे विवाह किया है।

मैं ब्रजवास के समय महामोहन ब्रजवासिगण के साथ विचित्र मनोवांछित विहाररूप आनन्दसिन्धु में निरन्तर निमग्न रहते हुए रात दिन तक को नहीं जान पाता था। ब्रजवासिगण की तो बात ही दूर रहने दो, उस समय मेरे अपूर्व रूप वेश और वंशीरवामृत के द्वारा विश्वचराचर ही प्रेम से सम्मोहित हो गया था। इस समय मैं वही हूँ, किन्तु इस समय मैं अपने स्वजाति यादवगण को भी वह भाव प्राप्त नहीं करा पा रहा हूँ। इस समय वंशीध्वनि से तुम्हारे समान मानिनी का मान भञ्जन करने का प्रयास भी मेरे लिए दुष्कर हो रहा है इसलिए लज्जावश मुरली का भी परित्याग कर दिया है। (सत्यभामा का मान सहजसाध्य होने के कारण मानभञ्जन के लिए वंशी की आवश्यकता नहीं है। इसलिए वह मान ब्रजसुन्दरीगण के मान के समान प्रगाढ़ नहीं है।

“ब्रज गोपीगणेर मान रसेर निधान।” (चै. च.)

विशेषतः यहाँ पर कृष्णराजराजेश्वर हैं, और मुरली गोपक्रीड़ा की वस्तु है, इसलिए राजराजेश्वर के पक्ष में मुरलीद्वारा महिषी का मानभञ्जन लोकलज्जा कारक है। वस्तुतः उनकी मुरली माधुरी ब्रज की ही अनन्य साधारण सम्पद् हैं इसलिए यहाँ (द्वारका में) मुरली त्याग दी है। क्योंकि यथा स्थान पर ही श्रीकृष्ण की महिमा का आविर्भाव होता है।)

ओह कितना दुःख! मैंने ब्रज में जिस प्रकार की लीला की थी एवं जिस रूप से आनन्दपूर्वक वास किया था, यहाँ उस प्रकार की लीला तो दूर, उसका वर्णन करने में भी मैं असमर्थ हूँ। उन ब्रजवासिगण के समान मेरे प्रिय एक श्रीवादरायणि (शुकदेव) हैं, वही उस प्रकार महाप्रेम से मेरे द्वारा रक्षित, निज सदृश, प्रिय शिष्यवर, श्रीपरीक्षित् को परम गोपनीय इस ब्रजलीला का किञ्चिन्मात्र श्रवण करायेंगे। वस्तुतः इस प्रकार के रसिक वक्ता और श्रोता के प्रभाव से ही यह निगूढ़ ब्रजलीला रस कलिकाल में भी कहीं कहीं संचारित होगा।

[टिप्पणी :- दुस्तर्क्य श्रीकृष्णलीला का ही इस प्रकार का अचिन्त्य प्रभाव है। इसमें विशेषरूप से ब्रजलीलाका प्रभाव सर्वाधिक है, जिसके कारण ब्रजवासिगण के प्रेममाधुर्य के सान्निध्य से श्रीकृष्ण का समधिक लीलामाधुर्य का विकास होता है। वे स्वयं ब्रजलीला वर्णन करते हुए ब्रज प्रेम की स्मृतिवश सम्बेदन रहित हो गये, और आगे वर्णन न कर सके। किन्तु माधुर्योपासक भक्त के हृदय में श्रीलीला स्वयं ही स्फुरित होती रहती है।]

श्रीपरीक्षित बोले— हे मातः! श्रीभगवान् के इस प्रकार ब्रजभाग्यवैभव के संकीर्तन में प्रवृत्त होने पर पुनः उसी प्रकार भावाविष्टहोने की आशंका से उन्हें उक्त कार्य से निवृत्तकरने के लिए मन्त्रिवर श्रीउद्धव ने महिषीवृन्द को संकेत द्वारा प्रेरित किया एवं श्रीकृष्ण को भोजन कराने के निमित्त माता देवकी और रोहिणीदेवी को अन्नपानादि के साथ वहाँप्रवेश कराया। इसके पश्चात् श्रीबलदेव द्वारा श्रीनारद के द्वार पर अवस्थित होने के समाचार से भी उन्हें अवगत कराया।

श्रीभगवान् ने तब कुछ हँसते हुए कहा— आज श्रीनारद पहले जैसे यहाँ क्यों नहीं आ रहे हैं? आज उन्हें द्वार पर किसने रोक रखा है? प्रत्युत्तर में श्रीउद्धव जी ने कुछ हँसकर कहा— हे प्रभो! उनकी अपनी लज्जा और भय ने ही उन्हें रोक रखा है। तब भगवान् स्वयं उठकर श्रीनारद को गृह के अन्दर प्रवेश कराते हुए कहने लगे— हे सुहृत्तम् नारद! आप मेरी प्रीति सम्पादन में व्यग्र हैं, अतएव हे रसिकोत्तम! आज आपने मेरी अशेष प्रीति उत्पादन की है।

हे देवर्षे! प्रियजनों की स्मृति से यद्यपि पहले विरह दावानल के कारण अन्तर में तीव्र सन्ताप जन्म लेता है एवं उससे असीम दुःख और शोक का प्रादुर्भाव होता है, फिर भी यह दुःख परिणाम में परम सुख स्वरूप है इसलिए मिलनानन्द से भी प्रशंसनीय किसी एक अनिर्वचनीय प्रमोदराशि की स्फूर्ति करा देता है। अर्थात् यह दुःख प्रेम से उत्पन्न होने के कारण विरह जनित गाढ़ दुःख की परिपाक अवस्था में भी प्रमोदराशि उदित होती है, यह एकमात्र रसिकजन के ही जानने योग्य है। विरह जनित शोक दुःख समाप्त होने के बाद चित्त सम्यक् प्रसन्न होकर मिलनानन्द सम्पन्न होने के समान महासुख में स्थिर हो जाता है। इस प्रकार से अभीष्ट वस्तु की निरन्तर स्फूर्ति हेतु अन्तःकरण सर्वदा पूर्णरूप से प्रसन्न होता है। (ब्रह्मानन्द की अपेक्षा भजनानन्द अधिक एवं भजनानन्द की अपेक्षा प्रेमानन्द अधिक, फिर प्रेम से उत्पन्न विरह-शोकार्ति मिलनानन्द की अपेक्षा भी प्रेमिक के चित्त में कोई अनिर्वचनीय परमानन्द का अनुभव कराता है। इसलिए विरह-विधुरचित्त महाशोकार्ति रोदनरूप भाव के स्थायित्व की इच्छा करता रहता है एवं विरह के लिए शोकादि आर्तिभाव का अभाव होने से चित्त में अत्यन्त दुःख का उदय होता रहता है। हे देवर्षे! दुःख कोई भी नहीं चाहता है— सभी सुख के लिए प्रयासरत हैं, इसलिये मेरा मन्तव्य यह है कि अग्नि प्रतियोगी बर्फ खण्ड के स्पर्श से हाथ

पैर आदि अंगों में अत्यन्त शीत उपस्थित होने से जलते हुए अंगार के स्पर्श के समान अनुभूति होती है, लेकिन जलते हुए अंगार की अनुभूति जिस प्रकार वहाँ मिथ्या होती है, महाशीत ही सत्य होता है; उसी प्रकार विरही की दुःख की प्रतीति भी मिथ्या है, सुख ही वास्तव में सत्य है। फिर जिसके विचार में विरह दुःख रुचिकर नहीं है, प्रियजन का स्मारक होने के कारण वह भी विरह को परमोपकारी कहकर ही मन में धारण करते हैं। जिस किसी भी प्रकार से प्रियजन के स्मरण कार्य को प्रेमिकगण का

[टिप्पणी:- श्रीकृष्ण प्रेम परम सुखस्वरूप है, इस कारण प्रेम ही से उत्पन्न विरह-शोकान्ति का ही इस प्रकार का प्रभाव समझना चाहिए। सांसारिक प्राकृत प्रीति में परस्पर का विरह वास्तव में दुःखमय ही होता है।]

जीवनदान ही जानना चाहिए। कारण यह है कि प्राणाधिक प्रियजनों की विस्मृति मरण से भी अधिक निन्दनीय होती है। यद्यपि अपने जीवन के समान ही प्रियजनों का विस्मरण कदापि सम्भव नहीं है, फिर भी किसीरूप में उनकी विशेष स्मृति होने से वह जीवनदान के समान अतिशय आनन्दप्रद हो जाती है। अर्थात् प्रेम की विचित्र परिपाकमय प्रक्रियाविशेष के सहित जो स्मृति है, वह उत्कृष्ट जीवन के समान आनन्द प्रदान करती रहती है।

हे देवर्षे! आज आपने श्रीगोपिकागण का स्मरण कराकर मेरा परमोपकार साधन किया है। अतएव मुझे आपके प्रति परम प्रीति हो रही है, इस समय आप स्व-अभीष्ट वर के लिए प्रार्थना कीजिए।

श्रीपरीक्षित जी बोले— मातः! यह बात सुनकर देवर्षि “जय-जय” शब्द उच्चारण करते हुए वीणागीत के साथ —हे गोकुल महोत्सव! हे यशोदानन्दन! हे गोपीजन मनोहर! इत्यादि इत्यादि ब्रजलीला से प्रकाशित नामसमूह का कीर्तन करते-करते श्रीभगवान् का स्तव करने लगे। मुनिवर ने स्वयं प्रयाग के दशाश्वमेध तीर्थ से द्वारकापुरी पर्यन्त भ्रमण करके जिस-जिस भक्त के साथ सम्भाषण किया था; वह सभी श्रीभगवान् के अनुग्रह से पूर्णता प्राप्त किये हैं जानते हुए भी मुनिवर हर्षसहित साक्षात् श्रीभगवान् के मुख से सुनने के लिए उदारचूड़ामणि श्रीभगवान् के निकट अपने हृदय के एक परमोत्कृष्ट वर की प्रार्थना करने लगे। श्रीमुनि बोले— हे श्रीकृष्णचन्द्र! आनन्दस्वरूप आपके अनुग्रह से, भक्ति से, और प्रेम से कभी किसी की तृप्ति न हो, यही मेरा प्रार्थित वर है। श्रीभगवान् बोले— हे विदग्ध-चूड़ामणि नारद! आपने यह कैसे वर की प्रार्थना की है? मेरी कृपा भक्ति और प्रेम का

इस प्रकार का स्वभाव ही है यह तो सभी जानते हैं। भक्ति से कभी भी किसी की तृप्ति नहीं होती है, यह भक्ति का स्वाभाविक धर्म है, इसलिये आपका प्रार्थित वर व्यर्थ हो गया। हे मुने! आप ने प्रयागतीर्थ से आरम्भकर यहाँ तक भ्रमण करके यहाँ आकर जिस-जिस भक्त के विषय में जो सुना और दर्शन किये, वे सभी मेरे कृपापात्र हैं इसलिए सब कुछ प्राप्त कर चुके हैं, और सभी विश्व के निस्तार कारक हैं, यद्यपि प्रेम की उत्पत्ति और थोड़ी बहुत भिन्नता के अनुसार उनके बीच में तारतम्य है, किन्तु एकजन भी किसी प्रकार से परितृप्त नहीं है। अर्थात् प्रयागतीर्थ से आरम्भ कर द्वारका पर्यन्त जिन-जिन भक्तों के साथ आपने बातचीत की है, उनमें पहले के बाद वाले भक्त उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है, इस विचार के अनुसार परम भगवती श्रीराधिका और ब्रजगोपीगण ही सर्वापेक्षा श्रेष्ठ भक्ततत्त्व सिद्ध होते हैं, इस प्रकार की भिन्नता के बावजूद अपने-अपने रसोत्पन्न सुख की पराकाष्ठा-सम्पत्ति से उन सबकी पूर्णता सिद्ध होती है, किन्तु उनमें से कोई भी प्रेमभक्ति से परितृप्त नहीं है। इसलिए आप मेरे पास किसी और अभीष्ट वर की प्रार्थना करिये।

श्रीपरीक्षित बोले— मातः! श्रीभगवान् की बात सुनकर श्रीनारद ने हर्षित हो नृत्य करते-करते वदान्य शिरोमणि श्रीकृष्ण के पास भिक्षा के समान दो उत्कृष्ट वरों की प्रार्थना की। श्रीनारद बोले— हे स्वदान से भी अतृप्त भगवन्! इस समय मेरा समस्त श्रम सफल हुआ, कारण यह है कि मैंने आपकी महान् करुणा के समस्त पात्रों को विशेषरूप से जाना है। अर्थात् परम भगवती श्रीगोपीगण ही जो आपकी करुणा की सार या चरमसीमा प्राप्त कृपापात्र हैं, वह मैं इस समय भली प्रकार अनुभव कर रहा हूँ। यही मेरा उत्तम वर लाभ एवं यही मेरे पक्ष में आपका उत्कृष्ट अनुग्रह इस समय बोध हो रहा है। यद्यपि इस प्रकार से मेरा वर लाभ हो गया है, फिर भी मेरे हृदय में चिरकाल से विराजमान कुछ कामना रही है, इस समय उसी के बारे में प्रार्थना कर रहा हूँ। हे उदारशेखर! आपका अदेय कुछ भी नहीं है, इसलिए आप अवश्य ही मेरी उस वासना को पूर्ण करेंगे। हे ब्रजजन के प्रेमरूप सरोवर में संचरणशील राजहंस! श्रीगोपकुलरूप क्षीरसागर से निकले परम अनिर्वचनीय गोपवेश और लीलादि के द्वारा प्रकाशित मधुर से भी सुमधुर आपका सर्वशोभायुक्त नामामृत मैं जैसे अविरत पान करते-करते उन्मत्त होकर समस्त लोक को आनन्दित करते हुए विश्व में सर्वत्र विचरण करूँ,

यही मेरा प्रथम वर हैं मेरा द्वितीय वर यह है कि जो कोई व्यक्ति विश्वास के साथ आपकी ब्रजलीला वाक्य द्वारा वर्णन करे, कर्ण द्वारा श्रवण करे, अथवा जिस किसी भी अंग-प्रत्यंग द्वारा आपकी यह क्रीड़ा एकबार भी हृदय में भी धारण करे या आपकी क्रीड़ाभूमि स्पर्श करे, अर्थात् जो लीलास्थान महात्म्य में विश्वस्त होकर वाक्य द्वारा, नेत्र द्वारा, कर्ण द्वारा या अन्य किसी अंग प्रत्यंग द्वारा एकबार भी आपकी स्मारक श्रीवृन्दावनादि क्रीड़ाभूमि स्पर्श करे (अंग प्रत्यंग द्वारा क्रीड़ा स्पर्श का भाव यह है कि उस उस क्रीड़ा विज्ञापक श्रीभागवत महापुराणादि स्पर्श, और वाक्य द्वारा स्पर्श का अर्थ ब्रजभूमि सम्बन्धी महिमा कीर्तन, अंग द्वारा क्रीड़ाभूमि स्पर्श का तात्पर्य ब्रज की रज से अंग स्पर्श समझा जाता है।) वे श्रीराधिकादि गोपीकुचकलसरूप मंगलघट के कुंकुम द्वारा विलसित और शोभायमान उनके पादपद्मयुगल में प्रेमभक्ति लाभ करे।

श्रीपरीक्षित ने कहा— मातः! श्रीनारद की बात सुनकर श्रीगोपीनाथ ने आदर के साथ श्रीकरकमल फैलाकर “यही हो” यह बात कही। इसके बाद श्रीनारद ने परमानन्दसिन्धु में मग्न होकर बार-बार नृत्य और कीर्तन करते-करते श्रीकृष्ण को अतिशय आनन्दित किया। बाद में श्रीकृष्ण और बलराम के साथ श्रीनारद ने विविध पेय और परमान्न इत्यादि का भोजन किया, भोजन के साथ श्रीरुक्मिणी देवी परिवेषण करने लगी और माता और रोहिणी परिदर्शन करने लगी। श्रीउद्धव भोजन द्रव्यसमूह का स्मरण कराने लगे, अर्थात् “इसे खाओ, यह तुम्हारी प्रिय खाद्य वस्तु हैं, इसे खाओ” इत्यादि प्रकार से सब द्रव्य भोजन स्मरण कराने लगे। श्रीसत्यभामा देवी पंखा करने लगीं और जाम्बवती आदि महिषीवृन्द समयोचित चेष्टा द्वारा आनन्दित करने लगीं। इस प्रकार भोजनोपरान्त आचमन करके श्रीकृष्ण ने स्वयं मुनिवर के देह में गन्धद्रव्य लेपन और माला चन्दन आदि विभिन्न अलंकारों से विभूषित कर उनकी पूजा की। इसके बाद भक्तिलम्पट श्रीनारद ने श्रीमाधव की आज्ञा लेकर प्रयाग में उनकी प्रतीक्षा में रत मुनिगण को कृतार्थ करने के उद्देश्य से, यत्र तत्र भ्रमण कर जिस भक्तिमहात्म्य का अनुभव किया था, वीणायोग से वही गान करते-करते वहाँ के लिये चल

[टिप्पणी:- श्रीगोपीकुच-कलशरूप मंगल घट कुंकुम द्वारा विलसित और शोभायमान पादपद्म कहने का तात्पर्य “श्रीगोपीप्रेमानुसार सर्वोत्तम स्तरीय प्रेमभक्ति लाभ करेंगे” इस प्रकार के परम दुर्लभ वर की प्रार्थना की, समझना चाहिए।]

दिये। उन सारग्राही मुनिगण ने भी श्रीनारद के श्रीमुख से महा-अद्भुत भक्ति महात्म्य सुनकर उसी क्षण कर्म ज्ञान आदि साधनों को पूर्ण रूप से परित्याग कर श्रीनारदकी शिक्षा के अनुसार परम दैन्य अवलम्बन पूर्वक श्रीमन्मदनगोपालदेव के श्रीचरणयुगल की उपासना प्रारम्भ कर दी।

श्रीपरीक्षित बोले— हे मातः! आप भी गोपीगण के दास्य की कामना करते हुए उन प्रेममोहिता गोपीगण के द्वारा परिवेष्टित रासरस-सागर गोपकिशोर का उसी प्रकार प्रेम भक्ति के सहित उनके नाम कीर्तन परायणा होकर नित्य ही भजन करिये। मक्षिका जिस प्रकार सुमेरु पर्वत को धारण नहीं कर सकती है, उसी प्रकार मैं भी उनमें से किसी एक गोपी की भी महिमा का वर्णन नहीं कर पाऊँगा। अहो! मेरे गुरुदेव श्रीपादवादरायणि श्रीकृष्णप्रिया रुक्मिणी इत्यादि के समस्त नामों का सदा कीर्तन करते रहते हैं, किन्तु वे कभी भी श्रीब्रजगोपीगण का नाम मुख से उच्चारण नहीं करते हैं। कारण यह है कि अति विस्तृत सर्वविलक्षण परम पराकाष्ठा प्राप्त प्रेमरूप अनलशिक्षा के ताप से निरन्तर दग्ध गोपीगण का नाम कीर्तन करने से उनकी विशेष स्मृति हेतु गोपियों के हृदय में स्थित तीक्ष्ण प्रेमानल में उठी स्फुलिंग के स्पर्शमात्र से ही वे विकल हो जायेंगे, इसलिए गोपीगण के नाम कीर्तन में वे समर्थ नहीं हुये। परन्तु गोपीगण के नाम कीर्तन में वे समर्थ नहीं हुये। परन्तु गोपीगण की बात न कहने से, श्रीभागवत के कथन की कोई सार्थकता नहीं रह जाती है इसलिए श्रीरासादि लीला में अत्यन्त सावधानी से सामान्यतः उसकी भाव परिपाटी वर्णन के बीच में उनका थोड़ा सा परिचय प्रदान किया है।

हे मातः! आप यदि उन वल्लवीगण के सहित राम क्रीड़ा के अनुरूप श्रीवल्लवीनाथ का प्रेम सहित भजन करें, तो उनके प्रसाद से आप भी गोपीगण की महिमा से कुछ कुछ अवगत हो पायेंगी। मातः! जो इस श्रेष्ठ उपाख्यान को श्रद्धा के साथ श्रवण कीर्तन या जिस किसी प्रकार से भी आश्रय करेंगे, वे भी शीघ्र ही श्रीगोपीगणों के चरणों में उनकी आनुगत्यमयी प्रेमभक्ति को लाभ कर धन्य हो जायेंगे।

श्रीजैमिनी मुनि से महाराज जनमेजय ने इस अपूर्व परीक्षित-उत्तरा सम्वाद रूप महदाख्यान कीर्तन को सुना और श्रीभागवत की परमसार वार्ता सुनकर श्रीजनमेजय ने परमानन्द लाभ किया।

इति श्रीवृहद्भागवतामृत-प्रथम खण्ड “मर्मानुवाद” समाप्त।

श्रीश्रीवृहद्भागवतामृत

द्वितीय खण्ड (गोलोक महात्म्य)

प्रथम अध्याय (वैराग्य)

प्रथम खण्ड में श्रीजनमेजय ने महर्षि जैमिनी के निकट श्रीकृष्णकृपापात्र भक्तगण का क्रमोत्कर्ष सुनकर परमानन्द लाभ किया और श्रीजैमिनी से बोले— हे गुरो! मेरे पिता ने श्रीकृष्णप्रेमाप्लुतचित्त से अपनी माँ उत्तरादेवी को भगवद्भक्ति पर श्रीमद्भागवतादि शास्त्र का परमोपादेय सारतर अंश संग्रह करके सुनाया है, यह तो सत्य ही है, किन्तु हे मुनिवर! वह आपके श्रीमुखपद्म-सौरभवासित होने से और भी इतना मधुर हो गया है कि मैं उसे सम्यक् रूप से पान करके भी तृप्त नहीं हो पाया हूँ। (भगवत्-कथामृत स्वतः ही मधुर है, फिर यदि वह महाभागवत भक्तगण के श्रीमुखकमल से सुगन्धित हुआ हो तो यह उनकी अनुभूति या भजनरस से परिनिषिक्त होकर अधिकतर मधुर, आस्वाद्य और शक्तिशाली हो जाता है और श्रोता का अनर्थ आदि नाश करके भगवत्कथा में प्रबल रुचि और लालसा उत्पन्न कराता है— यही जनमेजय के अनुभव सम्बलित वाक्य का तात्पर्य है।) अतएव हे मुने! श्रीकृष्णपदारविन्द रसलुब्ध उस माता-पुत्र के अन्य समस्त सुधासारमय सम्वादों का वर्णन कीजिए।

श्रीजैमिनी बोले— हे राजन्! सर्वज्ञ ब्रह्मानुभविगण का भी दुर्ज्ञेय प्रेमरसमय यह उत्तरापरीक्षित सम्वाद अपनी स्वयं की शक्ति द्वारा कोई भी वर्णन करने में समर्थ नहीं है, मैंने श्रीपाद शुकमुनि की कृपा से यह आख्यान उत्तरा-परीक्षित के पास में बैठकर निविष्ट भाव से सुना था। हे महाभाग परम रहस्यमय तत्त्व भी स्निग्ध शिष्य के पास वर्णन किया जाता है, यही श्रुति और महाजनगण का सिद्धान्त है। अतएव तुम इस समय माता पुत्र के इस रहस्यमय सम्वाद गोलोक महात्म्य को सुनो। (श्रीजैमिनी सर्वज्ञ और ब्रह्मानुभवी होते हुए भी समझकर कह रहे हैं कि महत्कृपा के बिना सर्वज्ञता आदि शक्ति के द्वारा भगवत् तत्त्वानुभव नहीं हो सकता है और शुकमुनि की कृपालु उतरा-परीक्षित सम्वाद सुनने की अनुभूति के बल से ही यह आख्यान जनमेजय को सुना रहे हैं। इसीलिए यह सुमधुर और हृदयग्राही हो रहा है, ऐसा समझना चाहिए।)

हे राजन्! तुम्हारी दादी श्रीउत्तरादेवी श्रीकृष्णकृपापात्र निर्धारणरूप प्रथम खण्ड की अपूर्व कथा सुनकर, उन कृष्णकृपापात्रगण के भोगस्थान वैकुण्ठ से भी उत्कृष्टतम होंगे यह निश्चित करके भी वे किस रूप में उत्कृष्ट होंगे यह निश्चय नहीं कर पायी अतः परीक्षित् से प्रश्न करने लगी। श्रीउत्तरा बोलीं— हे वत्स! चौदह भुवनों में भू, भुव एवं स्वर्ग यह तीन लोक सकाम पुण्यकारी गृहस्थ के भोगस्थान हैं। उससे ऊपर महः जन तप और सत्यलोक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और यतिगण के भोगस्थान हैं। सकाम कर्मिगण कर्मफलानुसार स्वर्गादि के भोगोपरान्त फिर पृथ्वी पर लौट आते हैं एवं महर्लौकादि को गये हुए निष्काम स्वधर्मपरायण महाप्रलय में ब्रह्मा के साथ मुक्ति को प्राप्त होते हैं। इनमें से कोई कोई क्रियापर योगी अर्चिरादि मार्ग से वहाँ पर स्थित भोग समूह को भोग कर क्रमशः मुक्त होते हैं, इसको 'क्रममुक्ति' कहते हैं। कोई-कोई ज्ञान वैराग्य परायण यति देहान्त के बाद शीघ्र ही मुक्तिलाभ करते हैं— इसके सद्यःमुक्ति कहते हैं। भक्तिसाधकगण में जो सकामभक्त है, वह भी भक्ति के प्रभाव से कर्म परतन्त्र न होकर स्वेच्छ से अपनी वासना रूप सुखभोग कर अन्त में भक्ति के प्रभाव से ही विशुद्ध और निष्काम होकर भोगान्त में श्रीभगवद् धाम को चले जाते हैं। जो निष्काम भक्त है, वे सच्चिदानन्दघन मुक्तगण के लिए भी दुर्लभ वैकुण्ठछपद शीघ्र ही लाभ करते हैं इस सुख या आनन्द के समक्ष मुक्तिपद भी अति तुच्छतितुच्छ हो जाता है। इन समस्त भक्तगण में कोई ज्ञानमिश्र भक्त, कोई शुद्धभक्त, कोई प्रेमभक्त, कोई प्रेमपर भक्त कोई प्रेमातुर भक्त होते हैं; यह सब भक्त होते हुए भी इनमें परस्पर में भावान्तर होता है, अतएव भाव के अनुसार फल का भी तारतम्य अवश्य ही रहेगा। किन्तु यदि एक ही वैकुण्ठ में सभी की गति है, तो फल का भी तारतम्य (विभिन्नता) किस प्रकार सम्भव हो सकता है? किन्तु वैकुण्ठ से भी उत्कृष्ट स्थान की तो बात भी नहीं सुनी जाती है। यद्यपि वैकुण्ठ में सालोक्य आदि चार प्रकार के मुक्ति प्राप्त भक्तगण के वहाँ पर स्थित प्रदेश विशेष (अयोध्या द्वारकादि से) के सुख का यथासम्भव भेद या वैशिष्ट्य सुना जाता है तथापि रासरसिक श्रीकृष्ण के असाधारण भक्तगण की गति क्या होती है, यही मेरी जिज्ञासा का विषय है। फिर जो सब प्रकार के साध्य साधन से कामना रहित होकर श्रीराधा की दास्य-कामना से उनके ही समान रहस्यमय भजन का अनुष्ठान करते हैं, उनका प्राप्यस्थान एवं आनन्द

यदि साधारण भक्तगण के समान ही हो, तो मेरा अन्तर परितृप्ति लाभ नहीं कर पायेगा। हे वत्स! नन्दयशोदा आदि की उसी प्रकार की गति (वैकुण्ठ अवस्थान) मैं कभी भी सहन नहीं कर सकता हूँ। तुमने जो कृष्णकृपापात्र निर्णय के प्रसंग में ब्रज के गोप गोपीगण के विविध महत्व की पराकाष्ठा का वर्णन किया है, उनके लिए वैकुण्ठ से भी परम रहस्यमय एक स्थान अवश्य ही अपेक्षित होना चाहिए, उस स्थान के महत्व की बात कहकर मेरा विषादसिन्धु से उद्धार करो। (माता उत्तरा के प्रश्न के विषय में जानने योग्य तत्त्व यह है कि भक्ति के स्तर और परिमाण के अनुसार भक्तगण का भगवत् सेवानन्द रसास्वादन का वैशिष्ट्य होता है और उसके अनुरूप रहस्यमय स्थान विशेष पर ही उस प्रकार का आस्वादन निष्पन्न हो सकता है। श्रीउत्तरा ने जिन पाँच प्रकार के भक्तों की बात का उल्लेख किया है— उनमें प्रथम ज्ञानमिश्र भक्त जिस प्रकार भरत आदि, यहाँ ज्ञान कहने से मुक्ति को तुच्छबुद्धि से भगवत्सहिमा विषयक ज्ञान ही समझना चाहिए, कारण यह है कि मोक्ष से सम्बन्धित ज्ञानी को कभी भी भक्त के रूप में नामांकित नहीं किया जा सकता है। द्वितीय— शुद्धभक्त, जिनकी भक्ति कर्म ज्ञान और वैराग्यादि द्वारा अनावृत है, जो मात्र भक्ति की ही कामना करते रहते हैं, जिस प्रकार अम्बरीष इत्यादि। तृतीय—प्रेमभक्त जो श्रीभगवान् की मात्र प्रेम सेवा की ही आकांक्षा करते रहते हैं, जैसे श्रीहनुमान् इत्यादि। चतुर्थ— प्रेमपर भक्त, प्रेमैक तात्पर्ययुक्त, श्रीभगवान् के साथ सौहार्द्र श्रृंखला में आबद्ध, जैसे युधिष्ठिरादि पाण्डवगण। पञ्चम—प्रेमातुर भक्त, सतत प्रेम सम्पत्ति द्वारा विह्वल, जैसे श्रीउद्धवादि। इनमें भी पहले से बाद वाले भक्त का श्रेष्ठत्व समझना चाहिए। शुद्धभक्ति एवं प्रेमभक्ति स्वरूपतः एक होते हुए भी प्रेमनिष्ठा के कारण शुद्धभक्त से प्रेमभक्त श्रेष्ठ है, प्रेमभक्त से प्रेमपर भक्त एवं उसकी अपेक्षा प्रेमातुर भक्त को श्रेष्ठ समझना चाहिए। वह प्रेमातुर भक्त उद्धवादि भी सानन्द चमत्कार से जिन सब ब्रजवासिगण की महिमा का कीर्तन करते हैं, उन ब्रजवासिगणों का भी यदि ऐश्वर्य की विलासभूमि वैकुण्ठ में ही श्रीभगवान् के साथ विहार आदि होता हो तो फिर उनका विशेष उत्कर्ष स्थापन नहीं हो पाता है। यद्यपि इस विश्व में श्रीवैकुण्ठादि की अपेक्षा भी परम श्रेष्ठ श्रीमथुरामण्डल विराजमान हो रहा है और यही नन्दादि ब्रजवासिगण के साथ श्रीभगवान् के क्रीड़ा सुख सम्पादन का योग्य स्थान है; फिर भी भौम मथुरा मण्डल को प्रपञ्चान्तर्गत कहकर

उसजनों की दृष्टि में इसके मायिक स्वरूप की सम्भावना रहती है और धामवासीगणों के देह-विकारादि देखकर एवं ब्रह्माण्ड आदि के नाश के साथ ही धाम नाश इत्यादि की आशंका के उदय होने के कारण जन साधारण में वैकुण्ठादि के समान इसके महात्म्य विशेष की स्फूर्ति नहीं होती है। इस कारण से ही इस प्रकार का प्रश्न उठा है। इस प्रकार के उत्तर में वैकुण्ठादि के भी चरम शिखर पर नन्दादि गोपगण के प्राप्य स्थान श्रीगोलोक वृन्दावन का माहात्म्य का वर्णन होगा एवं उसके बाद भौमब्रज में भगवतविहारादि का वैशिष्ट्य और वैकुण्ठ से भी ऊपर गोलोक वृन्दावन से भी बढ़कर भौमब्रज के रसोत्कर्ष विशेष का वर्णन होगा। “सर्वोपरि श्रीगोलोक ब्रजलोक धाम। श्वेतद्वीप श्रीगोकुल वृन्दावन नाम ॥ ब्रह्माण्डे प्रकाश तार कृष्णे इच्छय। एकइ स्वरूप तार नाहि दुइ काय ॥)” (चै. च.)

श्रीजैमिनी ने कहा— हे राजन्! महाराज परीक्षित् माता उत्तरा के इस मनोरम प्रश्न से परमानन्दित होकर सजल नयन और रोमांचित वदन से उनको प्रणाम करके बोले— हे श्रीकृष्णजीविते! हे मातः! यह प्रश्न तुम्हारे ही योग्य है, इस प्रकार का मधुर प्रश्न इससे पहले किसी ने नहीं किया है। जिन्होंने मुझे अपने प्रिय सखा सुभद्रापति श्रीअर्जुन के पौत्र रूप से तुम्हारे गर्भ से यह श्रेष्ठ मानव जन्म प्रदान किया है— जिन्होंने चक्र गदा धारण करके गर्भ में अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से तुम्हारे साथ मेरे भी प्राणों की रक्षा की है, जिन्होंने बाल्यकाल में मुझे मनुष्यमात्र के दर्शन से गर्भदृष्ट अपने रूप का बार-बार परीक्षण कराया था इसलिए मेरा नाम परीक्षित् हुआ। (जो कवेल परम भगवतगण का ही एकान्त प्राप्य दशा है।)

जिन्होंने मुझे महद्गण के गुण समूह का अनुकरण करने योग्य बनाया है— मेरे द्वारा कलिनिग्रह कार्य सम्पन्न कराकर मुझे विश्वविख्यात किया है— अन्त में विप्रशाप के छल से गृहान्धकूप से उद्धार करके गंगातट पर निराहार मरण पर्यन्त बैठने की बुद्धि प्रदान की है— फिर जिन्होंने मुनि समाज में श्रीशुकदेव रूप से तत्त्वज्ञानोपदेश प्रदान कर मुझे निर्भय और परम आनन्दित किया है— एवं इस समय तुम्हारे समान निज प्रियजन के संगदान से मुझे अपने कथामृत आस्वादन का परम सौभाग्यदान किया है— उन निरूपाधि कृपामय श्रीकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ। (श्रील परीक्षित् कथा प्रारम्भ के पहले अपने अभीष्टदेव की वन्दना करके परमकारुणिक इष्टदेव की अपने

प्रति अशेष करुणा की बात का वर्णन कर माता उत्तरा के पास अपने सौभाग्य की सूचना कर रहे हैं। यद्यपि महद्गण कभी भी अपने गुण का अपने मुख से वर्णन नहीं करते हैं, क्योंकि यह भक्ति का चरम विघातक एवं विषभक्षण से भी अधिक भजन विग्रह का अनिष्टकर होता है। इससे हृदय में अभिमान का उदय होता है एवं भक्ति महारानी उस हृदय से दूर भाग जाती हैं। किन्तु महाराज परीक्षित् ने अपने मुख से अपने सौभाग्य का कीर्तन भी प्रेमप्रसु दैन्य की है पुष्टि करता है, यही समझना चाहिए।

उनकी इस प्रकार कृष्णकृपा को प्राप्त करने की कोई योग्यता न होते हुए भी निरुपाधि कृपामय श्रीकृष्ण अपने गुण के कारण उनके ऊपर इतना अनुग्रह कर रहे हैं— श्रीकृष्ण की इस करुणा की महिमा का कीर्तन करके श्रीपरीक्षित् परम आत्मप्रसाद लाभ कर रहे हैं, ऐसा जानना चाहिए। दूसरी ओर गुरु वैष्णव भगवान् की करुणा की अनुभूति पाकर भी जो उसका प्रचार और प्रकाश नहीं करते हैं, उनकी अकृतज्ञता ही प्रकाशित होती है और इस प्रकार कपटतापूर्ण भाव मनुष्य हृदय को उन्नत नहीं कर सकता है।)

हे मातः! यद्यपि श्रुतिस्मृति वचन की मुख्यवृत्ति और तात्पर्यवृत्ति द्वारा तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देकर मैं आपको सान्त्वना प्रदान कर सकता हूँ फिर भी समस्त संशय-छेदनकारी श्रीगुरु की कृपालब्ध एक सुप्रसिद्ध उपाख्यान के माध्यम से तुम्हारे प्रश्न का उत्तर प्रदान करूँगा, तुम एकाग्रचित्त से उसे सुनो।

प्राचीनकाल में प्राग्ज्योतिषपुर में शास्त्रज्ञान हीन एक दरिद्र ब्राह्मण निवास करता था। वह प्रचुर धन की कामना लेकर वहाँ पर स्थित कामाख्यादेवी की आराधना किया करता था। देवी ने ब्राह्मण पर प्रसन्न होकर उसे स्वप्न में दशाक्षर गोपालमन्त्र की दीक्षा प्रदान की। इस मन्त्र के उपास्य देवता साक्षात् श्रीमन्मदनगोपालजी थे, इसलिए मन्त्र महानिधि स्वरूप था। देवी ने मन्त्र प्रदान करने के समय ब्राह्मण को मन्त्र का ध्यान, मुद्रा और पूजाविधि समूह के बारे में भी उपदेश किया था। देवी के आदेश से निर्जन स्थान पर इस मन्त्र का निरन्तर जप करने से ब्राह्मण को धन-कामना की निवृत्ति हुई और हृदय में शान्ति का उदय हुआ। वस्तुतत्त्व विषय में (साध्य साधन विषय में) ब्राह्मण पूर्णरूप से अनभिज्ञ था, इसके पहले उसे परमार्थ की कोई अपेक्षा न थी, किन्तु मन्त्रजप के प्रभाव से पारमार्थिक तत्त्व भी कुछ है, इस प्रकार का विचार करके मन में जागने लगा। (श्रीभगवन्नामात्मक मन्त्र स्वप्रकाश वस्तु है, अपराधादि दौरात्म्य शून्य चित्त में स्वयं उदित होकर पारमार्थिक तत्त्वसमूह

का स्फुरण करा देती है। अपराधादि बाधा या प्रतिबन्धक रहने से नामात्मक मन्त्र की अप्रसन्नता के कारण मन्त्र जपादि से अपराधी चित्त में सहसा किसी फल का उद्गम दृष्टिगोचर नहीं होता है। ब्राह्मण का सरल और निरपराध चित्त होने के कारण बुद्धिहीन होते हुए भी नाम मन्त्र के प्रभाव से पारमार्थिक साध्य साधन तत्त्व के अस्तित्व के विषय में बोध हो गया था, ऐसा समझना चाहिए।) वे गृहादि त्यागपूर्वक भिक्षा द्वारा देह का निर्वाह करते हुए तीर्थ भ्रमण करते-करते गंगा-सागर-संगम पर पहुँचे और वहाँ सर्वविद्या विशारद स्वधर्माचार निरत बहुत से गृहस्थ ब्राह्मणों के दर्शन किये। उन्होंने उन ब्राह्मणों के पास नित्य-नैमित्तिकादि काम्य कर्म के फल स्वर्गादि सुखभोग की कथा सुनकर एवं ब्राह्मणों की उन कर्माचरण में निष्ठा देखकर उसी में अपनी श्रद्धा जन्मी उनके द्वारा शिक्षित होकर उन्हीं के आचरण में प्रवृत्त हुए। किन्तु देवी की आज्ञा से प्रतिदिन निर्जन स्थान पर अपने इष्टमन्त्र के जप करते रहे और मन्त्र के प्रभाव से कर्माचरण में सन्तोष लाभ नहीं कर सके।

इसके बाद विप्र काम्यकर्म में निर्वेद प्राप्त होकर काशीधाम को चले गये और वहाँ पर अद्वैतवाद व्याख्याता परस्पर विवादशील बहुत से सन्यासियों के दर्शन किये। वे विश्वेश्वर को प्रणाम कर सन्यासियों के बीच गये और उनके संग के प्रभाव से मुक्ति को ही सारवस्तु मानने लगे। उनके पास निरन्तर सन्यास और मुक्ति के उत्कर्ष प्रतिपादक वेदान्त वाक्य समूह को सुनकर उनकी सन्यास ग्रहण में अभिलाषा जागी। किन्तु उन्होंने कामाख्यादेवी के प्रति गौरवबुद्धि-वश एवं आन्तरिक सुखलाभ हेतु मन्त्रजप जारी रखा। इस प्रकार कुछ दिन बीत जाने पर उन्होंने एक बार रात में स्वप्नावस्था में अपने मन्त्र देवता के दर्शन किये और मन्त्रदेवता के सौन्दर्य से इतने मुग्ध व परमानन्दित हुए कि मन्त्रजप को छोड़कर अन्य किसी कार्य में उनकी प्रवृत्ति न रही। इस प्रकार अपने कर्तव्य के बारे में भ्रमित होकर एकबार दुःखी हो गये और तत्पश्चात् निद्रावस्थित होते ही देवी के पास श्रीमन् महादेव ने स्वप्न में आविर्भूत होकर उन्हें आदेश किया—“रे मूर्ख! तुम सन्यास ग्रहण मत करना, शीघ्र मथुरामण्डल जाओ, वहाँ वृन्दावन में तुम्हारे समस्त अभीष्ट पूर्ण होंगे।” इस प्रकार स्वप्नादेश प्राप्त कर वे उत्कण्ठित हो ‘मथुरा-मथुरा’ का कीर्तन करते हुए मथुरा की ओर चल पड़े और रास्ते में प्रयाग तीर्थ पहुँचे। तीर्थराज प्रयाग में प्रतिवर्ष माघ मास में हजारों साधु महात्मागण का समागम

होता है, ब्राह्मण ने उस साधु समागम के दर्शन किये वहाँ साधु महात्मागण एकत्र होकर श्रीविष्णु पूजा महोत्सव में अविरत गान, प्रणाम, नामसंकीर्तन, वाद्य, नृत्य और कोई कोई प्रेमावेश में हुंकार व रोदन करते हैं। वह अबोध ब्राह्मण यह सब देखकर बहुत विस्मित हुआ और वैष्णव महात्मागणों से बोला— हे गायकगण! हे बन्दीगण! हे भूमि पर दण्डवत्प्रणामकारीगण! हे वादकगण! हे क्रन्दनशीलगण! हे मनोहर मालाधारी मानवगण! आप लोग एक क्षण के लिये इस कोलाहल को त्याग स्वस्थ होकर मुझे यह बतलाइये— कि आप लोग यह सब क्या कार्य कर रहे हैं, किसकी सादर अर्चना कर रहे हैं? विप्र की इस प्रकार की बात सुनकर किसी-किसी ने तो उनका उपहास किया, किसी ने कहा— ‘रे मूढ़ चुप करो।’ किन्तु दीनवत्सल साधुगण ने कहा— हे विप्रतनय! तुम एकदम मूर्ख प्रतीत होते हो। तुम क्या कुछ भी नहीं जानते हो? दुबारा फिर विष्णुभक्तगण को इस प्रकार सम्बोधित न करना और न ही इस प्रकार की बात कहना। हे विप्र! हम सब श्रीगुरु के पास दीक्षा ग्रहण कर अपने-अपने मन्त्रानुसार श्रीविष्णु की उपासना कर रहे हैं। मन्त्र की भिन्नता के प्रयोग के कारण उपास्य तत्त्व भी भिन्न भिन्न रूपों में आविर्भूत होते हैं, इसीलिए हम लोग भगवान् विष्णु के विविध स्वरूपों की ही उपासना करते हैं। कोई श्रीनृसिंह-मूर्ति की, कोई श्रीरघुनाथ की और कोई श्रीगोपालदेव की उपासना करते हैं। (श्रीभगवान् तत्त्वतः एक होते हुए भी भक्त की उपासना और रुचि के अनुसार अनेक रूपों से लीला करते हैं। “एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति” श्रुति। श्रीभगवान् के मत्स्य कूर्मादि अनन्त मूर्तियों में स्वरूपतः कोई भेद न होते हुए भी श्रीभगवान् की उन मूर्तियों के ऐश्वर्य, माधुर्य, कारुण्यादि की भिन्नता के कारण उनके प्रकाश की भिन्नता भी स्वीकार की जाती है। “यद्यद्विद्या त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय” (भा.-39/11)। अर्थात् “हे भगवन्! भक्तगण सत्संग, संस्कार और रुचिभेद से श्रुति के अनुसार तुम्हारे जिस-जिस स्वरूप की उपासना करते हैं, उनके पास तुम उन्हीं-उन्हीं रूपों में ही प्रकट होते हो।” फलस्वरूप “ईश्वर स्वरूपे ह्य अनन्त विभेद।” किन्तु “अनन्त रूपे एकरूप नाहि कोन भेद ॥” (चै. च.)

श्रीपरीक्षित् ने कहा—मातः! महद्गण की बात सुनकर वह विप्र लज्जित होकर विनीतभाव से उनके निकट अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए बोले—

आप लोगों के परमेश्वर का आकार किस प्रकार का है, वे कहाँ विराजते हैं, और वे क्या अर्थ या दान कर सकते हैं? इसके उत्तर में श्रीवैष्णवगण ने कहा— हमारे प्रभु देश काल, वस्तुगत परिच्छेद शून्य सर्वव्यापक हैं। वे सदैव सब देशों में, सब समय सभी के अन्दर व बाहर वास करते हैं वे सभी जीवों की अन्तरात्मा और ब्रह्मादि के भी नियन्ता हैं वस्तुतः वे सच्चिदानन्द विग्रह हैं और रूप, गुण, माधुर्य आदि के द्वारा सब के मन को हर लेते हैं। वे सदैव श्रीवैकुण्ठलोक में विराजमान रहते हैं और अपने सेवक को आत्मा पर्यन्त दान कर देते हैं समस्त श्रुति एवं शान्त्र निरन्तर जिनका गुणानुवाद कीर्तन करते रहते हैं— उनकी महिमा का वर्णन कौन कर सकता है? हे विप्रतनय! तुम वैष्णवगण के पास पुराण-व्याख्या सुनो और श्रीमाधवदेव के दर्शन करो और उन्हें प्रणाम करो, ऐसा होने से तुम भी अल्प समय में ही सभी विषयों के बारे में अवगत हो जाओगे। इसके बाद उस विप्र ने वैष्णवगण के उपदेशानुसार श्रीमाधवदेव के दर्शन किये और उनमें अपने इष्टदेव श्रीमदनगोपाल से कुछ समानता भी देखी। श्रीवैष्णवगण के पास कुछ पुराण की कथा भी सुनी और उनके द्वारा अर्चित श्रीनृसिंह, श्रीराम, श्रीनारायणादि विविध विष्णुमूर्तियों के दर्शन किये किन्तु मूढ़तावश साधुगण के उपास्य श्रीनृसिंह आदि के साथ अपने अभीष्ट की अभिन्नता की धारणा वे नहीं कर पाये, बल्कि वे मन में सोचने लगे— मेरे उपास्यदेव तो जगदीश्वर जैसे नहीं प्रतीत होते हैं, क्योंकि जगदीश्वर के जो लक्षण मैंने इन लोगों से सुने हैं, वे मेरे प्रभु में तो नहीं मालूम पड़ते हैं। मेरे प्रभु वंशी बजाते हुए गोपबालकगण के साथ गोचारण करते हैं, और वे विलास लम्पट गोपांगनागण के साथ विहार करके साधारण लोगों की तरह धर्मादि का भी उल्लंघन करते रहते हैं यद्यपि मेरे प्रभु के लक्षण जगदीश्वर के लक्षणों से भिन्न हैं फिर भी जब मैं देवी के प्रभाव से उनकी आराधना एवं मन्त्रजप में आनन्द लाभ करता हूँ तब मैं उनकी आराधना और जप में से किसी का भी त्याग नहीं करूँगा। इस प्रकार निश्चय करके वे निर्जन में अपने इष्टमन्त्र का जप करने लगे। सत्संग के प्रभाव से मन्त्र जप करते करते वे इष्टदेव को साक्षात् दर्शन के समान अनुभव करने लगे। वस्तुशक्ति के प्रभाव से कभी-कभी आनन्दमूर्छा भी होने लगी। किन्तु इस मूर्छा को वे मन्त्रजप का विघ्न समझकर एकबार शोक करते-करते भोजन न करके सो गये। स्वप्न में श्रीमाधव ने उनकी सान्त्वना प्रदान करते

हुए आदेश किया— हे विप्र! उमापति विश्वेश्वर की आदेशवाणी का स्मरण करो और यमुना के किनारे किनारे चलकर शीघ्र ही श्रीवृन्दावन गमन करो, रास्ते में और विलम्ब मत करना। श्रीवृन्दावन में मेरी कृपा से असाधारण आनन्द लाभ कर सकोगे। श्रीमाधव का स्वप्नादेश प्राप्त कर वे विप्र शीघ्र ही मथुरा आये और विश्रामतीर्थ पर स्नान कर वृन्दावन की ओर चल दिये।

हे मातः! श्रीवृन्दावन में उस विप्र ने अपने मन्त्र के जप के समय ध्यानानुरूप गाय, गोपादि, कदम्बवृक्ष आदि के दर्शन कर परमानन्द लाभ किया। उन्होंने उस गो-भूषित वृन्दावन में इधर-उधर भ्रमण करते हुए केशीतीर्थ के पूर्व में निर्जन से किसी की रोदनध्वनि को आते हुए सुना। उन्होंने रोदनध्वनि की दिशा में जाने से यह समझा कि जैसे कोई प्रेम पूर्वक श्रीनामसंकीर्तन करते हुए रोदन कर रहा है। उस रोते हुए व्यक्ति को देखने की इच्छा से उन्होंने यमुना के किनारे किनारे रोदन ध्वनि की ओर चलना प्रारम्भ किया और एक कदम्बकुञ्ज के अन्दर गोपवेश सुकुमारांग सुन्दर किशोरमूर्ति गोपकुमार को देखा। विप्र ने उन्हें अपना इष्टदेव समझकर भ्रमपूर्वक 'हे गोपाल' कहकर मधुर भाव से उच्चस्वर से सम्बोधन करके भूमि पर गिरकर दण्डवत् प्रणाम किया। सर्वज्ञ शिरोमणि श्रीगोपकुमार तब वाह्यदृष्टि लाभ करके उनको कामाख्या देशवासी माथुर ब्राह्मण और श्रीमदनगोपाल देव का उपासक जान कर कुञ्ज से बाहर आये और उन्हें भूमि से उठाकर नमस्कार और आलिंगन पूर्वक सम्मान देते हुए उपवेशन कराया। आज प्रातः श्रीराधिकादेवी ने श्रीगोपकुमार को आदेश किया कि आज ही उनका परमभक्त एक माथुर ब्राह्मण इस कुञ्ज में आ रहा है और गोपकुमार उन्हें श्रीकृष्ण का प्रसाद प्राप्त करायें। [श्रीभगवत्मन्त्रोपदेष्टा दीक्षागुरु एवं भगवत्-तत्त्वोपदेष्टा शिक्षागुरु श्रीभगवान् की ही कारुण्यघनमूर्ति है। श्रीभगवान् गुरु रूप से जिस करुणा का वितरण करते हैं, उसी से जीव का अभीष्ट सिद्ध होता है। साक्षात् कारुण्यघन विग्रह श्रीगुरु की उपेक्षा करके परोक्ष रूप से श्रीभगवान् की करुणा को खोजना (या पाने का प्रयत्न करना) विडम्बना मात्र है। क्योंकि श्रीभगवान् अपनी करुणा योग्य भक्त के पास बेचकर स्वयं नित्य भक्ताधीन होकर विराजमान हैं। इसलिए जब कोई श्रद्धावान् भक्त श्रीभगवान् की करुणा लाभ के लिये व्याकुल होते हैं, तब श्रीभगवान् ही अपनी करुणा के भण्डार किसी विशेष भक्त को उस भाग्यवान् के पास गुरु रूप में प्रेरित करते

हैं। इसलिए करुणामयी श्रीराधारानी ने मथुरा विप्र के ऊपर कृपा करवाने के उद्देश्य से श्रीगोपकुमार को आदेश किया।] गोपकुमार ने आतिथ्य द्वारा विप्र को सन्तुष्ट करके अपने प्रति उसके विश्वास को उत्पन्न करने के लिए देवी आराधना से आरम्भ कर वृन्दावन आगमन तक का घटना समूह संक्षिप्त रूप से उसके समक्ष वर्णन किया। उसे सुनकर ब्राह्मण ने गोपकुमार को सर्वज्ञ एवं साधुश्रेष्ठ मानकर परम सुहृत्तम के समान उन्हें सारा वृत्तान्त सुनाया और इतनी दूर भ्रमण करने के बाद भी जिस साध्यसाधन तत्त्व का कोई निर्णय न कर पाये उसे जानने के लिए गोपकुमार के शरणागत हुए।

परीक्षित् ने कहा— मातः! गोपकुमार ने विप्र के वाक्यों को आदर पूर्वक सुना और यह समझ गये कि विप्र कृतकृत्य हो चुके हैं, केवल श्रीमन् मदनगोपाल के पादपद्मों के साक्षात् दर्शन ही शेष है। इसलिए इस समय इनकी केवल मन्त्रजप में ही आसक्ति नहीं होनी चाहिए। वरन् श्रीमन् मदन गोपाल के नाम कीर्तन में भी आसक्ति होना उचित होगा। नाम संकीर्तन प्रधान उपासना से ही वांछनीय फल प्राप्त किया जा सकता है, इस कारण अपने प्रिय नाम समूह के मधुर स्वरसे कीर्तन बहुल उपासना से अधिक श्रेष्ठ साधन और कुछ भी नहीं है— इससे सहज ही प्रेम उत्पन्न होता है। (इस विषय का तात्पर्य यह है कि यद्यपि नाम और मन्त्र में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है, कारण यह है कि मन्त्र मात्र ही भगवन्नामात्मक है, फिर भी केवल मन्त्र जप द्वारा ही ब्रजप्रेम उत्पन्न नहीं होता है और न ही श्रीमन् मदनगोपाल का साक्षात् दर्शन लाभ ही होता है, इसीलिए नाम संकीर्तन की आवश्यकता है।

नाम संकीर्तन साधन सम्राट या निरपेक्ष साधना है, निरपराध व्यक्ति को अनायास ही प्रेमदान या भगवत् दर्शन करा देती है। यद्यपि सभी युगों में श्रीनाम संकीर्तन की समान सामर्थ्य रही है, फिर इस विशेष कलियुग में स्वयं भगवान् संकीर्तन जनक श्रीमन्महाप्रभु ने कृपा करके नाम साधना की प्रधानता कलि जीवों को ग्रहण कराई है, इसलिए मन्त्र जप आदि किसी भी साधन को नाम संकीर्तन में सहयोग ही करना होगा। कलिकाल के युगधर्म वर्णन के प्रसंग में श्रीमद्भागवत में नवयोगीन्द्र के अन्यतम श्रीकरभाजन ने भी कहा है— “यज्ञैः संकीर्तनप्रार्थैर्यजन्ति हि सुमेधसः” अर्थात् “कलियुग में सुमेधागण संकीर्तन बहुल यज्ञ के द्वारा श्रीभगवान् की आराधना करते हैं।” परम कारुणिक श्रील ग्रन्थाकार ने श्रीगोपकुमार की उक्ति से इस रहस्यमय तत्त्व की अभिव्यक्ति

की है। प्रश्न हो सकता है कि यदि निरपेक्ष साधन श्रीनामसंकीर्तन से ही हो अनायास प्रेमसिद्धि लाभ होती है, तो मन्त्र ग्रहण की दीक्षा आदि की और मन्त्रजप की ही क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में शास्त्र और महाजनगण कहते हैं— दीक्षा ग्रहण और मन्त्रजप की आवश्यकता नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि मन्त्र मात्र ही भगवन्नामात्मक है। विशेषकर देहादि सम्बन्ध से विक्षिप्त चित्त और कदाचार रत मानवगण के यह सब दोष संकुचित करने के लिए एवं श्रीभगवान् के साथ सम्बन्धविशेष स्थापन करने के लिए आर्य ऋषि, मुनिगण ने मन्त्र ग्रहण और दीक्षा की आवश्यकता को विशेष कर्तव्य माना है। मन्त्रदीक्षा द्वारा ही गुरु शिष्य का सम्बन्ध स्थिर होता है, एवं गुरु कृपा के बिना भजनसिद्धि नहीं होती है, अतएव नाम एवं मन्त्र दोनों ही आवश्यक हैं।) श्रीगोपकुमार ने विचार किया कि इस विषय को विप्र को ठीक से समझाने के लिए मैं अपना ही वृत्तान्त इन्हें बताऊँगा। यद्यपि अपनी महिमा का अपने मुख से कीर्तन करना साधुगण की रीति नहीं है, फिर भी अन्य किसी आख्यान द्वारा विप्र का इतना अच्छा उपकार नहीं होगा इसलिए मैं इनके हित के लिए मैं अपना ही महात्म्य कहूँगा।

इस प्रकार निश्चय कर श्रीगोपकुमार ने ब्राह्मण के मनोयोग को आकर्षित करके कहा— हे विप्र! यद्यपि साध्य-साधन तत्त्व निर्णय के विषय में विभिन्न प्रकार के पौराणिक इतिहास हैं, फिर भी मैं आपको अपना ही वृत्तान्त कहता हूँ— सावधान चित्त से इसे सुनिये।

हे ब्रह्मन्! मैं गोपालन में रत गोवर्धनवासी किसी वैश्य का पुत्र। मुझे इस समय जिस प्रकार का बालक देख रहे हैं, बहुत समय पहले भी इसी प्रकार की बालक अवस्था में ही मैं अपने समवयस्क बालकगण के साथ गोवर्धन में, यमुनातीर पर और वृन्दावन में गोचारण किया करता था। (यहाँ पर श्रीगोपकुमार की देह का निर्विकारत्व सूचित हो रहा है।) हम वन में प्रतिदिन एक उत्तम ब्राह्मण को देखते थे, वे दिव्यमूर्ति, परमवैरागी और श्रीकृष्ण प्रेमी थे, श्रीकृष्ण नाम करते करते वे इधर उधर परिभ्रमण करते रहते थे। वे कभी जप ध्यान में लगे रहते, कभी नृत्यगान और हास्य करते कभी चीत्कार करते और कभी भूतल पर गिरकर रोते हुए लोटते कभी अचेतन होकर पड़े रहते। उनके मुख और नासिका से निकले लार और श्लेष्मा और आँसुओं से रास्ता भीग जाता था। मैं बालक था और कौतुकवश

उनको देखने जाता था, वे भी हम सबको गोपबालक जानकर परमभक्ति पूर्वक नमस्कार करते थे। कभी-कभी हमें गाढ़ आलिंगन प्रदान करते थे, प्रेमपूर्वक सर्वांग चुम्बन करते, और प्रियबन्धु के समान सहसा हमें परित्याग नहीं कर पाते थे। (ब्रजवासी गोपालन रत गोपबालकगण के दर्शन से अपने अभीष्टदेव श्रीमन्मदनगोपालदेव के उद्दीपन से ही श्रीकृष्णप्रेमिक ब्राह्मण का इस प्रकार का व्यवहार समझना चाहिए।) वे अयाचित वृत्ति के थे। मैं कभी-कभी दूध आदि देकर उनकी सेवा करता था। एक दिन यमुना के किनारे मुझे अकेला पाकर मेरे प्रति प्रसन्न हो मुझे केशीतीर्थ में स्नान करवाया और आपने देवी के पास से जो दशाक्षर मन्त्र पाया है, उसी का मुझे उपदेश किया और बोले— यह जगदीश्वर का प्रसाद है, इसको जपने से सर्वार्थ सिद्धि होगी। उन्होंने मुझे मन्त्रानुरूप ध्यान और पूजाविधि सिखाना आरम्भ ही किया था कि वे महाप्रेम से आकुलित होकर रोते रोते मूर्छित हो गये। बाद में उनके संज्ञा प्राप्त करने के बाद भी उनकी दशा देखकर मैं और कोई जिज्ञासा प्रकट न कर सका। वे भी विमनस्क भाव से कहाँ चले गये फिर उनका दर्शन न पा सका। मैंने क्या पाया— यह गीत है, मन्त्र है, या अन्य कुछ— इन सबका क्या फल है, कुछ भी निश्चय नहीं कर सका। यदि मन्त्र है तो इसका साधन किस प्रकार होगा, उसका साधन में कुछ भी जानता नहीं था, फिर भी ब्राह्मण के वचनों में गौरव के कारण कौतुक के साथ दूसरों की निगाहों से बचकर उस मन्त्र का लगातार जप करता था। उस जप के द्वारा ही मेरी चित्तशुद्धि और मन्त्र में श्रद्धा उत्पन्न हुई। श्रीगुरुदेव ने कहा था ये जगदीश्वर का प्रसाद है, इसलिए मैंने सोचा कि यह जगदीश्वर साधक है, किन्तु उन जगदीश्वर का रूप कैसा है, कब उनके दर्शन कर पाऊँगा इस प्रकार भावना करते-करते उनकी लालसा में गृह त्यागकर जाह्नवी के तट पर पहुँचा। (मन्त्र जप के प्रभाव से ही गोपकुमार के वैराग्य का उदय हुआ। उनका चित्त स्वच्छ निर्मल और निरपराध था। अतएव मन्त्रजप के फलस्वरूप भगवद् दर्शन लालसा चित्त में उदित होने के साथ ही साथ विषयों से वैराग्य उत्पन्न हो गया। “विरक्तिरिन्द्रियार्थानां स्यादरोचकता स्वयम्” (भ. र. सि. 1/3/30) चक्षु कर्णादि इन्द्रिय समूह की रूप शब्दादि विषय ग्रहण में जो स्वाभाविक अरुचि है, उसी को वैराग्य कहा जाता है। जिस परिमाण में भगवत्सेवा की वासना चित्त में जागरित होती है, उसी परिमाण में चित्त अन्य

लालसाओं से शून्य हो जाता है, तब इन्द्रियों की विषयों में स्वाभाविक अरुचि उत्पन्न होती है— यही प्रकृत वैराग्य हैं यह वैराग्य भक्ति से उठने के कारण इसे युक्त वैराग्य या सरस वैराग्य कहते हैं, इसे छोड़ भक्ति सम्पर्क शून्य ज्ञानिगण के शुष्क या फल्गुवैराग्य को भक्त के पक्ष में परित्याज्य माना जाता है।) हे विप्र! वहाँ दूर से ही शंखध्वनि को सुनकर और ध्वनि का अनुसरण करके जाने पर शालग्राम शिला के अर्चन में रत एक ब्राह्मण के दर्शन कर उन्हें नमस्कार किया और उनसे विनय पूर्वक जिज्ञासा की— हे स्वामिन्! आप किसकी अर्चना कर रहे हैं? उन्होंने हँसते हुए कहा— हे बालक! यह जगदीश्वर हैं— क्या तुम यह नहीं जानते हो? निर्धन व्यक्ति को अकस्मात् धन मिल जाने से विनष्ट बान्धव के फिर से जीवित होने से जिस प्रकार आनन्द होता है, विप्र के वचनों से मुझे उसी प्रकार का आनन्द मिला और मैं विस्मय से अभिभूत हो गया। उन जगदीश्वर के दर्शन कर मैं बारम्बार प्रणाम करने लगा। उस ब्राह्मण ने कृपा करके मुझे निर्माल्य और पादोदक प्रदान किया।

अर्चना के उपरान्त उस विप्र ने जगदीश्वर को काठ के एक छोटे बक्स में रखा और घर जाने के लिए तैयार हुआ तो मैं दुःखी होकर विलाप करने लगा— हाय! मेरे जगदीश्वर को इस छोटे से बक्स में रख लिया जो इतना छोटा है कि निद्रा का अनुभव होने पर वे किस प्रकार इस संकीर्ण स्थान में सो पायेंगे। हे विप्र! मैं प्रकृत रूप से यह नहीं जानता था कि इन शालग्रामरूपी जगदीश्वर के अतिरिक्त कोई अन्य जगदीश्वर भी कहीं पर हैं। वह ब्राह्मण मेरा स्वाभाविक विलाप और विवशता देखकर मुझे सान्त्वना देते हुए विनय पूर्वक बोला— हे नव वैष्णव! मैं दरिद्र हूँ, इस प्रकार सेवा को छोड़ मैं और अधिक जगदीश्वर की सेवा क्या कर सकता हूँ? यदि तुम प्रभु के पूजा महोत्सव का दर्शन करना चाहते हो तो यहाँ से थोड़ी दूर पर स्थित इस देश के विष्णुपूजानुरागी राजा के घर पर जाओ, वहाँ जाकर तुम सब प्रकार से महा आनन्द का अनुभव कर सकोगे। विप्र की बात सुनकर उनके बताये रास्ते पर चलकर मैं राजा के नगर में पहुँचा और शीघ्र ही राजा के देव मन्दिर में प्रवेश कर शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज जगदीश्वर के दर्शन किये। वे सर्वांग सुन्दर, नवघनकान्ति विशिष्ट, कौषेय पीतवसन, वनमालाधारी और स्वर्णमणि भूषण से विभूषित मधुर किशोरमूर्ति थे। उनके पूर्णचन्द्र के समान मुखमण्डल पर सुधामन्द हास्य और कमल नयन पर मधुर भ्रू विलास विराजमान

था। वे सेवानुरक्त परिकरगणों द्वारा विभिन्न दुर्लभ उपचारों से सेवित हो रहे थे और अत्यन्त सुन्दर परिधानों से विभूषित हो श्रेष्ठ सिंहासन पर विराजमान हो रहे थे। थोड़ी ही दूर पर नृत्यगीतादि के महोत्सव चल रहे थे और प्रभु निमिषशून्यनयनों से इस समस्त उत्सव का दर्शन कर रहे थे। (भक्तवत्सल श्रीभगवान् भक्त की आकांक्षित सेवा ग्रहण करने को वासना से प्रतिमारूप से अनन्त प्रकाश से भक्त के मन्दिर-मन्दिर में विराजमान हैं। प्रतिमा को काष्ठ से पाषाण आदि की निर्मित मूर्ति समझना महा अपराध जनक है, शास्त्र इस प्रकार के व्यक्ति को नारकी कहते हैं। भगवद् विग्रह आदि में शिलाबुद्धि भक्तिविच्छेदक और भक्ति में प्रबल बाधा है। इसलिए 'प्रतिमा नहि साक्षात् तुमि ब्रजेन्द्रनन्दन' इस ज्ञान से ही भक्तवृन्द श्रीविग्रह की सेवा करके उसकी साक्षात् कृपालाभ करके धन्य हो जाते हैं। श्रीभगवान् भी विग्रहरूप से ही उसी प्रकार कितने भाग्यवान् भक्तों के साथ बातचीत, आलाप, भोजनादि करके भक्त को कृतार्थ करते हैं, भक्तिराज्य में इस प्रकार के दृष्टान्तों का कोई अभाव नहीं है। निरपराध श्रीगोपकुमार की महत्कृपा एवं मन्त्रजप के फल से प्रथम अवस्था से ही प्रतिमा में साक्षात् भगवद्बुद्धि विद्यमान रही थी।) हे विप्र! मैं श्रीभगवान् के दर्शन से परमानन्द से पूर्ण होकर अपनी समस्त अभिलाषाओं की पूर्ति मानकर प्रभु को बार-बार प्रणाम करने लगा एवं वैष्णवगण की कृपा से महोत्सवादि दर्शन करके सुखपूर्वक वहाँ वास करने लगा और निर्जन में यत्नपूर्वक अपने मन्त्र का जप भी करने लगा। हे विप्र! किन्तु ब्रजभूमि की शोभा एवं गोपक्रीड़ा आदि का सुख मेरे हृदय में बारबार जागरित रहा। कुछ दिन उस स्थान पर परमानन्दपूर्वक निवास करने के बाद मेरा भी जगदीश्वर की उसी प्रकार की सेवा करने के लोभ उत्पन्न हुआ। कुछ दिन बाद उस देश के निःसन्तान राजा के मुझे सुशील समझकर प्रीतिवश पुत्रत्व की कल्पना करके परलोक गमन करने पर मुझे अनायास ही राज्य प्राप्ति हो गई और मैं अधिकतर समारोह के साथ विष्णुपूजा और नित्य महाप्रसाद आदि द्वारा बहुत से साधु-सज्जनों की सेवा प्रवर्तित कर दी। लेकिन मैं स्वयं किसी भी विषय में आसक्त न होकर पहले की तरह अकिंचन रहने लगा और निर्जन में अपना मन्त्रजप और महाप्रसाद का भोजन करने लगा। (वैराग्य गोपकुमार के मन में भरा था। उनके सम्बन्ध में एक विशेष बात यह थी कि स्त्रियों के बारे में उनमें कभी भी आसक्ति नहीं देखी गई थी।

उनका भक्ति से उत्पन्न निर्मल वैराग्य उन्हें इष्ट के प्रति आसक्ति को छोड़कर अन्यत्र सभी जगह अनासक्त रखते हुए साधना की प्रथम अवस्था से ही यथार्थ रूप में निष्किंचन पदवी लाभ करने में सहायक रहा था।) मैं राज्यकार्य से उदासीन रहता था फिर भी राज्य सम्पर्क के कारण चित्त दुःखित रहता था और ब्राह्मणों को छोड़ अन्य किसी के द्वारा जगदीश्वर का प्रसाद स्पर्श हो जाने पर अथवा किसी के द्वारा प्रसाद मन्दिर से बाहर ले जाने पर कोई-कोई साधुगण उसको ग्रहण नहीं करते थे। जिससे भी मेरे चित्त में दुःख होता था। (श्रीमहाप्रसाद चिन्मय वस्तु है, कभी भी स्पर्श आदि दोष से खराब या दूषित नहीं होती है। इस विषय में वृहद्वामन पुराण में देखा जाता है—“नैवेद्य जगदीशस्य अन्नपानादिकञ्च यत्। भक्ष्याभक्ष्यविचारश्च नास्ति तद्भक्षणे द्विजाः॥ ब्रह्मवन्निर्विकारं हि यथा विष्णुस्तथैव तत्। विकारं ये प्रकुर्वन्ति भक्षणे तद्विजातयः॥ कुण्ठव्याधि समायुक्ताः पुत्रदारविवर्जिताः। निरयं यान्ति ते विप्रा यस्मान्नवर्त्तते पुनः॥” अर्थात् “जगदीश्वर के प्रसाद अन्नपानादि में भक्ष्याभक्ष्य का विचार करना उचित नहीं है। जो सब ब्राह्मण महाप्रसाद में वैगुण्य (दोष) देखते हैं वे कुण्ठव्याधि ग्रस्थ होते हैं; उनके पुत्र, कलत्र आदि नष्ट हो जाते हैं, और बाद में वे नरक गामी होते हैं और नरक से कभी भी लौटकर नहीं आते हैं।” महाप्रसाद में इस प्रकार के भक्ष्याभक्ष्य का विचार करने से इस प्रकार की दुर्गति की बात शास्त्र में देखी जाती है। इस कारण चिन्मय महाप्रसाद चित् प्रकाशक और मायानाशक परम शक्तिमान् वस्तु के रूप में संसार में प्रकटित हैं। इसलिए वह स्पर्श आदि दोष शून्य है— इस प्रकार का विश्वास लेकर ही महाप्रसाद का सेवन करना कर्तव्य है। लेकिन अल्पपुण्यवान् व्यक्ति को इस प्रकार से विश्वास नहीं हो पाता है इसलिये शास्त्र कहता है—“महाप्रसादे गोविन्दे नाम ब्रह्मणि वैष्णवे। स्वल्पपुण्यवतां राजन्! विश्वासो नैव जायते॥”) हे विप्र! महाप्रसाद के सम्बन्ध में मतभेद देखकर चित्त क्षुब्ध होते हुए भी चिर आर्काक्षित प्रभु का सहसा परित्याग नहीं कर पाता था। इसी अवसर पर कुछ तीर्थपर्यटन करने वाले साधुओं के मुख से दारुब्रह्म भगवान् जगन्नाथदेव की महिमा सुनी एवं उनके प्रसाद में स्पर्शास्पर्श का विचार न सुनकर श्रीश्रीजगन्नाथ देव के दर्शन की इच्छा से अविभूत हो गया। उसी क्षण सब कुछ त्यागकर उनका नाम कीर्तन करते हुए शीघ्र ही पुरुषोत्तम क्षेत्र में पहुँच गया।

मैंने दूर से ही श्रीपुरुषोत्तमदेव का मुखचन्द्र दर्शन किया। उनके मुखमण्डल पर सुविशाल नयनकमल और ललाट पर मणिमय तिलक शोभा पा रहा था। स्निग्ध नवघनकान्ति, अरुण अधर मृदुहास्यचन्द्रिका से उजलित हो रहे थे। हास्य छटा से निखिल भुवन के प्रति प्रभु का अशेष प्रसाद प्रकाशित हो रहा था। प्रभु के दर्शन से मेरा चित्त विवश और प्रेम से सर्वांग कम्पायमान होने के कारण प्रभु के निकट जाने की उत्कण्ठा होते हुए भी मेरी गति में रोध हो गया। देह में रोमाञ्च, अश्रुधारा से दृष्टि अस्पष्ट, किसी प्रकार कष्ट सहते हुए गरुड़ स्तम्भ का सहारा लेकर खड़ा रहा। अन्त में श्रीजगन्नाथदेव की महामहिमा और वैभवमय सेवा की परिपाटी का दर्शन करके आनन्द के वेग के कारण मूर्छित हो गया। कुछसमय के बादसंज्ञा प्राप्त होने पर उन्मत्त की भाँति प्रभु को पकड़ने के लिए दौड़ा— द्वारपालगणों ने बेंतों के अघात से मुझे रोक दिया, मैं लज्जित हुआ और इसे प्रभु की करुणा समझकर बाहर आ गया और वहाँ अयाचित महाप्रसाद लाभ किया। इस प्रकार साधुसंग और प्रभु के नये नये उत्सव देखकर कितना समय अनजाने में ही बीत गया, इसका कुछ पता नहीं चला। ब्रजभूमि का शोक भी हृदय से प्रायः (लगभग) चला गया। श्रीजगन्नाथदेव के दर्शन के अतिरिक्त मेरी किसी विषय में रुचि न रही। कभी शारीरिक और मानसिक दुःख उपस्थित होने पर श्रीपुण्डरीकाक्ष के दर्शन से वह उसी क्षण विनष्ट हो जाता था। बाद में प्रभु की अन्तरंग सेवा लाभ की अभिलाषा जागरित हुई और उसकी पूर्ति न होने से मन में कष्ट भी होने लगा। फिर इस देश के राजा जब महोत्सव आदि के उपलक्ष्य में श्रीक्षेत्र आते तो मेरे जैसे अकिंचन को स्वच्छन्द रूप से प्रभु के दर्शन का सौभाग्य भीनहीं मिल पाता, इस कारण भी चित्त में दुःख रहने लगा।

इस प्रकार वहाँ रहते हुए सहसा एक दिन अपने श्रीगुरुदेव को श्रीजगन्नाथदेव के आगे प्रेम विह्वल दशा में देखा। मेरा चित्त श्रीजगन्नाथदेव के मुखचन्द्र दर्शन में आकृष्ट था इसी बीच में वे मेरे बिना देखे ही न जाने कहाँ चले गये। बाद में मैंने उन्हें इधर-उधर खोजा, तो उन्हें नाम कीर्तन के साथ नृत्य करते हुए समुद्र के किनारे पाया। मैंने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया तो उन्होंने आशीर्वाद पूर्वक मुझे आलिंगन किया और कृपावश मुझे उपदेश किया— 'हे वत्स! जो-जो संकल्प करके अपने इष्टमन्त्र का जप करोगे मन्त्रजप के प्रभाव से आशातीत भाव से वह सिद्ध होगा। तुम जप के प्रभाव

से चिरंजीवी हो— हर समय गोपबालक रूप से श्रीमन्मदनगोपाल देव का साक्षात् दर्शन एवं क्रीड़ा कौतुक आदि दर्शन योग्य मानस का लाभ करो।’ इस प्रकार आदेश करके वे अकस्मात् कहाँ चले गये, कोई पता नहीं। मैं उनके विरह से कातर अवस्था में श्रीजगन्नाथ दर्शन के लिए चला गया और प्रभु के दर्शन से शान्तिलाभ करके मन को मन्त्रजप में लगाया। जब ब्रजभूमि दर्शन के लिए अतिशय उत्कण्ठा उत्पन्न होती, तब वहाँ स्थित उपवन श्रेणी का दर्शन कर श्रीवृन्दावन की, समुद्र दर्शन से श्रीयमुना की और नीलाद्रि का ऊँचा भाग दर्शन कर गोवर्धन की स्फूर्ति होती। इसभाव से अत्यन्त सुख पूर्वक वहाँ वास करते करते इष्टसिद्धि के लिए श्रीगुरुदेव के आदेशानुसार प्रतिदिन इष्टमन्त्र का जप करता।

कुछ समय पश्चात् पुरुषोत्तम के महाराज की मृत्यु हो गई और उनके ज्येष्ठ पुत्र ने संसार से विरक्त के कारण राज्य स्वीकार नहीं किया। मन्त्रियों ने श्रीजगन्नाथदेव के स्वप्नादेश के अनुसार मुझे राजपद पर अभिषिक्त कर दिया। मैं राज्य और राज्योपभोग समूह को श्रीजगन्नाथदेव के श्रीपादपद्मों में समर्पित कर अकिंचन भाव से उनकी सेवा करने लगा, फिर भी साम्राज्य में सम्पर्क होने के कारण मेरे हृदय में भगवद् दर्शनानन्द सम्यक् रूप से उदय नहीं हो पाता था। इसके बाद मैंने राजा के पुत्रों और अमात्यगण के हाथों में राज्य का भार समर्पण कर पूर्ववत् उदासीन रहना शुरू कर दिया। निर्जन में मन्त्रजप करते-करते मन सुखी हो गया और स्वेच्छा से जगन्नाथ जी के पादपद्मों की सेवा करके कुशलतापूर्वक वास करने लगा। फिर भी जनता द्वारा प्रदत्त सम्मान और आदर के कारण पहले जैसा आनन्द लाभ नहीं कर पाता था। अन्त में वहाँ बने रहना मेरे लिए विरक्ति जनक हो गया। एक दिन प्रातः वृन्दावन गमन के लिए आदेश लेने के उद्देश्य से प्रभु के सामने उपस्थित हुआ और श्रीमुख का दर्शन करने मात्र से सब भूल गया। इस प्रकार एक साल और बीत गया फिर एक दिन मथुरा से आये कुछ लोगों से मथुरा का वृत्तान्त सुनकर दुःखित मन से शयन करने गया। रात्रि में श्रीजगन्नाथ देव ने मुझे स्वप्नादेश किया— “हे गोपनन्दन! यह क्षेत्र मुझे जिस प्रकार प्रिय है मथुरा भी उसी प्रकार प्रिय है, विशेषरूप से मथुरा मेरी जन्मभूमि है। मथुरा मेरी विविध लीलाओं से समलंकृत है, मैं जिस प्रकार यहाँ वास करता हूँ उसी प्रकार वहाँ भी वास करता हूँ। अतएव तुम यहाँ चंचल चित्त से क्यों वास

करते हो? मथुरा गमन करो— यथा समय मेरा दर्शन लाभ करो।” बाद में सुबह पुजारी विप्र ने मेरे वास स्थान पर आकर जो आज्ञामाला प्रदान की उसे गले में पहन कर मन्दिर के शिखर पर स्थित सुदर्शनचक्र का दर्शन और प्रणाम करके उस स्थान से ही प्रस्थान किया और शीघ्र ही आकर श्रीवृन्दावन में उपस्थित हो गया।

द्वितीय अध्याय (ज्ञान)

श्रीगोपकुमार बोले— हे माथुरोत्तम! मैंने मथुरा में आकर विश्रामतीर्थ में स्नान कर श्रीवृन्दावन में प्रवेश कर गोवर्धन आदि स्थानों पर स्वेच्छा से परिभ्रमण करके गोरस पान करके जीवनधारण करना आरम्भ कर दिया। वैदेशिकवेष में पूर्व परिचितों से अनभिज्ञ रहते हुए इष्टमन्त्र जप करते करते कई दिनों तक सुखपूर्वक वास किया। इसके बाद जगदीश्वर के दर्शन करने की उत्कण्ठा से अधीर होने से वृन्दावन मन में शून्यवत् प्रतीत होने लगा और पुरुषोत्तम क्षेत्र का बार-बार स्मरण होने लगा क्योंकि वहाँ पर जगन्नाथदेव जी के दर्शन लगातार होते रहते थे। श्रीजगन्नाथ देव के दर्शन की लालसा से व्याकुल होकर मैं फिर से उत्कलदेश चला गया। (तात्पर्य यह है कि, इस समय गोपकुमार के प्रति श्रीकृष्ण की विशेष कृपा का उदय न होने से श्रीब्रजभूमि के रसविशेष के अनुभव के अभाव से अन्यस्थान पर जाने की इच्छा उदय हुई। बाद में इधर-उधर भ्रमण करके जब अन्त में श्रीवृन्दावन के तत्त्व का अनुभव हुआ तब सभी स्थानों का त्याग करके ब्रजभूमि में प्रीति पूर्वक निश्चल मन से रहने का सुयोग हुआ)। रास्ते में गङ्गातट पर धर्माचार-परायण ब्राह्मणगण के दर्शन किये और उनके मुख से एक अश्रुतपूर्व बात सुनी कि भूलोक के ऊपर अन्तरिक्ष में ‘स्वर्ग’ नाम का एक स्थान है, वह देवताओं का निवास स्थल है। वह स्वर्ग विविध प्रकार के विमान श्रेणी से सुशोभित है और भय, दुःख, जरा, मरणादि दोष रहित महासुखमय है और इसे उत्कृष्ट पुण्य के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस दिव्यस्वर्ग में श्रीविष्णु अदितिनन्दन श्रीवामनरूप से विराजते हैं और इन्द्र के कनिष्ठ भ्रातृत्व को स्वीकार करने के कारण ‘उपेन्द्र’ नाम से विख्यात हैं। यह गरुड़ की पीठ पर चढ़कर इधर-उधर क्रीड़ा करते हुए असुरों का विनाश करते एवं मनोहर

वाक्यावली द्वारा देवताओं को आनन्द प्रदान करते थे। यह सब बात सुनकर उनके दर्शन की इच्छा के लिए मन व्याकुल हुआ और इच्छापूर्ति के लिए मैंने इष्टमन्त्र का जप फिर से शुरू कर दिया। मन्त्रजप के प्रभाव से थोड़े समय में ही स्वर्ग से एक विमान आकर उपस्थित हुआ और मैं उस पर चढ़कर स्वर्ग में चला गया।

हे ब्रह्मन्! मैंने पहले गंगातट पर स्थित राजा के मन्दिर में जिनकी प्रतिमा का दर्शन किया था, स्वर्ग में उन्हीं श्रीविष्णु को ही देखा। वे देवगणों द्वारा परिवेष्टित होकर सच्चिदानन्द सान्द्राङ्ग रूप से मनोहर गरुड़-स्कन्ध सिंहासन पर विराजमान थे, देवर्षि नारद हाथ में वीणा लेकर मधुर गान कर रहे थे और श्रीभगवान् उनके गायन की प्रशंसा कर रहे थे। मैं अपने चिराभीष्ट इष्टदेव के दर्शन कर मन ही मन अपने को धन्य मान रहा था और दूर से ही मैं उन्हें पुनः-पुनः दण्डवत् प्रणाम करने लगा। उन्होंने अनुग्रहपूर्ण स्निग्ध वाक्य से आह्वान पूर्वक मुझ से कहा— 'हे गोपकुमार, तुमने यहाँ आकर अच्छा ही किया, दण्डवत् प्रणाम की आवश्यकता नहीं है, मेरे वैभव को देखकर भयभीत न होना, पास आओ।' उनके आदेश से देवताओं ने मुझे उनके पास ले जाकर यत्नपूर्वक बिठाया। उसके बाद नन्दनकानन में रहकर देवभोग्य अमृतादि द्रव्य समूह का उपभोग करके तृप्त हो गया। मैंने देखा कि वहाँ भय, शोक, रोग, ग्लानि, जरा-मृत्यु इत्यादि कुछ भी नहीं है। मैंने भगवद्-दर्शनानन्द सुख में विभोर होने के कारण स्वर्ग में किसी दोष के होते हुए भी उस पर कुछ ठीक से ध्यान नहीं दिया। (स्वर्ग में प्रायः असुर आदि के उत्पीड़न जनित भय-शोकादि के विद्यमान रहते हुए भी श्रीगोपकुमार भगवद् दर्शनानन्द में लगातार विभोर रहने के कारण देवगण के उस प्रकार के दुःख और मन के कष्ट के प्रति अभिनिवेश शून्य थे, इसलिए उनके मन में आया कि वहाँ भय, शोकादि का अस्तित्व ही नहीं है।) वह प्रभु महेन्द्र द्वारा प्रतिदिन पारिजातादिस्वर्गीय उपचार से स्नेह, गौरव और आदरपूर्वक अर्चित हो रहे थे, उसे देखकर मेरे मन में आया कि क्या मुझे भी कभी इस प्रकार की अर्चना का सौभाग्य मिलेगा? श्रीभगवान् क्या कृपा करके मेरी इस मनोवासना को पूर्ण करेंगे? यही संकल्प लेकर मैं अपने इष्टमन्त्र का जप करने लगा। थोड़े समय के बाद ही इन्द्र ने बलपूर्वक किसी मुनिपत्नी को दूषित किया और मुनि के शापभय व लज्जा के कारण किसी गोपनीय स्थान पर छिप

गये। देवगणों द्वारा खोजने पर भी उनका कुछ पता नहीं चला। इधर स्वर्ग में दैत्यों के उपद्रव की सूचना से श्रीविष्णु के आज्ञा से देवगुरु बृहस्पति ने मुझे इन्द्रपद पर अभिषिक्त कर दिया। मैं अदिति, शची और वृहस्पति इत्यादि के प्रति विशेष सम्मान प्रदर्शित करते हुए तीनों लोकों में विष्णु भक्ति का प्रचार करने लगा। मैं स्वर्ग का सिंहासन प्राप्त करने के बाद भी राजपुरी में वास न करके अकिंचन की तरह नन्दनकानन में ही रहने लगा। [तात्पर्य यह है कि गोपकुमार इन्द्र के वैभव को देख उसकी भोगाकांक्षा से इन्द्रपद की ओर आकर्षित नहीं हुए थे, वैराग्य (जड़ीय भोगों से अनासक्ति) तो उनके मन में पहले से ही विराजमान था। उन्होंने इन्द्र के द्वारा श्रीवामनदेव की सेवा सौभाग्य वाले अंश को देखकर ही की इन्द्रपद की कामना की थी। किसी समय इसी प्रकार इन्द्र के अभिशापादि के भय से छिप जाने परदेवताओं ने महाराज नहुष को इन्द्रपद पर अभिषिक्त किया था, वे इन्द्रपत्नी शची को भोग करने की वासना में तैयार हुए तो शची बृहस्पति की शरण में आई। श्रीवृहस्पति ने शची से कहा कि वे नहुष से कहें कि ब्राह्मणों के द्वारा राहित यान पर चढ़कर अगर नहुष आये तो वे उनकी बात मानेंगी, नहुष ने ऐसा करने पर ऋषियों द्वारा शाप ग्रस्त होकर सर्पयोनि को प्राप्त हुए थे। भोगाकांक्षा से इन्द्रपद लाभ की इस प्रकार की परिणति हुई। दूसरी ओर भक्त गोपकुमार इन्द्रपद प्राप्त करने के बाद भी अनासक्त और निष्किंचन होकर तीनों लोकों में वैष्णवभक्ति का प्रचार कर रहे थे। गोपकुमार का क्रमशः ऊर्ध्वलोक प्राप्ति का कारण सभी जगह इसी रूप में समझना चाहिए।

हे विप्र! मैं नन्दनकानन में रहते हुए भी ब्रजभूमि में वास करने के माधुर्य को भुला नहीं सका। ब्रज के विच्छेद दुःख से मेरा मुख मण्डल उदास देखकर करुणामय श्रीवामनदेव अपने हस्तकमल द्वारा बार-बार मेरा गात्रस्पर्श करके विचित्र वचनामृत से मुझे अभिषिक्त करने लगे।

उनके करस्पर्श आदि की कृपा प्राप्त कर मैं भी ब्रज विच्छेद जनित दुःख को भूल गया और अपूर्व रूप से उनकी अर्चना कर छोटे भाई के समान स्नेह से उनका लालन करने लगा। इस प्रकार श्रीमान् वामनदेव मेरा स्वास्थ्य सम्पादन कर अपने स्थान को चले गये। पता नहीं वे कहाँ निवास करते हैं; स्वर्ग में हर समय उन्हें नहीं देखा जा सकता हैं उनको न देख पाने के शोक से अभिभूत हो गया, तब मन में आया कि नीलाचल जाकर नीलाचलपति के

दर्शन करूँगा— क्योंकि वे सदा स्थिर भाव से विराजते हैं। किन्तु भगवान् की कितनी अपूर्व कृपा है। मुझे शोकाभिभूत देखते ही वे प्रादुर्भूत हुए और मेरे द्वारा प्रदत्त पूजोपहार को अपने स्वहस्त से ग्रहण किया और मुझे मधुर वचन से आश्वासन दिया, जिससे मेरा शोक प्रशमित होने लगा। इस प्रकार मैंने इन्द्र का पद ग्रहण करते हुए देव-परिमाण के एक वत्सर तक वहाँ सुख से वास किया। इसी बीच में एकबार महर्लोकवासी भृगु इत्यादि मुनिगण अकस्मात् कृपावश स्वर्ग में आये। पापियों के स्पर्श से सब तीर्थों के अपवित्र होते ही उनकी पवित्रता को बनाये रखने के लिए जो भूमण्डल में विचरण करते हैं। (पापी व्यक्तियों के तीर्थों में स्नानादि करने से पृथ्वी के तीर्थ समूह पापियों के पाप का हरण करते हैं, किन्तु उस पाप को विनष्ट करने की शक्ति तीर्थों में नहीं है। अतएव उस पाप राशि के इकट्ठे होते रहने से तीर्थसमूह जब अपनी पवित्रता की रक्षा में अक्षम हो जाते हैं, तब भगवद् भक्तगण स्नान आदि के छल से तीर्थ में आकर अपने हृदयस्थ गोविन्द के संस्पर्श से तीर्थों की पापराशि विनष्ट कर उनकी पवित्रता सम्पादन करते हैं। इसे छोड़कर स्वतः पवित्र महाभागवद्गण के तीर्थादि पर्यटन का कोई प्रयोजन नहीं है। श्रीमद्भागवत में देखा जाता है— श्रीविदुर के तीर्थपर्यटन कर हस्तिनापुर प्रत्यागमन करने पर श्रीयुधिष्ठिर ने उनसे कहा—“ भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभो। तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तः स्थेन गदाभृता ॥” अर्थात् ‘हे प्रभो! भवाद्दृश भगवद् भक्तगण स्वयं तीर्थस्वरूप है, आप लोगों को तीर्थपर्यटन की कोई आवश्यकता नहीं है। फिर भी अपने हृदयस्थ श्रीगदाधर के संस्पर्श से मलिन जन सम्पर्क से संचित पापराशियुक्त तीर्थ समूह को पवित्र करने के उद्देश्य से ही आप तीर्थ-पर्यटन करते हैं।’ (भा. 1/13/11) भृगु इत्यादि महर्लोकवासी मुनिगण जब इसी उद्देश्य से भूलोक के तीर्थ पर्यटन के लिए जा रहे थे तो रास्ते में स्वर्ग में श्रीगोपकुमार ने उनके दर्शन किये मुनिगण के आगमन से स्वर्ग के देवतागण, बृहस्पति इत्यादि ऋषिगण यहाँ तक कि स्वयं श्रीवामनदेव ने आदरपूर्वक उनकी अर्चना की, जिसे देखकर मैं विस्मित हो गया। मैं यहाँ पर नवागन्तुक था, और सदैव विष्णु सेवारस में निमग्न रहता था, इसलिए किस की किस प्रकार की मर्यादा है यह मुझे ज्ञात नहीं था, श्रीबृहस्पति आदि गुरुगण के द्वारा अनुमति प्रदान करने पर मैंने भी आदरपूर्वक महर्षिगण की अर्चना की। महर्षिगण मुझे आशीर्वाद देने के बाद यथास्थान

को चले गये और भगवान् उपेन्द्र भी अन्तर्हित हो गये, तब मैंने देवगण से उनके बारे में जिज्ञासा प्रकट की। देवगण उनके प्रति मात्सर्य के कारण उनका उत्कर्ष वर्णन करने में लज्जा और भय से निरुत्तर हो रहे थे तब बृहस्पति मुझसे बोले— “हे देवराज! स्वर्ग के ऊर्ध्व देश में शुभ कर्मों द्वारा प्राप्य महर्लोक विराजमान हैं। भूः, भुव, और स्वर्ग इन तीनों लोकों की प्रलय के बाद भी महर्लोक विद्यमान बना रहा है, मुक्ति के अधिकारी व्यक्ति ही वहाँ वास करते हैं। विवेकीगण का मत है कि जिस प्रकार भूर्लोक के सार्वभौम सुख से इन्द्रपद का सुख कोटि गुना है उसी प्रकार इन्द्रपद से इन महर्षिगण का सुख भी कोटि गुना अधिक है। वहाँ भृगु इत्यादि मुनिगण साक्षात् श्रीभगवान् यज्ञेश्वर की यज्ञानुष्ठान द्वारा अर्चना करते रहते हैं।

श्रीगोपकुमार ने कहा हे ब्रह्मन्! बृहस्पति की बात सुनकर मैं इन्द्रपद से विरक्त होकर महर्लोक जाकर यज्ञेश्वर के दर्शन की लालसा से मन्त्र का जप करने लगा। जप के प्रभाव से व्योमयान उपस्थित हुआ, उस पर चढ़कर शीघ्र ही महर्लोक पहुँचा और वहाँ पर त्रैलोक्य दुर्लभ निर्दोष सुख और भजन वैभव का दर्शन किया। भृगु इत्यादि हजारों भक्तिपरायण महर्षि महा-महा यज्ञ का विस्तार कर रहे थे और उस यज्ञाग्नि से करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान स्वयं यज्ञेश्वर प्रादुर्भूत होकर यज्ञभाग भोजन करते-करते क्रीड़ा कर रहे थे एवं याजकगण को इष्टवर प्रदान कर रहे थे। उन यज्ञेश्वर के अति आश्चर्यमय प्रभाव के दर्शन से मैंने अत्यन्त आदरपूर्वक उन्हें प्रणाम किया। उसे देखकर श्रीयज्ञेश्वर ने दयार्द्र वचनों से आह्वानपूर्वक स्वहस्त द्वारा मुझे महाप्रसाद प्रदान किया। उनकी कृपा से मैंने अपूर्व आनन्द का लाभ किया। मैंने जगदीश के दर्शनादि से अशेष वाञ्छित सिद्ध होने के कारण अपने को धन्यमाना। दयालु महर्षिगण के साथ इधर-उधर विचरण करते हुए श्रीजगदीश्वर को प्रत्येक घर में उसी प्रकार अर्चित होते देखा। इस प्रकार परमानन्द पूर्वक वहाँ वास करने लगा तो महर्षिगण ने मुझे भी ब्राह्मणत्व प्रदान करना चाहा ताकि मैं भी एक महर्षि की तरह चिरकाल तक यज्ञेश्वर की अर्चना कर सकूँ। किन्तु मैंने सोचा कि वैश्यदेह का लाभ पा रहा हूँ, विप्रदेह से यह सम्भव नहीं हो सकेगा, दूसरे सद्गुरुपविष्ट शीघ्र फलदायक मन्त्रजप भी शिथिल हो जायेगा, क्योंकि यहाँ तो यज्ञ को छोड़ अन्य किसी कार्य में रुचि नहीं देखी जाती है। इन्हीं कारणों से मैंने विप्रत्व स्वीकार नहीं किया। महर्षिगण से अनुनय विनय करने उनके निर्बन्ध से छूटकर वहीं सुख

से रहने लगा। किन्तु हे ब्रह्मन्! यज्ञ समाप्त होते ही यज्ञेश्वर अन्तर्हित हो गये, तो मेरे हृदय में दुःख का संचार होने लगा यद्यपि यज्ञानुष्ठान से वे फिर प्रादुर्भूत होंगे और मेरा दुःख भी अन्तर्हित होगा। फिर सहस्र चतुर्युग पश्चात् परब्रह्म के दैनन्दिन प्रलय से जब तीनों लोक दग्ध होंगे तब उस ताप से महर्लोक भी तप्त होगा और महर्षिगण उसके ऊपर स्थित जनलोक में चले जायेंगे। ब्रह्मा के दिवावसान पर जनलोक में रात्रि होने से यज्ञानुष्ठान नहीं हो सकता है, तब यज्ञेश्वर के अदर्शन से उत्पन्न ताप प्रलयकालीन ताप से भी अधिक अनुभव होने लगता और उस भगवद् विरह ताप के निवारण के लिए श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्र जाकर जगन्नाथदेव के दर्शन करने की लालसा उठती। महर्लोक में निवास करते हुए निर्जन में जिस समय पूर्ववत् अपना इष्टमन्त्र जपता तो ब्रजभूमि के दर्शन की इच्छा से शोकातुर हो जाता, दयामय भगवान् यज्ञेश्वर प्रादुर्भूत होकर मुझे आह्वान करते एवं मेरे प्रदत्त उपहारों को प्रीति पूर्वक ग्रहण करते तब सूर्योदय से अन्धकार के नाश के समान ही मेरे समस्त सन्ताप दूर होते।

एकबार महर्लोक में महातेजपुञ्ज कलेवर पाँच वर्षीय बालक के समान प्रतीत होने वाले कोई पुरुष ऊर्ध्वलोक से आये, उनके दर्शन कर महर्षिगण ने आदरपूर्वक दण्डायमान होकर भक्तिपूर्वक उन ध्याननिष्ठ पुरुष को यज्ञेश्वर के समान सम्मान पूर्वक प्रणाम और पाद्य अर्घ्य द्वारा अर्चना की। उन स्वेच्छाचारी पुरुष के प्रस्थान के बाद मैंने महर्षिगण से पूछने पर पाया कि वे महर्षिगण के पूजनीय, आत्मारामगण के आचार्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे, जिनका नाम श्रीसनत्कुमार था। जनलोक के ऊर्ध्व में तपलोक में उनका निवास है, उनके और भी तीन भाई हैं वे भी उन्हीं के समान योगीन्द्र हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा यह तपलोक लाभ किया जा सकता है, इस स्थान का आनन्द महर्षिगण के आनन्द की अपेक्षा कोटि गुना अधिक है। महर्षिगण के यज्ञेश्वर के समान ही यह पूजनीय है, विशेष रूप से यह भगवदवतार और परम भागवत् हैं, इसी कारण यज्ञादि कार्यों को छोड़कर महर्षिगण ने उनकी अर्चना की।

हे ब्रह्मन्! सनत्कुमार आदि के प्रभाव को सुनकर तपलोक प्राप्ति की कामना से समाहित चित्त से अपने इष्टमन्त्र का जप किया और जप के प्रभाव से परम तेजस्वी होकर अत्यन्त शीघ्र ही तपलोक में जाकर उपस्थित हो गया।

वहाँ पहुँच कर पहले देखे हुए श्रीसनत्कुमार और उनके अन्य तीन भाइयों श्रीसनक, सनन्दन और सनातन के दर्शन किये। तपलोकवासिगण द्वारा भगवदवतार वे सनकादि मुनिगण सम्मानित हो रहे थे एवं मेरे जैसे लोगों के लिये अगम्य परस्पर बातचीत में व्यस्त थे। यद्यपि वे श्रीभगवान् के समान लक्षणों से युक्त न थे फिर भी उनके दर्शन से हृदय में अपार आनन्द का उदय हुआ। उनके अन्यत्र चले जाने पर स्वर्गादि के समान प्रकटरूप से श्रीभगवान् के दर्शन की अभिलाषा से इधर-उधर भ्रमण करके भी श्रीजगदीश्वर के दर्शन न पाकर उन महामुनिगण से प्रश्न किया, किन्तु उन्होंने उसका कोई उत्तर नहीं दिया, मेरे द्वारा स्तवादि करने पर भी उन्होंने मेरी ओर देखा तक नहीं। इसका कारण यह था कि वे प्रायः समाधिस्थ रहते थे कभी-कभी आलाप और बाह्यपूजादि करते थे। वस्तुतः वे ऊर्ध्वरिता, आत्माराम, पूर्णकाम और अणिमादि सिद्धियों से निषेव्यमाण थे। वहाँ पर मेरी भगवद्दर्शन की आशा फलवती न हुई, वरन् आत्मारामगण के संसर्ग से वह आशा क्षीणतर होने लगी। फिर भी उनके प्रभाव को देख अन्यत्र जा नहीं पा रहा था, श्रीगुरु वाक्य के गौरव हेतु मन्त्र का जप भी करता। मन्त्रजप से जो चित्त में लाभ प्राप्त होता वह मुनिगण के संसर्गजनित आनन्द से बहुत गुना अधिक था। उस आनन्द की अधिकता से एकबार सदा विराजमान श्रीजगन्नाथदेव के दर्शन के लिए नीलाचल जाने का मन किया। इसी अवसर पर श्रीपिप्पलायन नामक योगीन्द्र सर्वज्ञताशक्ति के प्रभाव से मेरे मनोगत भाव को जानकर मेरे सम्मुख उपस्थित हुए।

श्रीपिप्पलायन ने कहा— हे गोपकुमार! तुम किस लिए इस महत्पद को त्यागकर अन्यत्र जाने के लिए इच्छा कर रहे हो, और इन्द्रियादि के अगोचर उस परमेश्वर को क्यों आँख द्वारा देखने के लिए इधर-उधर भ्रमण कर रहे हो? तुम समाधियोग से अपने मन को समाहित करो, समाधियोग से तुम प्रत्यक्ष की भाँति ही अन्दर और बाहर उनके दर्शन कर सकोगे। चित्त से अन्य पदार्थ के स्फूर्तिमय मल दूर होते ही उस नितान्त शोधित और सत्यभावित चित्त में सच्चिदानन्द विग्रह चित्त के अधिष्ठाता वासुदेव स्वयं ही स्फुरित हो जाते हैं। वे अपरिच्छिन्न एवं स्वप्रकाश है इसलिए बाह्येन्द्रिय चक्षु आदि के द्वारा उनका दर्शन सम्भव नहीं है। चक्षु द्वारा जो श्रीहरि का दर्शन है, वह भी मन के द्वारा ही निष्पन्न होता है, कारण यह है कि सभी इन्द्रियाँ तो मन के

अधीन है। यदि कहो कि ध्रुव, प्रह्लाद आदि ने तो नयन द्वारा ही श्रीभगवान् के दर्शन प्राप्त किये थे, ऐसा सुना जाता है, इसका क्या कारण है? इसके उत्तर में मैं कहता हूँ— भक्तवत्सलादि गुण से श्रीभगवान् कभी-कभी किसी को बाह्य चक्षु से दर्शन देने पर भी वह सन्दर्शन ज्ञानरूप दृष्टिद्वारा ही सम्पन्न होता है, तो भी श्रीभगवान् के वात्सल्य आदि गुण के द्वारा “मैंने आँख द्वारा ही श्रीभगवान् का दर्शन किया।” इस प्रकार का अभिमान मात्र ही होता है। फिर श्रीभगवान् जीव के बाह्य चक्षु द्वारा दृष्टिगोचर होने पर भी उनके दर्शन का आनन्द मन से ही निष्पन्न होता है, कारण यह है कि सुख-दुःख, आनन्द आदि सब मनोधर्म ही है। फिर श्रीभगवान् का साक्षात् दर्शन प्रेमिक भक्तगण के लिये हर्षदायक है अभक्तगण के लिए नहीं, इसी कारण श्रीभगवान् के साक्षात् दर्शन से भी कंस आदि असुरगण को भय, द्वेषादि का उद्रेक हुआ। भगवद्द्रसानन्द आस्वादन का हेतु जो प्रेमभक्ति उसके साधनविध-साधनभक्ति में स्मरण को ही मुख्य भक्ति मानते हैं, क्योंकि स्मरण में समस्त इन्द्रियों में श्रेष्ठ मन की वृत्ति समूह श्रीभगवान् को समर्पित कर दी जाती है। ध्यानस्थ मन में प्रेमभक्ति का अविराम स्फुरण होता है। भक्तगण जिस प्रेम पदार्थ को अद्वितीय महानिधिरूप से हृदय सम्पुट में धारण करते हैं, वह प्रेम संज्ञक पदार्थ भी मनोवृत्ति का ही परिणाम-विशेष है। यदि इस समय मन का समाधान तुमसे न बन पा रहा हो, तो आँखों की सफलता के लिए भारतवर्ष में जाकर गन्धमादन पर्वत पर नरसखा नारायण के दर्शन करो। हम लोग समाधियोग से निरन्तर उनका अन्दर से बाहर दर्शन करते हैं इसलिए उनका विच्छेद दुःख अनुभव नहीं करते हैं और प्रभु भी इस प्रकार की योग्यता जानकर गन्धमादन पर्वत पर गये हैं। (इस स्थल पर प्रणिधानयोग्य विषय यह है कि तपोलोकवासी ज्ञानीभक्त योगीन्द्रगण का सिद्धान्त इस प्रकार है। वस्तुतः ज्ञानादि आवरण शून्या शुद्धाभक्ति के प्रभाव से इन्द्रियादि क्रमशः जड़त्वधर्म त्याग करके चिन्मय हो जाती हैं और उन अप्राकृत चक्षु आदि से सच्चिदानन्दमय श्रीभगवान् के दर्शन करने में कोई बाधा नहीं रहती है। प्रेमिकभक्त केवल समाधियोग से श्रीभगवान् को अनुभव करके सुखी नहीं होते हैं, वे आँख से उनकी रूपमाधुरी का दर्शन कर, कान से उनकी वचनमृत माधुरी पान कर एवं अपने हाथ से उनके पादपद्म की सेवा करके धन्य होना चाहते हैं। करुणामय भक्तवत्सल श्रीभगवान् भी प्रेमिकभक्त की भक्तिभावित

प्रत्येक इन्द्रिय में परिस्फुरित होकर भक्त की मनोवासना पूर्ण करते हैं। अतएव भक्त यथावस्थित माँस नेत्रों से ही श्रीभगवान् का साक्षात्कार लाभ करते हैं, केवल मन से श्रीभगवान् का अनुभव कर प्रेमिक भक्त की दर्शन पिपासा की शान्ति नहीं होती है, इसी कारण भक्त गोपकुमार ने पिप्पलायन के सिद्धान्त से मन में भगवान् को देखने के लिए समाधिस्थ होने की इच्छा नहीं की।)

हे ब्रह्मन्! श्रीपिपलायन की बात सुनकर मेरे गन्धमादन पर्वत जाने के लिए तैयार होते ही श्रीसनकादि चारों ऋषि मेरे चित्त की चंचलता अवगत होकर बोले—“ हे गोपकुमार! तुम इसी स्थान पर श्रीभगवान् का दर्शन करो।” यह कहकर उन्होंने अनेक भगवन्मूर्तियों के मुझे दर्शन करवाये। श्रीसनक श्रीनारायणरूप, किसी ने विष्णुरूप, किसी ने यज्ञेश्वर, किसी ने नृसिंहादि रूप को प्रकटित किया। मैं यह अद्भुत घटना देखकर भय से काँपते हुए हाथ जोड़कर बोला— हे दीनवत्सलगण! मेरे अपराध क्षमा करिये। इसके बाद सनकादि मुनिगण ने मेरा मस्तक स्पर्श किया और मैं समाधिस्थ हो गया और मैंने समाधि में ही श्रीविष्णु की सभी मूर्तियों के दर्शन किये। समाधि भंग होने पर भी ध्यानावेश में मैं वह समस्त मूर्तियों के दर्शन करने लगा। किन्तु जब भी मैं जप करता तभी श्रीवृन्दावन के विच्छेदजनक शोक से अधीर हो जाता। फिर समाधि दशा में सुषुप्ति के समान चित्तवृत्ति की लय साधित होने के कारण जप में एवं भगवद्रूप दर्शन में विघ्न उपस्थित होता, इसलिए विलाप करता एवं नीलाचल जाकर श्रीजगन्नाथ दर्शन करने की इच्छा होती। (ज्ञानिभक्तगण की समाधि में सर्वेन्द्रिय के साथ चित्तवृत्ति की लय साधिक होने सह यह भगवन्माधुर्य आस्वादनकारी भक्तगण की रुचिकर व उनके भाव के अनुकूल नहीं है।

श्रीभगवान् का निविड़ स्फुरण एवं अन्य विषय का अस्फुरण ही भक्तगण की ‘भाव-समाधि’ हैं यही दासादि भक्तगण की आकांक्षणीय वस्तु है। श्रीमत् जीवगोस्वामी ने इस विषय में लिखा है—“ध्येयमात्र स्फुरणं समाधिरिति क्वचिल्लीलादि युक्ते च तस्मिन् अन्यास्फूर्तिः समाधि स्यात्। एतद्रूपोदासादि भक्तानाम्। पूर्वस्तु प्रायः शान्तभक्तानाम्।” (भा. 7/5/18 श्लोक की क्रमसन्दर्भ व्याख्या।) इस बात से शान्तभक्त (पिप्पलायनादि योगीन्द्र) गण की समाधि से दासादि भक्तगण की समाधि का पार्थक्य देखा जाता है। भाव समाधि से यदि लीलामय भगवान् की स्फूर्ति न हो तो उसे ‘भाव’ की संज्ञा ही नहीं दी

जा सकती, ऐसा समझना चाहिए।) जो भी हो क्रमशः अभ्यास के बल से मैंने प्रत्यक्ष के समान ही जगदीश्वर के दर्शन कर वहाँ बहुत दिन सुख से वास किया था।

हे ब्रह्मन्! किसी समय हंसारूढ़ श्रीब्रह्मा अपने भक्तगण के दर्शन के लिए पुष्करद्वीप जाने के पथ में तपलोक में उपस्थित हुए और सनकादि मुनिगण ने उनको सादर प्रणाम कर भक्तिभाव से उनकी अर्चना की। श्रीब्रह्मा भी उनको आशीर्वाद देकर स्नेहपूर्वक मस्तक सूँघकर कुछ भगवद् भक्ति का उपदेश करके पुष्करद्वीप को चले गये। तब मैंने सनकादि से उनका हाल जानने की उत्सुकता प्रकट की तो उन्होंने हँसते हुए कहा— हे गोपबालक! तुम यहाँ इतने दिन रहने के बाद भी परम प्रसिद्ध ब्रह्मा के तत्त्व को नहीं जान पाये? यह प्रजापतिगण के पति हैं, इनका नाम ब्रह्मा है, यह मेरे पिता हैं, यह स्वयम्भू हैं, इनका कोई पिता नहीं, श्रीभगवान् के नाभि कमल से इनका आविर्भाव हुआ है, ब्रह्माण्ड में सर्वोपरि सत्यलोक में इनका वास है, सौ जन्मों तक शुद्ध स्वधर्म पालन द्वारा ही सत्यलोक का लाभ किया जा सकता है। वहाँ सहस्र शीर्षापुरुष श्रीजगदीश्वर सदा ही विराजते हैं। श्रुति से जाना जाता है कि — ब्रह्मा उस महापुरुष के पुत्र के समान हैं, अथच उनसे इनमें कोई भेद नहीं है, जगदीश्वर ही दो मूर्तिरूप से प्रकाशित हो रहे हैं, यही मेरी भी धारणा है। (किसी-किसी कल्प में कोई महत्तम जीव ब्रह्माधिकार प्राप्त करता है, फिर ब्रह्माण्ड में उस प्रकार के योग्य जीव का अभाव होते ही श्रीविष्णु ही ब्रह्मा रूप से अवतीर्ण होकर सृष्टि कार्यादि करते हैं। अतएव कल्पभेद से ब्रह्मा का जीवत्व और ईश्वरत्व दोनों ही सिद्ध है। शास्त्र में ईश्वराविर्भाव की अपेक्षा करके ही ब्रह्मा को श्रीभगवान् का अवतार या श्रीभगवान् के साथ ब्रह्मा का अभेदत्व कहा जाता है। यहाँ पर श्रीसनकादि मुनिगण भी ईश्वर कोटि ब्रह्मा को लक्ष्य करके ही इस प्रकार कह रहे हैं। श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में ब्रह्मा नारद सम्वाद पाया जाता है, श्रीनारद द्वारा श्रीभगवान् के साथ ब्रह्मा का अभेदत्व कीर्तन करने से श्रीब्रह्मा ने स्वयं को अपराधी मानकर आक्षेप किया है। श्रीवृहद्भागवतामृत प्रथम खण्ड के द्वितीय अध्याय में भी जीवब्रह्मा की नारद के प्रति अनुरूप उक्ति देखी जाती है।)

श्रीगोपकुमार ने कहा— हे ब्रह्मन्! मैंने सनकादि की बात से प्रभावित होकर सत्यलोक में जाकर उन महापुरुष के दर्शन करने की इच्छा से निविष्ट चित्त से मन्त्रजप किया और क्षणकाल के बाद ही आँख उन्मीलित करके

देखा कि मैं सत्यलोक में ही बैठा हूँ और वे जगदीश्वर भी मेरे नयन गोचर हो रहे हैं। श्रीमद् जगदीश्वर सहस्रत्रबाहु, सहस्रत्रपाद से सुशोभित, नीलमेघ के समान कान्तिविशिष्ट श्रीअंग तदनुरूप भूषणों से विभूषित हैं, नाभिदेश में प्रफुल्लकमल विराजमान हैं और उस अखिल विश्व के मनोनयनाभिराम प्रभु शेषनाग की शय्या पर शयन कर रहे हैं। रमादेवी श्रीचरण सम्वाहन कर रही हैं, गरुड़ अंजुली बाँधे सम्मुख ही विराजमान हैं। श्रीभगवान् उनके प्रति कृपापूर्वक दृष्टिपात कर रहे हैं। बहुत वैभव से पूज्यमान जगदीश्वर अपने कर-कमल के मधुर स्पर्श द्वारा पूजक ब्रह्मा का लालन कर रहे हैं। श्रीनारद प्रणय नृत्यगीतादि द्वारा उनकी सेवा कर रहे हैं और श्रीजगदीश्वर उससे चित्त सन्निवेश कर रहे हैं। श्रीभगवान् परम गोप्य निगमार्थ के सारभूत स्वभक्तिमार्ग कमलासन ब्रह्मा को उपदेश कर रहे हैं, और ब्रह्मा उस भक्तित्व को सुनकर प्रमोद से विह्वल हो रहे हैं एवं बारम्बार प्रभु के श्रीचरण कमल की वन्दना कर रहे हैं। हे ब्रह्मन्! मैं यह सब देखकर अत्यन्त आनन्द के कारण मूर्छित हो गया। श्रीलक्ष्मीदेवी ने कृपाकर मेरे पास आकर अपने सुशीतल करस्पर्श से मेरा चैतन्य सम्पादन किया और अपने शिशु के समान लालन कर मुझे जगदीश्वर के पास ले गई। मैं श्रीभगवान् का दर्शन कर बार-बार प्रणाम कर अपने मन में बोला— “हे मन! तुम अपने अभीष्ट की चरम सीमा प्राप्त कर इस समय निश्चलभाव से इस आनन्दामृत का आस्वादन करो। इस सत्यलोक में जगदीश्वर परमोत्कृष्ट आकृति, सौन्दर्य, गुण, वैभव, महत्वादि की चरमसीमा को प्राप्त हो रहे हैं। हे भाई मन! तुमने तो साक्षात् लक्ष्मीदेवी का स्नेह अनुभव किया है, इसलिए ब्रजभूमि के लिए अब और शोक मत करना और यह आनन्दमय स्थान त्यागकर अन्यत्र जाने की इच्छा न करना। जगदीश्वर विधाता का जिस रूप से लालन कर रहे हैं— तुम भी मन्त्रशक्ति के प्रभाव से उसी प्रकार के लालन प्राप्त कर सकोगे।” ब्रह्मा के दिवावसान पर दैनन्दिन प्रलय होने पर तीनों लोक (भू, भुव और स्वर्ग) नष्ट होने से श्रीभगवान् ब्रह्मा के साथ शेषशैय्या पर सुख से शयन करते हैं— सत्यलोक के प्रभाव से मैंने इस कौतुक के भी दर्शन किये। कभी-कभी श्रीभगवान् के अर्न्तहित होने से मैं शोकार्त होता— फिर आविर्भूत होते ही शोक दूर हो जाता। इस प्रकार वहाँ के कतिपय दिन व्यतीत होने पर एकदिन प्रातः कौतुकवश ब्रह्मा ने फेनपुञ्ज को स्पर्श किया, उससे एक भयंकर असुर का आविर्भाव हुआ उस दैत्य के

भय से ब्रह्मा छिप गये। बाद में श्रीभगवान् ने दैत्य का विनाश तो कर दिया, किन्तु भयाक्रान्त ब्रह्मा फिर लौटकर नहीं आये, इसलिए प्रभु ने मुझे ही ब्रह्मा के पद पर नियुक्त कर दिया।

हे ब्रह्मन्! मैंने ब्रह्मा का अधिकार प्राप्त कर भक्ति वृद्धि की कामना से वैष्णवगण की सृष्टि करके उनको प्रजापति और इन्द्रादि के अधिकार प्रदान किये। अश्वमेधादि यज्ञ का विस्तार करके सब जगह श्रीभगवान् की अर्चना को प्रारम्भ कराया। इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड आनन्द से परिपूर्ण हो उठा। मुझे ब्रह्मा के अधिकार प्राप्त होने से मूर्ति धारण पूर्वक वेदसमूह, यज्ञसमूह, पुराण, इतिहास, आगमादि, तीर्थगण, महर्षिगण और ब्रह्मर्षिगण अनेक प्रकार से मेरी स्तुति करते थे इस प्रकार परमैश्वर्य रूप महामद से व्याप्त होकर भी मैंने स्वाभाविक निष्किञ्चनता का त्याग नहीं किया। फिर भी ब्रह्मापद के विपुल कर्तव्य के बोझ के कारण चिन्तित रहता और स्वच्छन्दभाव से भक्तिसुख का लाभ नहीं कर पाता। फिर मेरी आयु द्विपरार्धकाल होने से भी कालभय से डरकर मन्त्रजप करता एवं मन्त्रजप के समय श्रीवृन्दावन स्मरण के कारण विरह-दुःख से पीड़ित हो जाता। लेकिन जगदीश्वर जब पुत्र के समान लालन करते तो चित्त की चंचलता शान्त हो जाती। एकबार सत्यलोकवासी किसी मुक्तजीव की प्रशंसा करने से उनके निकट मुक्ति किसे कहते हैं यह जिज्ञासा प्रकट की और उनसे मुक्ति का महान् उत्कर्ष और दुर्लभता सुनी। इसके बाद मैंने मुक्ति प्राप्ति की कामना से ब्रह्मलोकवासी सर्वज्ञ वेदादि से मुक्तिलाभ के उपाय के सम्बन्ध में प्रश्न किये। उपनिषद्गण श्रुति और स्मृति के साथ मिलकर एक ही स्वर में कहा कि ज्ञान में ही मुक्ति ही है, मुक्तिलाभ का अन्यकोई उपाय नहीं है। यह सुनकर भगवद्भक्ति प्रवर्तनकारी पुराण, आगमन, पञ्चरात्रादि ने गम्भीर होकर कहा— यद्यपि ज्ञानद्वारा ही मुक्तिलाभ होती है यह सत्य है, तथापि भगवद् भक्ति से ही वह ज्ञान सुलभ होता है, अन्य किसी उपाय से ज्ञान लाभ नहीं होता है। भगवद् भक्ति से यथायथ निष्कामत्व सिद्ध होता है, इसलिए भक्ति के अनुष्ठान से ही मुक्ति सुलभ हो पाती है। किसी-किसी श्रुति-स्मृति ने मस्तक हिलाकर इसमें सम्मति प्रदान की। जिन सब श्रुति स्मृति ने भक्ति को मुक्ति का स्पष्ट कारण स्वीकार नहीं किया, उनके प्रति क्रोध दिखाते हुए महोपनिषद्गण एवं उनके अनुगत आगमपुराणआदि ने एक स्वर से भक्ति को मोक्ष के कारण के रूप में अनुमोदन किया। (तात्पर्य

यह है कि भक्ति की सहायता के बिना कर्म ज्ञानादि कोई भी साधन फल देने में समर्थ नहीं है, इसलिए शास्त्र कर्म-ज्ञानादि की साधना में भक्ति की सहायता ग्रहण करने का उपदेश देते हैं। “भक्ति बिना कोन माधन दिते पारे फल। सब फल देय भक्ति परम प्रबल ॥” (चै. च.) भक्ति सम्पर्क शून्य ज्ञानादि के साधन से केवल परिश्रम ही हाथ आता है। श्रीमद् भागवत कहती है— “श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये। तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद् यथा स्थूलतुषावधातिनाम्।” (भा. — 10/14/4) अर्थात् हे विभो! जो सर्वमंगल निकेतन भक्ति साधन का अनादर कर केवल शुष्क ज्ञान लाभ की आशा से शमदमादि बहुत साधन क्लेश स्वीकार करते हैं— चावल विहीन केवल भूमी को कूटने से जिस प्रकार चावल प्राप्त नहीं होता है केवल क्लेश ही मिलता है, उसी प्रकार उन्हें भी मुक्तिलाभ न होकर परिश्रम मात्र ही मिलता है। “केवल ज्ञान मुक्ति दिते नारे भक्ति बिने। कृष्णभक्तेर सेह मुक्ति हय बिना ज्ञाने ॥” (चै. च.) कोई-कोई रहस्यमय भगवद्भक्ति पर उपनिषद्, गूढ़ आगम, सात्वत वैष्णवतन्त्र और महापुराण श्रीमद् भागवतादि ने मृदुहास्य पूर्वक मौनावलम्बन किया। किसी किसी ने कहा— भगवत् मन्त्रजप के प्रभाव से सहज ही मुक्ति प्राप्त होती है, किसी ने कहा— नहीं होती है। इस प्रकार वेद पुराणादि के साथ आगमादि का प्रचण्ड विवाद आरम्भ होते ही गूढ़ उपनिषद् और महापुराणादि कान में अंगुली देकर बाहर चले गये। (श्रीमद्भागवतादि भक्ति शास्त्रों में प्रेम की बाधक मुक्तिवासना को जीवस्वरूप के कपटता बोध से दूर से ही त्याग करने का उपदेश दिया गया है, क्योंकि मुक्तिवासना हृदय में विद्यमान होते हुए भक्तिसुख लाभ की आशा बहुत दूर चली जाती है। “भुक्ति-मुक्ति स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते। तावद् भक्ति सुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्?” (भ. र. सि. 1/2/22) अर्थात् “भुक्ति मुक्ति रूपा पिशाची जिस क्षण तक हृदय में विद्यमान रहती है, उस क्षण तक उस हृदय में भक्तिसुख का उदय नहीं हो पाता है।” शुद्ध भक्त को यदि श्रीभगवान् चतुर्विध मुक्ति हाथ से उठाकर देना भी चाहें तो वे उसे ग्रहण नहीं करते हैं, और ब्रह्मसायुज्य मुक्ति के ग्रहण करने की तो कोई बात ही नहीं है। इस समस्त भक्तिमहात्म्य में लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। इसलिए भक्ति से मुक्ति प्राप्त होती है, कि नहीं, इस प्रकार का संशय सुनने के भी योग्य नहीं है और इसे महा अपराध समझकर ही

महापुराणादि कान में अंगुली देकर उस स्थान से बाहर चले गये थे, ऐसा समझना चाहिए।) इसके बाद महोपनिषद्गण विवाद निष्पत्ति के मध्यस्थ बने और आगम के पक्ष में जय की घोषणा करने से मैं आनन्दित हुआ। अर्थात् भगवन्मन्त्रजप के द्वारा मुक्ति सिद्ध होती है, इस पक्ष की जय होते ही मुझे मन्त्रजप में निष्ठा प्राप्त हुई और आनन्द हुआ।

हे विप्र! शास्त्रसमूह के विवाद के समय जो महापुराण और आगमादि कान में अंगुली देकर बाहर चले गये थे— मैंने आदर पूर्वक उनका आह्वान किया और उन्हें सभा में बिठाया और फिर उनसे मृदुहास्यपूर्वक मौनावलम्बन और कान में अंगुली देकर सभा से बाहर जाने का कारण पूछा। तब महोपनिषद्गण सात्वत-सिद्धान्त और श्रीमद्भागवत आदि ने मिलकर मुझ से कहा— हे लब्ध ब्रह्माधिकार! यह परम रहस्यमय तत्त्व ब्रह्मा के निकट भी प्रकाश योग्य नहीं है, फिर भी तुम्हारे भगवद् भजन शीलतादि गुण से वशीभूत होकर तुम्हारे पास हम लोग उस गोपनीय तत्त्व को स्वयं प्रकाशित करते हैं। हम भगवद् भक्ति पर शास्त्र है, इसलिए मुक्ति निरूपण करना हमारा उद्देश्य नहीं है, फिर भी मुक्ति त्याग के उद्देश्य से किसी-किसी स्थान पर मुक्ति का निरूपण कर मुक्ति और उसके साधन की विशेषरूप से निन्दा करते हैं। भक्ति ऐसी परमोत्कृष्ट वस्तु है जो, मुक्तिसुख से भी कोटि-कोटि गुना परमास्वादमयी है, इस प्रकार भक्ति की उत्कृष्टता निरूपण के प्रसंग में ही हमने मुक्ति का वर्णन किया है। वस्तुतः भक्ति के समान मुक्ति साध्यफल नहीं है, क्योंकि उसमें सुख की गन्ध भी नहीं है। केवल दुःख का अभाव मात्र ही मुक्ति का सुख माना जाता है, इसलिए अनभिज्ञ लोग ही उसमें रुचि प्रकाश करते हैं। श्रीभगवान् के नाम का आभास भी उस मुक्ति को अनायास ही प्राप्त करा देता है। विचार चातुर्य के अभाव के कारण ही मुक्ति से सुख या आनन्द की कल्पनामात्र की जाती है, वस्तुतः आत्मस्वरूपानुभूतिरूप मुक्ति में जो सुख है, वह सच्चिदानन्दघन श्रीभगवच्चरणारविन्द अनुभवरूप भक्तिसुख के समक्ष अत्यन्त तुच्छतितुच्छ है। मुक्तिसाधकगण के पास जो शुद्ध आत्मस्वरूप 'ब्रह्म' कहा जाता है, वह ब्रह्म भी निर्गुण, निःसङ्ग और निर्विकारसच्चिदानन्द वस्तु नहीं है। परन्तु परमेश्वर ही सच्चिदानन्द विग्रह है— विविध महिमा का सागर स्वरूप, उनका सामान्य प्रकाश और अंगकान्ति ही ब्रह्म है। ("कृष्णे अंगे प्रभा परम उज्ज्वल। उपनिषद् कहे यारे ब्रह्मसुनिर्मल ॥") (चै. च.)

श्रीभगवत् पादपद्मयुगल ही घनसुख स्वरूप है, अनन्त माधुर्यमय श्रीभगवत्चरणारविन्द की अफुन्त माधुर्यराशि केवल भक्ति या प्रेम के द्वारा ही आस्वादित होती है। (“कृष्णमाधुर्यस्य प्रेमैक स्वाद्यत्वम्”— श्रीजीव।) अर्थात् कृष्णमाधुर्य प्रेम के द्वारा ही आस्वादन किया जा सकता है। भक्तगण अपने-अपने प्रेम की जाति और परिमाण के अनुसार ही कृष्णमाधुर्य का आस्वादन करते हैं। ‘अमार माधुर्य नित्य नव-नव हय। स्व-स्व प्रेम-अनुरूप भक्त आस्वादन ॥’ (चै. च.) श्रीकृष्ण के चरण युगल शर्करापिण्ड के समान घनसुख स्वरूप और सुख का आधार है। ब्रह्म केवल सुख स्वरूप मात्र है, किन्तु सुख का आधार नहीं है। फिर घन तेज समूह जिस प्रकार तेजः पुञ्ज सूर्य का ही अंश है, उसी प्रकार जीव समूह ब्रह्म का ही अंश है, ब्रह्म से नित्य पृथक् तत्त्व हैं, इसलिए मुक्ति के बाद भी यह भेद नित्य वर्तमान ही रहता है। चिदानन्द स्वरूप जीव समूह चिद्घन परब्रह्म का अंश होते हुए भी अणुस्वरूप मानने के कारण निजतत्त्व विस्मृति के फलस्वरूप अनादि अविद्यारूपा कृष्ण माया द्वारा संसारभ्रम में पड़ सकता है। मुक्ति से निजतत्त्व ज्ञान द्वारा वह माया दूर हट जाती है, इससे स्व स्वरूपज्ञानरूप क्षुद्र आनन्द ही लाभ होता है। दूसरी ओर श्रीभगवत् पादपद्म की सेवारत भक्तवृन्द की भक्ति में सुख की पराकाष्ठा स्वतः ही-आविर्भूत होती है। अहो! गो विप्र घाती और भगवद् विग्रह से द्रोह परायण दैत्यगण जो मुक्तिलाभ करते हैं, वह दुष्टगण की प्राप्य मुक्ति क्या शिष्टगण की ग्रहणीय या प्रशंसनीय हो सकती है? साधुत्व और असुरत्व परस्पर प्रतियोगी और विपरीत वस्तु है अतएव साधु और असुर का साध्य और साधन का वैपरीत्य निश्चय ही होगा। श्रीकृष्ण भक्ति द्वारा ही साधुत्व सिद्ध होता है, कारण यह है कि भक्ति के साथ श्रीकृष्णपादपद्म सेवा ही साधुत्व का मुख्य लक्षण है, भक्ति ही श्रीकृष्णपादपद्म युगल प्राप्ति के बारे में परम साधन एवं भक्ति ही परम फल और साध्यवस्तु है।

यह भक्ति कर्म, ज्ञान और वैराग्यादि से निरपेक्ष है, केवल जो श्रीकृष्णभक्ति की ही मात्र अपेक्षा करते हैं, वे ही श्रीकृष्ण कृपा से वह भक्ति लाभ करते हैं। कर्म उस भक्ति का विक्षेपक, वैराग्य भक्ति का रस शोषक, ज्ञान भक्ति का हानिकारक किन्तु यही ज्ञान-वैराग्यादि भक्ति का अनुगामी होने से श्रेय का साधन बन जाता है। (तात्पर्य यह है कि कर्मार्ग के विविध क्रिया-कलापों से चित्त में चंचलता उपस्थित होने से भक्ति की हानि होती है, इसलिए कर्म को

भक्ति का विक्षेपक कहते हैं, भगवत् सेवा में भी तृष्णाराहित्य उत्पन्न होता है, महाप्रसादादि में भोगासक्ति बोध उत्पन्न होता है उसी प्रकार वैराग्य को भक्ति का रसशोषक और आत्मतत्त्व बोध से “मैं जीवन्मुक्ति दशा लाभ करके कृतार्थ हो रहा हूँ” मन में आने से भक्ति में व भजन में फिर प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होने के कारण ज्ञान को भक्ति के लिए हानिकारक कहा जाता है। अतएव शुद्धभक्ति-साधनासे भक्ति विरोधी ज्ञान-वैराग्यादि का संमिश्रण अनुचित है, क्योंकि भक्ति से ही भक्ति के पुष्टिकर ज्ञान-वैराग्य का प्रादुर्भाव होता है। “भक्तिः परपेशानुभवोविरक्तिरन्यत्र चैषत्रिक एककालः। प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥” (भा. 10/2/40) अर्थात् “भोजन में प्रवृत्त व्यक्ति का जिस प्रकार प्रत्येक ग्रास में तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति एक साथ ही साधित होता है, उसी प्रकार भगवद् भजन में प्रवृत्त व्यक्ति की भक्ति, भगवदनुभव और विषय वैराग्य एकसाथ ही उत्पन्न होता है। इसलिए भक्ति से उठे हुये भक्ति के पुष्टिकर इस प्रकार के ज्ञान वैराग्य को छोड़कर शुष्क ज्ञान और फल्गु वैराग्य से भक्ति की हानि होती है।” श्रीभगवान् ने उद्धव के प्रति कहा है—“ तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह।” (भा. 11/20/31) अर्थात्—“हे उद्धव! मेरे में भक्तियुक्त भक्त का ज्ञान वैराग्य प्रायः ही श्रेयस्कर नहीं होता है।” “ज्ञान-वैराग्य भक्तिर कभु नहे अंग। यम नियमादि बुले कृष्णभक्त संग ॥” (चै. च.)। भक्तिपथ में प्रथम प्रविष्ट साधक के पक्ष में इस प्रकार के ज्ञान वैराग्य की अन्यावेश दूरीकरण के लिए कुछ उपयोगिता होते हुए भी भक्ति भाव में प्रवेश हो जाने के बाद इसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती है। इसका फिर भी विद्यमान रहना भक्ति के लिए हानिकर या विच्छेद जनक होता है।) आत्माराम मुनिगण भी भगवत्कृपा से भक्त-संग लाभ कर भक्तिरस का आस्वादन प्राप्त होते ही ब्रह्मनिष्ठा त्यागकर भक्तिमार्ग में प्रविष्ट हो जाते हैं। सिद्ध मुक्तपुरुषगण भी भगवत्कृपाशक्ति के प्रभाव से सच्चिदानन्दमय देह लाभ करके उस अप्राकृत देहेन्द्रियादि के द्वारा श्रीहरि का भजन करते हैं। (माधुर्य मूर्ति श्रीभगवान् के नाम, गुण, लीला आदि के निषेवणरूप साधन भक्ति में इतना अपूर्व आस्वादन निहित है कि आत्माराम मुक्त पुरुषगण को भी उसका आस्वादन प्राप्त होने पर ब्रह्मानन्द तुच्छीकृत हो जाता है। “ब्रह्मानन्दोभवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः। नैति भक्तिसुखाम्भोधेः

परमाणुतुलामपि ॥” अर्थात् ब्रह्मानन्द परार्धगुणीकृत होते हुए भी वह भक्ति सुखसिन्धु के एक बूँद के साथ भी तुलनीय नहीं है।

“सर्वाकर्षक सर्वाह्लादक महारसायन।
आपनार वले करे सर्व विस्मरण॥
भुक्ति मुक्ति सिद्धि सुख छाड़ाय यार गन्धे।
अलौकिक शक्तिगुणे कृष्ण कृपाय बान्धे॥
शास्त्रयुक्ति नाहि इथे सिद्धान्त विचार।
एइ स्वभाव गुणे याते माधुर्ये सार॥”

इस प्रकार श्रीभगवान् की कृपामाधुर्य के प्रभाव से भक्ति में जो सुख प्राप्त होता है, आत्मारामगण के समाधिजन्य मुक्तिसुख से वह परम महान् है। भक्तिसुख अनन्तवैचित्री के कारण पूर्ण अनिर्वचनीय है। यह मुक्तिसुख का प्रतियोगी एवं परम मनोहर श्रीहरि की महाभक्ति विलास-माधुरी-भरात्मक है। जो भक्ति से अनभिज्ञ है वे मात्र तर्क के द्वारा इसको नहीं समझ सकते हैं। सच्चिदानन्दघन श्रीभगवान् सदा एकरूप में अवस्थित होते हुए भी अपनी और अपने भक्त की प्रतिक्षण शत-शत नव-नव माधुरी प्रकट करते रहते हैं, यह भक्तगण ही जानते हैं, अभक्त वहिर्मुखगण के लिए यह सर्वथा—दुस्तर्क्यस्वरूप है। परब्रह्म का परमैश्वर्य मधुर है, भक्तवृन्द के प्रति उनकी प्रदत्त करुणा का प्रकाश भी सुमधुर है, उनके भक्तगण जिस निविड़ मधुरानन्द का अनुभव करते हैं वह परम मधुर है, उसके समक्ष ब्रह्मानन्द भी अतिशय धिक्कृत है। (श्रुति परतत्त्व श्रीभगवान् के स्वरूप को इंगित करते हुए कहती है— “आनन्दं ब्रह्म” “रसो वै सः” “रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवति।” अर्थात् परतत्त्वस्वरूप भगवान् आनन्दमय रसमय और मधुमय है। उनमें चित्त को स्थिर करने से दुःखी जीवसमूह आनन्द लाभ कर धन्य हो जाते हैं, दुःखमय विश्व भी मधुमय प्रतीत होने लगता है। ऋग्वेद के ऋषियों ने भी इस महासत्य का प्रचार किया है—“ मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः, माध्वीर्णः सन्तौषधीः। मधुनक्तमुतषसो, मधुमत् पार्थिवं रजः मधुद्वौरस्तुनः पिता। मधुमान्नो वनस्पति मधुर्मा अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तुनः। ॐ मधु ॐ मधु ॐ मधु” (1 म मण्डल 91 स ऋग्वेद)। अर्थात्— मधुमय श्रीभगवान् के उपासक हमारे प्रति वायु मधुवर्षण करें, सिन्धु के वक्षस्थल में मधु रक्षित हो, औषधिसमूह मधु से भर जाये। दिन का प्रकाश मधुमय हो, रात्रि मधुर

ज्योत्स्ना से मत्त हो, पार्थिव धूलिकण मधुमय हो। स्वर्गधाम मधुमय हो, वनस्पति मधुमय हो, सूर्य मधुर हो, गौ समूह मधुर हो, विश्व मधु से भर जाये, मधुर छोड़कर जैसे विश्व में और कुछ भी न रहे, मधु भिन्न जैसे और कुछ भी न देखे।” मधु के लिए ऋषि की जो अतृप्त कामना है इसमें अन्तर्निहित रहस्य का पता करने के लिए हमें आनन्द भूमि वृन्दावन की ओर दृष्टिपात करना होगा। वहाँ से मधुर उपासक श्रीबिल्वमंगल की उदात्त वाणी सुनी जा सकेगी—“ मधुरं मधुरं मधुरम् ।” हे मधु पिपासु मानवात्मा ! अनादिकाल से जन्म-मरण के स्रोत में तैरते हुए जो मधुर वस्तु तुम नहीं कर सकी वही मधु मधुर मूर्ति धारण कर वृन्दावन में खड़ा है। मधुमयी भक्ति ही भक्त के कानों में इस मधुर वार्ता की घोषण करती है। भक्ति की कृपा से भक्त-भ्रमर के दल दूर से ही इस मधुर गन्ध को पाकर दौड़ते हुए वृन्दावन की ओर मानो नशे में मत्त होकर आ रहे हों। वहाँ जाकर देखते हैं, मधुमय नवीन मधुरमूर्ति। उसका चलना मधुर है, उसका बोलना मधुर है, उसका हँसना मधुर है, उसकी वंशी मधुर है, यहाँ तक कि उसका सब कुछ ही मधुमय है। “मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ।” “मधुर हैते सुमधुर, ताहा हैते सुमधुर, ताहा हैते अति सुमधुर आपनार एक कणे व्यापे सर्व त्रिभुवने, दशदिके वहे यार पुर ॥” मधु अन्वेषण के नशे की चरम कृतार्थता जो श्रीवृन्दावन ही है— यह गोपकुमार के वाक्य से क्रमशः परिस्फुट होगा।) श्रीभगवान् देशकालादि से अपरिच्छिन्न होकर भी जिस प्रकार भक्त के प्रति कृपा के वशीभूत होकर विविध अवतार विस्तार करते हैं, उसी प्रकार अपने भक्तवृन्द के विविध मधुरानन्द सम्पादन के लिए श्रवणकीर्तनादि बहुत सी स्वभजन सम्पत्ति का विस्तार भी करते हैं। विद्वान्गण भक्ति रूप सुकोमल महारस में एक कण्टक का प्रयोग नहीं करते हैं, फिर भी नवीन भक्तगण के मुमुक्षुता-दोष निवारण के लिए एवं उनके आनन्द सम्पादन के लिए मैं यत् किञ्चित् तर्क प्रयोग करता हूँ। तुम यदि इस समय मुक्ति की तुच्छता की उपलब्धि करना चाहो और विशुद्ध प्रेम लक्षणा भक्तिसम्पद् की वाञ्छा करो, तो अपने महामन्त्र को ही अनुराग के साथ जप करो। भगवत् सेवकगण यदि कौतुकवश कभी भी स्वेच्छा से मुक्तिपद को जाते हैं, फिर भी वे मोक्षपद को घनीभूत (साकार) ब्रह्मरूप में देखते ही हैं। तुम बहुत समय से जिस नियत भगवद् दर्शन की इच्छा करते हो, मन्त्रजप के प्रभाव से ही उस महाफल को लाभ करोगे। यदि तुम दीर्घकाल प्रतीक्षा न करो, तो इसी समय मथुरामण्डल के भौमव्रज में ही चले जाओ।

हे ब्रह्मन्! वेद पुराणादि की बात सुनकर श्रीभगवान् में मेरी भक्ति और भी बढ़ गई। मैंने विचार किया कि वेद पुराणादि जिसके लिए इस प्रकार की भक्ति प्रदर्शित करते हुए उपदेश देते हैं, मैंने तो उसे साक्षात् पिता रूप में प्राप्त किया हुआ है, इसलिए उसे छोड़कर अब और कहाँ जाऊँ? इस प्रकार की चिन्ता में उद्विग्न होते ही श्रीभगवान् ने मुझे अपने श्रीमुख से आदेश किया— 'हे वत्स! तुम मेरे प्रिय स्थान भौम-मथुरा को गमन करो। श्रीब्रह्मा भी वहाँ पर तृण जन्म लाभ के लिए प्रार्थना करते हैं। वहाँ मेरे परम प्रिय तुम्हारे गुरुदेव तुम्हें प्राप्त होंगे, और उनकी कृपा से तुम सब तत्त्व जान पाओगे। जहाँ जाने की इच्छा करो, वहीं मेरे प्रसाद से शत शत परमाश्चर्य अनुभव करोगे। कुछ समय बाद मनोरथ पूर्ण होने पर श्रीवृन्दावन में मेरे साथ स्वेच्छा से क्रीड़ा करोगे। श्रीभगवान् का इस प्रकार का साक्षात् आदेश प्राप्त कर मैं हर्षशोकाविष्ट दशा में मनोबल द्वारा श्रीवृन्दावन में उपस्थित हो गया।

तृतीय अध्याय (भजन)

श्रीगोपकुमार बोले— हे ब्रह्मन्! मैंने ब्रह्मलोक से पृथ्वी पर आकर देखा कि पूर्वकाल में जिस स्थान में जो कुछ था अब उसका चिन्ह मात्र भी वहाँ नहीं है, किन्तु मथुरा पूर्ववत् वन, पर्वत और नदी इत्यादि से सुशोभिता बनी रही। (तात्पर्य यह है कि गोपकुमार के ब्रह्मलोक में वास के समय पृथ्वी पर कई बार प्रलय हो चुकी थी। प्रलय के कारण पृथ्वी का आमूल परिवर्तन घटित होने पर भी ब्रजधाम उसी प्रकार पूर्ववत् अविकृत बना रहा। अप्राकृत चिन्मय श्रीब्रजधाम पृथ्वी के साथ जुड़े होते हुए भी श्रीधाम का कालकृत कोई परिवर्तन या विभाजन नहीं होता है। प्रलय का प्रभाव धाम के नैसर्गिक अवस्थान का या उनकी शोभा का कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता है।

“सर्वोपरि श्रीगोकुल ब्रजलोक धाम ।
श्रीगोलोक श्वेतद्वीप वृन्दावन नाम ॥
सर्व्वग अनन्त विभु कृष्ण-तनु सम ।
उपर्य्यधो व्यापि आछे नाहिक नियम ॥
ब्रह्माण्डे प्रकाश तार कृष्णोर इच्छाय ।
एकइ स्वरूप तार नाहि दुई काय ॥”

(चै. च.)

मैंने श्रीभगवान् की आज्ञा का स्मरण कर श्रीवृन्दावन में इधर-उधर भ्रमण करते हुए एकबार किसी एक कुञ्ज में अपने श्रीगुरुदेव के मूर्छित दशा में दर्शन किये। मैंने बहुत प्रयास करके उन्हें स्वस्थ किया और उन्हें प्रणाम करने पर उन्होंने मुझे आलिंगन किया। वे सर्वज्ञ हैं, मेरे सारे मनोरथ से भलीभाँति अवगत थे। उन्होंने प्रेमविकार जनित श्लेष्मालार और अश्रु से सिक्त रजःसमूह को हटाने के लिए यमुना में स्नान करके अपने दिये हुए मन्त्र के ध्यान आदि कतिपय नियमों का श्रीमुख से मुझे उपदेश किया और मुझसे बोले— “वत्स! मैंने तुम्हें सर्वस्व प्रदान कर दिया है, इसका कारण यह है कि तुम मेरे प्रिय शिष्य हो। दूसरे सब रहस्य समूह तुम मन्त्रजप के प्रभाव से जान जाओगे और मन्त्र के प्रभाव से ही तुम्हारे सर्वार्थ सिद्ध होंगे।” मेरे हर्ष पूर्वक उनके पदयुगल में गिरते ही वे अन्तर्धान होने के समान मेरे बिना देखे ही कहीं चले गये। श्रीगुरु-विरह में मन नितान्त कातर होते हुए भी यत्नपूर्वक धैर्य धारण कर उनके आदेशानुसार स्वमन्त्र जप में प्रवृत्त हो गया। मन्त्रजप के प्रभाव से मन में ऐसा लगा कि मेरा देह जैसे पांचभौतिकता त्यागकर किसी अपार्थिव देह में परिणत हो गया है। मैं सूर्य मण्डल को भेदकर ऊर्ध्व की ओर जाते-जाते चौदह भुवनों का अवलोकन करने लगा। मैंने देखा, यह सभी लोक समूह बहुदोष युक्त हैं, जो किञ्चित् सुख का आभास मात्र वहाँ हैं, वह मायामय स्वप्नदृष्ट वस्तु समूह के समान झूठा और अवास्तविक है। मैंने पहले बहुत से समय में जो लोकसमूह पार किये थे— इस समय क्षणमात्र में ही वे लोकसमूह पार कर लिये। सत्यलोक के बाद ब्रह्माण्ड में आठ आवरण वे आवरण समूह उत्तरोत्तर कोटि गुना सुख और वैभव से पूर्ण थे, क्रम से मैंने उन सकल लोकों को प्राप्त किया। जो क्रममुक्ति लाभ करते हैं, वे कार्योपाधि और कारणोपाधि अर्थात् स्थूलदेह और सूक्ष्मदेह की उपाधि अतिक्रमण करने के लिए क्रमशः उन आवरणों के सुख समूह को भोगकर मुक्तिपद को गमन करते हैं। (मुक्ति दो प्रकार की है— क्रममुक्ति और सद्यमुक्ति। भक्ति मिश्रित योगसाधन-परायण व्यक्ति जो सद्यमुक्ति की आकांक्षा शून्य हो, अर्थात् यह महर्लोक, ब्रह्मलोक अणिमादि भोग की वासना रखे तब यह साधक महर्लोक, सत्यलोक आदि के ऐश्वर्यादि को भोगकर पृथ्वी आदि ब्रह्माण्ड के आवरणों के उत्तरोत्तर दस-दस गुना उत्कृष्ट सुखों को भोगकर बाद में मुक्तिलाभ करते हैं। सद्यमुक्ति में इस प्रकार के सुखों का भोग नहीं करना होता है। योगी अपने हृदय में श्रीहरि का ध्यान करते हुए प्राण को मन में, मन को बुद्धि में, बुद्धि

को क्षेत्रज्ञ में, क्षेत्रज्ञ को शुद्ध जीव में और शुद्धजीव को परब्रह्म में योजित करते हैं एवं क्रमशः देह के षट्चक्र और ब्रह्मरन्ध्र को भेदकर सद्यमुक्ति लाभ करते हैं। प्रीतिसन्दर्भ।) उनमें पहले मैं पृथ्वीरूप आवरण में गया और वहाँ देखा, श्रीधरणीदेवी ब्रह्माण्ड दुर्लभ वस्तु समूह द्वारा महाशूकररूपी श्रीभगवान् की अर्चना कर रही हैं, और यह भी देखा कि उस कारण रूपा पृथ्वी में कार्यरूप जगत के उपादान समूह विचित्ररूप से स्फूर्ति पा रहे हैं। धरणीदेवी ने भगवत्सेवा का समापन कर मेरा सत्कार किया और वहाँ कुछ दिन वास कर सुखभोग के लिए प्रार्थना की। किन्तु मैंने धरणीदेवी के पास से शीघ्र विदा लेकर एक अज्ञात आकर्षण से ब्रह्माण्ड के अन्य छः आवरणों का अतिक्रमण किया एवं पृथ्वी के आवरण में धरणीदेवी के समान वारि, तेज, वायु, आकाश, अहंकार और महत्तत्त्व के आवरण में उनमें स्थित देवता द्वारा क्रमशः मत्स्य, सूर्य, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, संकर्षण और वासुदेव रूपी भगवान् को अर्चित होते देखा। आवरण समूह का अतिक्रमण करने के बाद महातमोमय प्रकृति आवरण में उपस्थित हुआ एवं प्रकृति की गाढ़ श्यामकान्ति से इष्टदेव के वर्ण से समानता के दर्शन ने मेरे नयन-मन को हरण कर लिया। मोहिनी-मूर्तिधारिणी प्रकृतिदेवी वहाँ विराजित अपने ईश्वर की सेवा समापन कर मेरे पास आकर बैठ गई। अणिमादि सिद्धिरूप उपायन समूह ने आगे आकर वहाँ रहने के लिए मुझसे अनुरोध किया। उन्होंने मुझसे स्नेहपूर्वक कहा— यदि मुक्ति की इच्छा करो तो मेरे प्रति अनुग्रह प्रकाश करो, कारण यह है कि मैं ही मुक्ति की प्रति हारिणी हूँ और यदि भक्ति की इच्छा करो तब भी मेरा ही भजन करो क्योंकि मैं श्रीविष्णु की दासी, उनकी बहन, उनकी शक्ति और भक्ति देने वाली हूँ।

हे ब्रह्मन्! मैंने प्रकृतिदेवी के अणिमादि सिद्धि इत्यादि उपचार और उनकी बातों का अनादर कर विष्णु शक्ति ज्ञान से उनको प्रणाम कर उनकी रम्यकान्ति दर्शन के लिए वहाँ भ्रमण किया। मैंने देखा कि कार्योपाधि (स्थूलोपाधि) विनिर्मुक्त जीव समूह प्रकृति के मनोरम वर्ण का उपभोग कर रहे हैं और प्रकृतिदेवी भी कार्य कारण आदि से सभी विषयों में अधिकतर वैभव प्रकट कर विलास कर रही हैं। मैंने ईश्वर की इच्छा से उस दुरन्त घनतम को पार करने के बाद महा तेजपुञ्ज को देखा और भय से अधीर होकर दोनों नेत्र बन्द कर लिये। मैंने भक्ति की कृपा से उसे पार किया और

प्रयत्नपूर्वक आगे दृष्टि प्रसारण करते ही कोटि सूर्य तुल्य तेजस्वी परमेश्वर की बहुत सावधानी से देखा। वह परमेश्वर कोटि सूर्य के समान प्रकाशमय होते हुए भी मनोनयनानन्द वर्धनकारी विचित्र माधुर्य विभूषण से निभूषित, महापुरुष के समस्त लक्षणों से युक्त और महाअद्भुत परब्रह्म स्वरूप से परिस्फुरित थे। वे सदैव गुणातीत होते हुए भी भक्तवात्सल्य आदि अशेष गुणों के आधार थे और प्राकृत आकारन होते हुए भी विश्वमनोरम अप्राकृत आकृति विशिष्ट थे। वे प्रकृति के अधिष्ठाता रूप में विराजमान होते हुए भी प्रकृति सम्बन्ध शून्य स्वप्रकाश और इन्द्रियातीत थे। फिर भी मैंने उनकी करुणा के प्रभाव से ही उनका दर्शन कर पाया। बाद में फिर उस महा तेजपुञ्ज को निराकार के समान देखने से चित्त में खेद उत्पन्न हुआ और नीलाद्रिपति श्रीजगन्नाथ के अनुग्रह की बात मन में आई। कुछ समय पश्चात् ही फिर साकार रूप में देखते ही आनन्द का अनुभव किया। (तात्पर्य यह है कि उपनिषद् में ब्रह्म के निर्विशेषत्व एवं सविशेषत्व के विविध प्रमाण पाये जाते हैं। उपासकगण को उपासना भेद के अनुसार ब्रह्म के निराकार और साकार स्वरूप की उपलब्धि होती है। ब्रह्म शब्द से किन्तु मुख्यतः षडैश्वर्यपूर्ण अनन्तशक्ति निकेतन श्रीभगवान् ही वाच्य हैं। “ब्रह्म शब्दे मुख्य अर्थे कहे भगवान्। चिदैश्वर्य्य परिपूर्ण अनूर्द्ध समान॥” चै. च.। ज्ञानिगण के ज्ञानोपासनामय सशक्तिक श्रीभगवान् के साकाररूप ग्रहण करने की योग्यता न होने के कारण उनको निःशक्तिक निराकार ब्रह्मस्वरूप की ही उपलब्धि होती है। किन्तु भक्तगण भक्ति-साधना के फल से ब्रह्म के रूप, गुण, लीलाआदि की अनुभूति को प्राप्त करते हैं। इसीलिए भक्त श्रीगोपकुमार के निकट ज्ञानीगण के उपास्य निराकार ब्रह्म-ज्योति ही साकार परमेश्वर रूप में स्पष्ट दृष्टिगोचर हुई। “सूर्य्य यैछे सविग्रह देखे देवगण।” चै.च।)

हे विप्र! मैं उस तेजपुञ्ज में विलीन होने से परमेश्वर की कृपासे ही बच सका, उन्होंने मुझे अपनी पद-नख-मणि की किरण छटा के स्पर्श द्वारा इस विपत्ति से बचाया। वहाँ मैंने परमेश्वर को भिन्नाभिन्न महासिद्ध जीवसमूह के द्वारा इस प्रकार घिरे हुए देखा जैसे सूक्ष्म-सूक्ष्म किरणकणों के द्वारा सूर्य घिरा हुआ हो। उन समस्त सिद्ध मुक्त जीवों को भक्तवृन्द के समान परमेश्वर को घेरे हुए, देखकर मुझे अत्यन्त आनन्द हुआ। (इस स्थल का तात्पर्य यह है कि मुक्तिलोक के स्वभाववश गोपकुमार की ब्रह्मज्योतिपुञ्ज में लीन होने

जैसी स्थिति तो हुई, किन्तु वे भक्त होने के कारण भगवान् की कृपा से इस स्थिति से रक्षा पा सके, इससे यह जाना जाता है कि मुक्तिलोक भक्त के अवस्थान के अयोग्य है। फिर मुक्त जीवगण स्वयं को ब्रह्म के साथ अभिन्नरूप से लीन मानने पर भी श्रीभगवान् के साथ भिन्नाभिन्नतत्त्व जीवसमूह के मुक्तिदशा से भी पृथक् सत्ता में स्थिति रहते हैं। भिन्नाभिन्नत व जीव किसी अवस्था में भी ब्रह्म के साथ मिलकर एकीभूत नहीं हो पाते हैं। इसीलिए मुक्तिवाद के मूलाचार्य श्रीशंकर ने मुक्त जीवगण को भी किसी अनिर्वचनीय सौभाग्य के उदय के लिए श्रीहरि भजन की बात का उल्लेख किया है पृथक् सत्ता न रहने से मुक्त जीवों का हरिभजन सम्भव नहीं हो पाता। “मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजते इति”) हे विप्र! उस आनन्दसिन्धु में मग्न होकर मैं स्वयं को आत्माराम या पूर्णकाम के समान समझता था और उसी को परमपद और पराकाष्ठा प्राप्त परमफल मानता था। श्रीगुरुप्रदत्त मन्त्रजप के फल से एवं उस तेजस्वी पुरुष को देखकर मुझे अपने इष्टदेव श्रीमन्मदनगोपालदेव के साक्षात् दर्शन की लालसा बढ़ जाती थी, इसलिए मुक्तिपद में परमेश्वर के साकार रूप से दर्शन करने पर भी पहले के समान प्रीतिलाभ नहीं कर सका, वरन् उनमें लीन हो जाने की आशंका से सदैव उद्विग्न रहता था और मन में होता था कि कब ब्रजभूमि में जाकर अपने अभीष्ट का दर्शन करूँगा। इसप्रकार विचार करते-करते एक बार अद्भुत गीत-वाद्य की ध्वनि सुनी। उस ध्वनि को सुनकर सचेत होकर देखा— वृषारूढ़ सर्वविलक्षण एक पुरुष ऊर्ध्व देश से वहाँ अवतरण कर रहे हैं। उनका कर्पूर के समान उज्ज्वल वर्ण था, वे त्रिनेत्र, दिगम्बर, चन्द्रार्धमौलि, ललित, त्रिशूलधारी, गङ्गाजल द्वारा प्रक्षालित जटाजूट, शरीर पर भस्म, सुन्दर अस्थिमाला से सुशोभित थे। अपने अंक में स्थित गौरीप्रेम के आप्यायित दिव्यातिदिव्य छत्र-चामर आदि से स्वानुरूप सेवकगण द्वारा परिसेवित उनकी आकृति और चेष्टासमूह अत्यन्त सुन्दर थी। मैंने उनके दर्शन कर परम हर्ष और विस्मय से सोचा— मुक्तिपद के ऊपर स्थित यह परिवार वाला पुरुष कौन है? इनका जगद्विलक्षण ऐश्वर्य मुक्तवर्ग से श्रेष्ठतम होते हुए भी यह सदाचार का अतिक्रमण कर महाविषयी के समान प्रतीत होता है। गौरीपति का दर्शन कर मेरा चित्त परमानन्द से भर गया, मेरे द्वारा सपरिवार उन्हें प्रणाम करने पर उन्होंने कृपापूर्वक मुझे देखा। तब मैंने हर्ष पूर्वक पास जाकर

गणाध्यक्ष श्रीनन्दीश्वर से उनके विशेष वृत्तान्त के लिए पूछा। उन्होंने कहा— हे गोपबालक! तुम क्या जगदीश्वर श्रीशिव को नहीं जानते हो? यह मुक्तिदाता, भक्तगण के भगवद् भक्ति के वर्धनकारी, मुक्तगण के सम्पूज्य एवं वैष्णवगण के वल्लभ हैं। शिव-कृष्ण में अभेद दृष्टिपूर्वक भक्ति करने से जो लोक प्राप्त होता है, इस प्रकार के अपने अनुरूप लोक से कुबेर की भक्ति के वशीभूत होकर कैलास पर्वत की शोभा बढ़ाने के लिये वहाँ जा रहे हैं। (तात्पर्य यह है कि मुक्तिलोक के ऊपर चिन्मय भगवद्धाम शिवलोक विराजित है, उस स्थान पर श्रीभगवान् के अभिन्न विग्रह श्रीसदाशिव अपने परिकरगण सह भगवद्भक्ति रसास्वादन में सदा विलास करते हैं। शिव और कृष्ण में जो भेद नहीं मानते हैं, वे ही इस लोक को प्राप्त होते हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण पृथक् शक्तिसिद्ध ईश्वर हैं और श्रीशिव पृथक् शक्तिसिद्ध ईश्वर हैं, यह विचार मन में आते ही वह ईश्वरवाद आ जाने से एवं अखण्ड अद्वय भगवत्तत्त्व में भेददृष्टि के अपराध के फलस्वरूप शिवलोक की प्राप्ति नहीं होती है। फिर वैष्णवतन्त्र में शिव और कृष्ण में अभेद दृष्टि भी निषिद्ध है यथा— “यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवैतैः। समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम्॥” अर्थात् ‘जो व्यक्ति श्रीनारायण को ब्रह्मरुद्रादि के साथ समज्ञान करते हैं, वे निश्चय ही पाषण्डी माने जाते हैं।’ अब इस अभेददृष्टि और भेददृष्टि रूप परस्पर विरुद्ध वचनों का क्या समाधान है? इस विषय में गौड़ीय वैष्णवाचार्यगण का सिद्धान्त एवं समाधान इस प्रकार है कि अधिकारी भेद से शास्त्र में शिव और कृष्ण में भेद और अभेददृष्टि की बात कही गई है, अतएव इसमें कुछ भी विरोध नहीं है। जो एकान्तिभक्त हैं उनके लिए श्रीमन्महादेव को वैष्णवश्रेष्ठ जानकर भेददृष्टि की बात एवं अनैकान्तिकभक्त के लिए अभेददृष्टि करने की बात शास्त्र में वर्णित हैं एकान्तिभक्तगण की श्रीशिव-कृष्ण में पृथक् शक्तिसिद्ध ईश्वर ज्ञानरूप बहुईश्वरवाद की चित्त में उदित होने की कोई सम्भावना नहीं होती है, और भी “वैष्णवानां यथा शम्भुः” इस ज्ञान से वे श्रीशिव को समधिक सम्मान ही प्रदान करते हैं। इस कारण यह है कि श्रीभगवान् ने अपने श्रीमुख से कहा है— “मद्भक्तपूजाभ्यधिका” अर्थात् मेरे भक्त की पूजा मेरी पूजा से भी अधिक श्रेष्ठ है। और इससे ही श्रीमन्महादेव का अधिक सन्तोष, क्योंकि विभिन्न शास्त्रों और महाजन-वाक्यों में श्रीशिव की कृष्ण-आराधना को बात प्रसिद्ध है। अनैकान्तिगण के बहुईश्वरवाद के

चित्त में प्रकट होने की खूब सम्भावना है, अतएव उनके लिए ही श्रीशिव-कृष्ण में अभेददृष्टि की बात कही गई है, ऐसा समझना चाहिए।)

हे ब्रह्मन्! मैंने श्रीनन्दीश्वर की बात सुनकर परम सन्तोष प्राप्त किया एवं यद्यपि श्रीमन्मदनगोपाल के पादपद्म में मेरी स्वाभाविकी रति थी फिर भी श्रीशिव के परम ऐश्वर्य

[टिप्पणी :- इस विषय में विशेष प्रकार के लिए श्रीमद्जीव गोस्वामिपाद का भक्तिसन्दर्भ ग्रन्थ देखने योग्य है। भगवत्प्रीति मात्र निष्ठ एवं श्रीभगवान् के किसी एक स्वरूप में निष्ठायुक्त भक्त को एकान्ती एवं फलकामी और श्रीभगवान् के विभिन्न स्वरूपों और अन्यान्य देव-देवी में समान प्रीतिमान व्यक्ति को अनैकान्तिक कहा जाता है।]

का दर्शन कर उन्हें त्यागने में मैं समर्थ नहीं हुआ। मैंने शिवकृष्ण की अभिन्नता के लिए श्रीमन् महादेव से कोई विशेष प्रसाद लाभ करने की इच्छा की। (इस स्थल पर शिव-कृष्ण से अभिन्नत्व ज्ञान को ही विशेष प्रसाद कहा गया है) इसके बाद श्रीनन्दीश्वर के निर्मल उपदेश से मेरे हृदय में अनायास ही वह अभेदतत्त्व स्फुरित हो गया था। मैं सुख पूर्वक शिवगण के बीच में प्रविष्ट होकर शिव-वाहन श्रीनन्दी नामक वृषभ से यह जान पाया कि, सर्वदा एकरूप भगवान् शंकर अपने लोक में प्रकट भाव से वास करते हैं एवं उनके एकनिष्ठ सेवकगण परमानन्दपूर्वक इनका अवलोकन करते हैं। यह सदैव भगवन्नाम कीर्तन रस में विचित्र नृत्य गीतादि कौतुक विस्तार करते रहते हैं एवं स्वाश्रित जन को स्वाभिन्न स्वरूप श्रीकृष्ण के भक्तिलाम्पट्य की शिक्षा देते रहते हैं। जगदीश्वर होते हुए भी यह निजप्रिय सहस्त्रवदन शेष मूर्ति श्रीभगवान् की दासवत् प्रेमपूर्वक नियत आराधना करते रहते हैं।

मैंने इस प्रकार की श्रीशिव की विशेष महिमा जानकर सन्तोष तो लाभ किया, फिर भी हृदय अपूर्ण की भाँति प्रतीत होने लगा। चित्त की इस प्रकार की अपूर्णता का कारण शीघ्र न ज्ञात होने पर भी बाद में मन्त्रजप के प्रभाव और श्रीगुरु-प्रसाद से जाना कि श्रीमन्मदनगोपालदेव के पादपद्म युगल के सौन्दर्य माधुर्य और करुण्यादिपूर्ण विचित्र लीलामाधुरी अनुभव के अभाव से ही मन अतृप्त के समान प्रतीत हो रहा था। “श्रीमन्महादेव की परम सुन्दर श्रीमन्मदनगोपालरूप प्रकाश करके उस विशेष लीला वैचित्र्य को प्रकट करते हैं, मेरे अपने मन को इस प्रकार प्रबोधित करने की चेष्ट करने से भी मन पूर्णवत् अप्रसन्न ही रहा। (इस स्थल पर शिव-कृष्ण की समानता के प्रबोधन से मन की अप्रसन्नता से ही गोपकुमार के ऐकान्तित्व के लक्षण प्रकट हुए

हैं।) तब श्रीमन्महादेव के प्रसाद से मदनगोपाल की लीला माधुरी अनुभव की वाञ्छा जो अनायास ही सिद्ध होगी, इस प्रकार का प्रवोध गोपकुमार अपने आपको देने लगे। इसी समय किन्हीं महात्मागण के सुमधुर संगीतध्वनि सुनाई पड़ी। उस ध्वनि को सुनकर श्रीमन्महादेव परमानन्दसिन्धु में निमग्न हो गये और स्वेद, कम्प, पुलकादि महा प्रेमविकारों से भूषित हो उन्मत्त की भाँति नृत्य करने लगे। पतिव्रता-शिरोमणि श्रीपार्वतीदेवी, नन्दी इत्यादि अनुचर वर्ग के साथ वाद्य-संकीर्तन आदि द्वारा प्रभु का उत्साह वर्धन करने लगी। उस समय देखा कि सुचारु चतुर्भुज विशिष्ट परम मनोहर केशोर सौन्दर्य माधुर्य से युक्त कतिपय पुरुष वहाँ आये। उनकी भूषणों के भूषणरूप शरीर की कान्ति शैवगण को आच्छादित करते हुए, वे निज ईश्वर की महाकीर्ति गानानन्द रस से सराबोर हो रहे थे। उनके वेश, वस्त्र व अलंकार आदि सब मनोहारी थे। पूर्वदृष्ट सनकादि योगेन्द्र चतुष्टय भी उनके साथ सम्मिलित हो गये। उनके दर्शन से उत्पन्न प्रेमानन्द से मेरा मन इतना आकर्षित हुआ कि उस आनन्द को छोड़कर अन्तर बाहर का सब कुछ भूल गया। क्षणकाल पश्चात् चेतना प्राप्त होने पर भी उनके दासत्वरूप सुदुर्लभ वस्तु को भय और लज्जावश चाह नहीं पा रहा था, परन्तु उस विषय की लालसा मेरे चित्त की उत्पीड़ित करने लगी। मैंने विचार किया क्या शिव-कृपा से यह सब मेरे साथ सम्भाषण करेंगे? यह कौन है और कहाँ रहते हैं?

कृपा कटाक्ष से मेरी रक्षा कीजिए। कितना आश्चर्य। श्रीमहादेव भी जिनका आलिङ्गन करने से प्रेम के कारण मूर्छित हो गये। मेरे मनोभाव को समझकर श्रीउमादेवी ने श्रीगणेश को कुछ कहने का आदेश किया। उन्होंने कहा— हे गोपकुमार! यह सब वैकुण्ठनाथ भगवान् श्रीकृष्ण के सारूप्य प्राप्त पार्षद वैकुण्ठ से आये हैं। यह देखो— यह चतुर्मुख ब्रह्मा के अधिकृत क्षुद्र ब्रह्माण्ड को जा रहे हैं। और भी थोड़ी दूर पर देखो— अष्टमुख, षोडशमुख, क्रमशः शत सहस्र कोटि-कोटि आननविशिष्ट ब्रह्मा के अधिकृत उसी के समान बड़े ब्रह्माण्डों में दूसरे अन्य पार्षदगण भी तदनुरूप वस्त्र और वैभवादि प्रकाश करते-करते जा रहे हैं। जो मृत्युकाल में एकबार भी श्रीभगवान् के नाम का आभास जिह्वाग्र से उच्चारण करते हैं अथवा श्रवण करते हैं उन समस्त भक्तगण का निखिल भय से परित्राण करने और विशुद्धभक्ति प्रचार की कामना से भक्ति प्रिय वैकुण्ठ पार्षदगण स्वच्छन्द रूप से सर्वत्र विचरण

कर रहे हैं। और यह जो भक्तावतार सनकादि योगेन्द्र चतुष्टय हैं, यह भी लोकहित के लिए वैकुण्ठ पार्षदगण के समान ही सर्वत्र भगवद् दर्शन करके भी साक्षात् दर्शन के अभाव में स्वामीहीन अनाथ के समान दृश्यमान है, वह तपोलोकवासीगण ऊर्ध्वरितागण के परम क्षेम-स्वरूप भगवद् वार्ता संकीर्तनादि मंगल विधान करने के लिए तपोलोक में भी यह वास करते हैं। अब यह सर्वाकर्षक सद्गुण-विमण्डित श्रीभगवान् के दर्शन करके मोक्षानन्द विडम्बित आनन्दराशि पूर्ति चित्त से हरिभक्ति संसर्ग से भक्तिरस पान करते हुए पार्षदगण के साथ आ रहे हैं। जो स्थान नित्य अपरिच्छिन्न महासुख की पराकाष्ठा विशिष्ट, तदनुरूप वैभव युक्त, साक्षात् रमानाथ पदारविन्द युगल की क्रीड़ा से अजस्र विभूषित व जो प्रेमिक भक्तगण के लिए ही सुलभ है, इस प्रकार के वैकुण्ठलोक का वर्णन कौन करेगा? अद्वैत-दुर्वासना से जिसका हृदय मुमुक्षाविद्ध हो चुका है वे तो इस स्थान की महिमा को धारण भी नहीं कर सकते हैं। यदि मेरे पिता की पूर्णरूप से करुणा हो, तो तुम भी वैकुण्ठलोक की महिमा सम्पूर्णरूप से सुनोगे और वहाँ जाकर साक्षात् वह अनुभव भी कर सकोगे।

हे विप्र! श्रीगणेश की बात सुनकर मेरी वैकुण्ठलोक प्राप्ति की महालालसा उत्पन्न हुई। उस विपुल लालसा द्वारा अपार चिन्ता सागर की तरंगों में मैं डूब गया अर्थात् उस आकांक्षित वैकुण्ठ प्राप्ति के लिए मैं लगातार चिन्तित रहने लगा। फिर जब मन में आता कि मैं तो उस वैकुण्ठ प्राप्ति के अयोग्य हूँ, तो शोकावेग से मूर्च्छित हो गया। पर दुःखकातर श्रीमन्महादेव ने मुझे भूमि से उठाकर आश्वासन देते हुए कहा— हे श्रीवैष्णव! मैं भी पार्वती के साथ तुम्हारे ही समान श्रीवैकुण्ठ में सदा वास करने की इच्छा करता हूँ। वह वैकुण्ठलोक अत्यन्त दुर्लभ है, मुक्तगण का भी सतत प्रार्थनीय है, भृगु इत्यादि महर्षिगण का ब्रह्मा का एवं मेरा भी श्रीवैकुण्ठ लोक एकान्त आकांक्षणीय हैं निष्काम स्वधर्म में निष्ठावान् व्यक्ति श्रीहरि की जिस प्रकार कृपालाभ करते हैं, ब्रह्मप्राप्त व्यक्ति के प्रति उसकी अपेक्षा शत गुना कृपा होती है, फिर मेरे भाव (शिवत्व) प्राप्त व्यक्ति के प्रति उससे भी सौ गुना अधिक करुणा होती है। मेरे प्रति श्रीहरि का जिस प्रकार का अनुग्रह है उससे सौ गुना अधिक अनुग्रह होने से ही वैकुण्ठ प्राप्ति होती है। तथापि हे गोवर्धन निवासी गोपपुत्र! तुम मथुरानाथ के भक्त हो, उनके परमप्रिय भक्त के

शिष्य हो, एवं उनके मन्त्रजप में अनुरक्त होने के कारण तुम उस वैकुण्ठ लोक प्राप्ति के योग्य हो।

हे गोपकुमार! यह मुक्तिलोक सायुज्यमुक्ति का स्थान है, जिन सब यतिगण का चित्त अद्वैत भावना से भावित, महा संसार दुःखरूप अग्नि की ज्वाला से जिनका चित्त दग्ध एवं जो सारासार विवेकहीन है, वे असारग्राही यतिगण ही इस सायुज्य पद को प्राप्त होते हैं। श्रीकृष्ण ने अपने पादपद्मों में प्रेमभक्ति को छिपाने के लिए मुझे आदेश करने से मैंने ही इन यतिगण को भ्रमसागर में डुबाया। अतएव जो भगवद्भजनानन्द रस आस्वादन करना चाहते हैं, वे इस पद की उपेक्षा करते रहते हैं, इसलिए भक्ति के विघ्नरूप जानकर तुम इस स्थान को शीघ्र त्याग करो। (तात्पर्य यह है कि श्रीमन्महादेव ने ही भगवद् आज्ञा से कलियुग में बौद्धवाद या शून्यवाद से विलुप्त प्राय वैदिकधर्म के पुनरुद्धार के लिए श्रीशंकराचार्य रूप से अवतीर्ण होकर मायावाद या प्रच्छन्न बौद्धवाद का प्रचार किया है। श्रीपद्मपुराण-पातालखण्ड में श्रीमन्महादेव ने स्वयं देवी के प्रति कहा है— “मायावाद-मसच्छस्त्रं प्रच्छन्न बौद्धमुच्यते। मयैव विहितं देवि कलौ ब्राह्मण मूर्तिना ॥” “हे देवि! कलियुग में ब्राह्मण रूप में मेरे द्वारा ही असत्शास्त्र मायावाद या प्रच्छन्न-बौद्धवाद कहा गया है।” श्रीचैतन्यचरितामृत में श्रीमन्महाप्रभु की उक्ति से देखा जाता है—

“ताँहार नाहिक दोष ईश्वराज्ञा पाइया।
गौणार्थ करिल मुख्य अर्थ आच्छादिया ॥

तार दोष नाहि तेहो आज्ञाकारी दास।
आर जेइ शुने तार हय सर्वनाश ॥”

(आदि 9 ‘म’ परि.)

श्रीमन्महादेव के प्रति श्रीभगवान् की आदेश वाणी भी वृहद्सहस्रनामस्तोत्र में देखी जाती है—“स्वागमैः कल्पितैस्तञ्च जनान् मुद्धिमुखान् कुरु” अर्थात् “हे महादेव! तुम कल्पित आगम-प्रचार द्वारासमस्तलोक को मेरे से विमुख करो और मुझे गोपन करो।” यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि — सर्वजीवहितैषी परम करुण श्रीभगवान् ने अपना स्वरूपतत्त्व गोपन करने के लिए महादेव को उपदेश क्यों किया? इसका

उत्तर यह है कि उस समय बौद्धगण वैदिक कर्मादि तो मानते ही नहीं थे, एक ईश्वर हैं यह बात भी वे स्वीकार नहीं करते थे। इसलिए उन समस्त शून्यवादिगण के पास पहले ही श्रीमूर्ति के साथ श्रीभगवान् को ले जाने से वे अविश्वास, निन्दा व मजाक के झञ्झावात में उसको एक अज्ञानकाश में उड़ा देते। उल्टे यह भगवदवज्ञाजनित अपराध इस प्रकार सञ्चित होता कि बाद में फिर उनके चित्तशोधन का कोई उपाय ही न रहता। इसलिए निखिल जीवों के प्रति करुणा परवश श्रीभगवान् ने शंकर का इस प्रकार का आदेश दिया था एवं उन्होंने भी शंकराचार्य रूपसे श्रीभगवान् की आज्ञा के अनुरूप नास्तिक बौद्धगण के हृदयक्षेत्र में वेदकल्पतरु के कर्म-योग-ज्ञानमय प्रसून समूह संचित किये थे। वेद है— वेद-वेद्य ईश्वर भी हैं, तब भी उनका कोई आकार नहीं है— इस प्रकार है नहीं है का भाव समझा दिया था। शून्यवाद के कवल से वेद के उद्धार करने के लिए ही इस मायावाद की उस समय आवश्यकता थी— यह सब समय के लिये नहीं है।)

श्रीगोपकुमार बोले— हे ब्रह्मण! श्रीशंकर की बात सुनकर मैंने परमानन्द लाभ किया। तब भगवत् पार्षदगण ने मुझे सम्बोधित कर कहा— हे उमापति प्रिय गोपनन्दन! तुम हमारे वैकुण्ठेश्वर के सन्मन्त्र के उपासक हो, अतएव तुम तुम्हें भक्त ही समझते हैं। श्रीकृष्ण के ही अवतार जयन्त नामक माथुर ब्राह्मणोत्तम तुम्हारे महान् गुरु हैं। हम तुम्हारे लिए ही इस मुक्तिपद में आकर उपस्थित हुए हैं, तुम यदि वैकुण्ठ लोक प्राप्त करने की इच्छा रखते हो, तो वैकुण्ठ प्राप्ति की साधना हमारे निकट सुनो। इस समय तुम सब छोड़कर नवविधा भक्ति का अनुष्ठान करो। भक्ति का ज्ञापन श्रीमद्भागवत आदि शास्त्र अनुशीलन करो, श्रीभगवान् की लीलाकथा नित्य ही श्रवण करो। प्रेम सहित वह लीलाकथा कर्णरन्ध्र में प्रविष्ट होने से वह शीघ्र ही श्रीभगवान् का पद प्राप्त करा देगी। इस प्रकार यद्यपि नवविधा भक्ति अङ्गों में से किसी एक अङ्ग के अनुष्ठान द्वारा साधक का श्रीकृष्ण पादपद्मों में प्रेम स्वयं ही आविर्भूत हो जाता है एवं साध्य फलस्वरूप वैकुण्ठलोक प्राप्त हो जाता है, फिर भी रसिक भक्तगण विचित्र भक्तिरस माधुर्य आस्वादन के निमित्त एवं वैकुण्ठ प्राप्ति के विरोधी कामनारूप हृद्रोग त्यागने के लिए नवविधा भक्ति का ही अनुष्ठान करते हैं। वह भक्ति इन्द्रियादि के द्वारा अनुष्ठित होते हुए भी कर्म के समान अपने देहेन्द्रिय व मन के चेष्टारूपा नहीं है, यह नित्य-सत्य चिदानन्द

स्वरूपा होने के कारण गुणातीता है। इसलिए देहेन्द्रिय का विषय न होते हुए भी कृष्णकृपा से भक्तगण के परमानन्द सम्पादन के लिए श्रवण कीर्तनादि अङ्गरूप से देहेन्द्रिय में स्वयं आविर्भूत हो जाती है। (श्रुति कहती है— “सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति” अर्थात् भक्तियोग में सच्चिदानन्द रस विराजमान होता है। यह न होने से भक्ति की भगवद्वशीकारित्व शक्ति नहीं रह सकती है। अतएव सच्चिदानन्दरूपा भक्ति गुणातीता होकर भी भक्त की कायादि वृत्ति से एकरूपता प्राप्त होकर देहेन्द्रिय में प्रकटित हो जाती है। मलिन लोहे की छड़ प्रज्वलित अग्नि में रखने से जिस प्रकार अग्नि का रङ्ग और ताप लोहे में संक्रमित होता है, उसी प्रकार मायामय देह व इन्द्रियों में भगवत् कृपा से सच्चिदानन्द रसमयी भक्ति संक्रमित होकर प्रकट हो जाती है। किसी-किसी के मत से भक्ति की वृत्ति वद्धावस्था में भी जीवस्वरूप में नित्य अवस्थान करती है, साधन भजन के फलस्वरूप माया का आवरण दूर हो जाने से भक्ति प्रकट हो जाती है। किसी-किसी के मत से भक्ति की वृत्ति वद्धावस्था में भी जीवनस्वरूप माया का आवरण दूर हो जाने से भक्ति प्रकट हो जाती है। किन्तु यह मत महाजनों के द्वारा अनुमोदित नहीं है। भक्ति की वृत्ति को माया की वृत्ति कभी भी ढक रख कर नहीं सकती, भक्तिवृत्ति का एक कण भी अन्तर में अवस्थान करने से जीव का कृष्ण बहिर्मुखता दोष रह ही नहीं सकता है। इसीलिए श्रीजीव गोस्वामिपाद ने प्रीति सन्दर्भ के अनुच्छेद 65 में कहा है— “तस्या ह्लादिन्या एव कापि सर्वानन्दातिशायिनी वृत्तिर्नित्यं भक्तवृन्देष्वेव निक्षिप्यमाणा भगवत्प्रीत्याख्यया वर्तते।” अर्थात् श्रीभगवान् की ह्लादिनी शक्ति की कोई सर्वानन्दातिशायिनी वृत्ति भक्तवृन्द में निक्षिप्त होकर भगवत्प्रीति नाम धारण करके भक्तगण में विराजती है। इस स्थान पर ‘निक्षिप्त’ शब्द कके द्वारा स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति भक्ति जीव स्वरूप में नहीं होती है, होने से निक्षेप की आवश्यकता न होती। भजन के प्रभाव से भगवत्कृपा द्वारा धीरे-धीरे जीव स्वरूप में भक्ति का आविर्भाव घटित होता है। भक्तिसन्दर्भ 180 में अनुच्छेद में भी श्रील गोस्वामिपाद ने लिखा है— “भक्तिर्हि भक्त (चित्त) कोटिप्रविष्टतदाद्रीभावयितृच्छक्तिविशेष इति।” अर्थात् “भक्ति कहने से तात्पर्य भगवान् की कोई शक्ति विशेष से है जो भक्त के चित्त में प्रविष्ट होकर उस चित्त को विगलित करती है।” साधारणतः जीव का चित्त लाख के समान कठोर, नीरस और मिष्ठताशून्य होता है। जीव कर्म के फलस्वरूप नाना प्रकार

की देह प्राप्त कर किसी जन्म में गुरु कृष्ण कृपा से भक्ति के बीज का लाभ प्राप्त करता है।

**“ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोनभाग्यवान् जीव ।
गुरु-कृष्ण प्रसादे पाय भक्तिलता बीज ॥”**

(चै. च.)

इससे यह बात स्पष्ट रूप से समझी जाती है कि जीव स्वरूप में भक्ति का अवस्थान नहीं है। श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण ने भी गोविन्दभाष्य में लिखा है— “तथाभूतायास्तस्याभक्तकायादिवृत्तितादात्म्येन आविर्भूतायाः क्रियाकारात्वम्।” (गो: भा: 3/4/12) अर्थात् “इस प्रकार की भक्ति साधक की इन्द्रियों में आविर्भूत होकर इन्द्रियों की वृत्ति के साथ एक-रूपता प्राप्त कर लेती है। यहाँ पर भी ‘अविर्भूता’ शब्द द्वारा जीव में भक्ति के आविर्भाव की बात जानी जाती है। अतएव जीवस्वरूप में भक्ति का नित्य अवस्थान नहीं है, यह समझना चाहिए।)

हे गोपकुमार! भक्त वैकुण्ठ में वास करें या मायिक ब्रह्माण्ड में वास करें— भक्ति के प्रभाव से उनकी पाञ्चभौतिक देहेन्द्रियादि भी सच्चिदानन्दमय हो जाती हैं। भक्ति और भक्त दोनों ही अप्राकृत हैं, इस विषय में हम ही प्रमाण हैं, इसी कारण हम वैकुण्ठपार्षद होते हुए भी प्राकृत गुण से आकृष्ट न होकर स्वच्छन्द रूप से सर्वत्र विचरण कर रहे हैं। भक्ति इन्द्रियों का क्रिया-कलाप प्रतीत होते हुए भी भक्तिनिष्ठ महद्गुण भक्ति को अपनी शक्ति के अधीन नहीं मानते हैं, किन्तु वे उसे श्रीभगवान् का परम प्रसाद ही अनुभव करते हैं। (नवीन साधक के मन में आता है— “यह मैं जिह्वा के द्वारा नाम कर रहा हूँ, कान द्वारा श्रवण, हाथ द्वारा परिचर्या कर रहा हूँ” किन्तु सेवोन्मुख इन्द्रियादि में भक्ति क्रिया स्वयं ही आविर्भूत होती है, यह क्रियाएँ पुरुषप्रयत्न साध्य नहीं है— यही इसका मर्मार्थ है। “सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्वयदः” (भ. र. सि.) हे गोपकुमार! तुम यदि शीघ्र ही वैकुण्ठलोक प्राप्त करने की इच्छा करते हो, तो उस ब्रजभूमि को गमन करो। कारण यह है कि ब्रजभूमि सर्व अभीष्टपद स्थानों में श्रेष्ठतमा है। तुम वहाँ जाकर सर्वदा भगवत्पादपद्म के संग की आशा करते हुए शुद्धा नवधा भक्ति के प्रधान नाम-संकीर्तनरूपा भक्ति का आचरण करो। नाम संकीर्तन बहुल भक्ति के प्रभाव से शीघ्र ही प्रेम सम्पत्ति उदय होगी एवं उस प्रेमसम्पद् के कारण मुख से श्रीवैकुण्ठ दर्शन का लाभ होगा।

हे गोपकुमार! तपोलोकवासी पिप्पलायनादि योगेन्द्रगण कहते हैं— सब प्रकार की भक्ति में स्मरण ही मुख्यतम है, यही प्रेम के अन्तरंग साधन के मध्य श्रेष्ठ है, किन्तु कीर्तन उस प्रकार नहीं है, कारण यह है कि मात्र एक कर्मेन्द्रिय (वागिन्द्रिय में) उदित होकर अनायास ही साध्य होने के कारण अल्पफल प्रदान करता है। किन्तु स्मरणात्मिका भक्ति सर्वेन्द्रिय के अधिपति चञ्चल मन को समस्त विषयों से हटाकर बहुत प्रयत्न से सिद्ध होने के कारण यह कीर्तन की अपेक्षा श्रेष्ठ है। किन्तु मेरे मत से प्रयत्न-साध्य स्मरण की अपेक्षा कीर्तन ही श्रेष्ठ है, इसका कारण यह है कि कीर्तन वागेन्द्रिय पर स्फूर्ति प्राप्त कर स्वयं ही मानसयुक्त हो जाता है एवं कीर्तनध्वनि कान को भी धन्य कर अन्यान्य श्रोतागणों को भी धन्य कर देती है। साधुगणों का मत है कि जिसकी जिस प्रकार की साधना में प्रीति और सुखोत्पत्ति है उसके लिए वही साधन श्रेष्ठ है। संकीर्तन से ध्यानसुख वर्धित होता है, और ध्यान द्वारा भी कीर्तनमाधुरी सुख बढ़ता है, अतएव दोनों दोनों के पोषक एवं सम्वर्धक हैं। कार्य-कारण अभेदात्मक होने के कारण मैं संकीर्तन व ध्यान को एक ही मानता हूँ। फिर अनेक इस प्रकार के गोपनीय भाव हैं जिसके कारण निर्जन में भी कीर्तन से लज्जा का ज्ञान होता है लेकिन मानसिक चिन्तन से यथेष्ट आनन्दानुभव होता है, इस अवस्था में ध्यान अवश्य ही समादरणीय है। किन्तु निर्जन न होने से ध्यान सुसिद्ध नहीं होता है, लेकिन संकीर्तन अनेक लोगों के स्थान पर भी सुसिद्ध होता है। अतएव अनायाससाध्य और सर्वत्र सिद्ध होने के कारण हम स्मरण की अपेक्षा कीर्तनांग को श्रेष्ठ मानते हैं। (यहाँ पर एक विचारणीय विषय यह है कि गोपकुमारों के शीघ्र वैकुण्ठ लाभ के लिए इच्छुक होने पर वैकुण्ठपार्षदगण ने उन्हें अनायाससाध्य एवं शीघ्र प्रेमपद नामसंकीर्तन का उपदेश दिया है। किन्तु गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय को रागानुगा मार्ग की साधना में स्मरणाङ्ग की मुख्यता सर्वत्र स्वीकृत की गई है। कोई-कोई इस स्थल पर वैकुण्ठपार्षदगण के सिद्धान्त के ऊपर जोर देकर स्मरणांग का खण्डन कर एकमात्र नाम कीर्तन को ही ब्रज में मंजरीभाव से श्रीराधागोविन्द की सेवा लाभ होने के पक्ष में अपना मत प्रकाश करते हैं और रागानुगामार्ग में भी स्मरणांग के अनुष्ठान को निष्प्रयोजन कहकर अपना मन्तव्य प्रकट करते हैं किन्तु वे श्रीपाद रूपगोस्वामी के राग भक्ति साधन निर्देश के “कृष्णं स्मरणं जनञ्चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्”, श्रीपाद कविराज गोस्वामी के “मने निज सिद्ध देह करिया भावन। रात्रि दिन

चिन्ते ब्रजे कृष्णे सेवन ॥” एवं श्रीपाद ठाकुर महाशय के “साधने भाविवे याहा सिद्धदेहे पावे ताहा” राग साधक के इन अवश्य अनुष्ठेय और अपरिहार्य भजन स्मरणांग-विषय को उपदेशवाणी समूह के प्रति दृष्टिपात नहीं करते हैं। वस्तुतः राग साधना में भी स्मरणांग का प्रयोजन नहीं है, कीर्तन द्वारा ही वह सुसिद्ध होगी, इस स्थान पर यह ग्रन्थाकार का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। विधिभक्ति और रागभक्ति दोनों में इस सिद्धान्त की व्याप्ति स्वीकार करने से गोस्वामिपादों की वाणी में ही विरोध आ जायेगा।)

“पण्डितों ने यह निश्चय किया है कि श्रीकृष्ण की कथा, गीता, स्तुति इत्यादि के बीच में श्रीकृष्ण नाम संकीर्तन ही मुख्य है, क्योंकि यह शीघ्र ही प्रेम सम्पत्ति प्रदान करने में समर्थ है, इसलिए यह ही भक्ति के विभिन्न प्रकार में श्रेष्ठतम है। प्रेमपूर्वक स्वप्रिय श्रीकृष्ण-नामामृत रसना पर भंगीपूर्वक पान करना अतुलनीय है, इसके महत्व को कौन वर्णन करेगा? नामामृत-रसमाधुरी एक वागिन्द्रिय पर प्रादुर्भूत होकर अपने माधुर्य-रस से समुदय इन्द्रियों को भी आप्लावित कर देती है। श्रीनामसंकीर्तन श्रीकृष्ण प्रेम सम्पत्ति लाभ का अन्तरंग और अत्यन्त वलिष्ठ साधन है। क्योंकि वह मन्त्रवत् परमआकर्षक है। भक्त रसिकगण श्रीनामसंकीर्तन को ही भक्ति का फल मानते हैं, इसका कारण यह है कि भगवत् प्रेमसम्पत्ति उत्पादन में वह अव्यर्थ है। कोई-कोई रसज्ञगण नाम संकीर्तन को प्रेम का स्वरूप भी मानते हैं। इष्टनाम को प्राण की व्याकुलता के साथ कीर्तन करने से वह प्रेमपूर्वक स्वयं ही स्फूर्ति प्राप्त होती है, अतएव संकीर्तन और प्रेम में परस्पर कार्य-कारणता देखी जाती है एवं कार्य-कारण की अभिन्नता हेतु दोनों में ही अभेदत्व सिद्ध हो जाता है। वर्षाकाल में चातक के आर्तनाद के समान, रात्रि में पति वियोग विधुरा चक्रवाकी और कुररी (उत्क्रोस पक्षी) के करुण विलाप के समान भक्तवृन्द प्रेमपूर्वक इष्ट के विरहार्ति से व्याकुल होकर नाम संकीर्तन करते हैं। (इस स्थल पर अन्य साधन निरपेक्ष साधन सम्राट श्रीकृष्ण नाम संकीर्तन की महिमा किस प्रकार नाम लेने से शीघ्र अनुभव की जा सकती है, यही दिखाया जा रहा है। “हरे कृष्णेति” बत्तीस अक्षरों वाला नाम आह्वानात्मक है। साधक विरहकातर दशा में इष्ट के दर्शन के लिए “हरे कृष्णेति नाम के आवेग पूर्वक उनका आह्वान करेगा। खोई हुई सन्तान को जिस प्रकार माँ पुकारती है, पति-विरह-विधुरा पतिव्रता निशिदिन साश्रुनेत्रों से जिस प्रकार पति को पुकारती है, इष्ट की सेवा के लिए साधक को साक्षात् रूप से इष्ट के दर्शन की आशा में उसी प्रकार उनका नाम लेकर

करुण-स्वर से आवेग पूर्वक उनका आह्वान करना चाहिए। परम करुण ग्रन्थकार ने यहाँ पर चातक, चक्रवाकी और कुररी के विलाप का जो दृष्टान्त दिया है— विश्व में खोजने पर भी कहीं इसकी तुलना नहीं पाई जा सकती है। चातक ग्रीष्मकाल की विपुल पिपासा कण्ठ में सहन करता हुआ वर्षा के आगमन की प्रतीक्षा में आकाश में बादलों को देखकर उनकी ओर दौड़ता है, चक्रवाकी और कुररी पक्षी भी जिस प्रकार रात्रि में निद्राहीन आँखों से प्रिय के विरह में करुण विलाप करते रहते हैं, उसी प्रकार साधक को विपुल आर्ति के साथ करुण स्वर से नाम कीर्तन करते-करते अभीष्ट का आह्वान करना चाहिए— यही नाम साधना की परासिद्धि है। इसका कारण यह है कि नाम ही साधन है और नाम ही साध्य है।)

हे गोपकुमार! नाम-संकीर्तन के फलस्वरूप अनायास ही प्रारब्ध कर्मों का विनाश साधित होने पर भी नाम सेवकगण गोप्य भक्ति की महिमा प्रकाशित होने से भय से इच्छा करके ही प्रारब्ध कर्म को बनाये रखते हैं और व्यवहार भंगी क्रम से लोक सकल को अपने दोष जनित दुःखभोग के बारे में अवगत कराते रहते हैं। जिस प्रकार भरत आदि महाभक्तगण ने शुद्धचित्त होते हुए भी लोकसकल को बुरे संग की दोष शिक्षा देने के लिए हिरणशिशु इत्यादि प्राकृत वस्तु में आसक्ति दिखाई थी। तुम निरन्तर सकल तत्त्व विचार कर भक्ति के प्रभाव से विघ्न और महाविघ्न समूह को जय करो और हम भी सर्वत्र तुम्हारी सहायता करेंगे। हम निश्चितरूप से जानते हैं कि तुम पर श्रीकृष्ण की महान् अनुकम्पा है, कारण यह है कि तुम तपोलोकवासिगण की बातों से प्रभावित नहीं हुए और श्रीभगवान् के साक्षात् दर्शन की इच्छा को भी नहीं त्याग पाये। श्रीभगवान् का रूप सच्चिदानन्दघन है, अतएव चिदानन्दमय इन्द्रिय द्वारा ही वह ग्राह्य होता है। किन्तु श्रीभगवान् की कारुण्यशक्ति के प्रभाव से इन मांसचक्षु में ही दर्शन योग्य शक्ति का संचार होता है और मांसचक्षु के द्वारा ही सतत भगवद्रूप का दर्शन होता है। श्रीभगवान् की कृपा से मानस नेत्र के दर्शन के समान ही मांसचक्षु से दर्शन भी सतत और सम्यक् रूप से सिद्ध होता है। दूसरी ओर प्रभु यदि कृपा न करे तो कोई भी उन्हें मन द्वारा, इन्द्रिय द्वारा या अन्य किसी उपाय द्वारा दर्शन करने में समर्थ नहीं होता है। इसका कारण यह है कि वे स्वप्रकाश और मनोनेत्र के अगोचर हैं। उपासना के प्रभाव से स्वयं इन्द्रिय आदि में उदित होकर अपरिमित

आनन्द प्रदान करते हैं। आँख के द्वारा जो भगवद् दर्शन होता है, उससे प्रभु के विशेष अनुग्रह का लाभ होता है, क्योंकि आँख से दर्शन करना ध्यान से दर्शन करने की अपेक्षा अधिक सुखदायक होता है इसलिए आँख द्वारा दर्शन ही नवविधा भक्ति का साध्य है। श्रीभगवत् साक्षात्कार ही समस्त साधन का उत्कृष्ट फल है, उनके साक्षात्कार के प्रभाव से ही माया आमूल नष्ट हो जाती है और प्रेम बढ़ता जाता है। कयाधू-पुत्र प्रह्लाद अपने हृदय में प्रभु का दर्शन कर लेने पर भी वाह्यचक्षु से सदैव दर्शन की अभिलाषा करते थे, इसलिए समुद्र के किनारे दर्शन करने के बाद उन्होंने विशेष भाव लाभ किया था। श्रीकृष्ण का साक्षाद् दर्शन होते हुए भी यदि किसी भक्त की दोनों आँखें बन्द हो जाये, तो आँखों के बन्द होने को ध्यान नहीं कहा जाता है, वह आनन्द पूर्वक कम्प आदि के समान प्रेमविकार ही कहा जायेगा। इसका कारण यह है कि प्रभु का ध्यान परोक्ष में ही संगत होता है, अपरोक्ष या साक्षात् ध्यानसंगत नहीं होता है। लेकिन संकीर्तन परोक्ष और अपरोक्ष दोनों ही रूप में सब स्थानों पर संगत होता है। श्रीनाम प्रभु की श्रीमूर्ति में भी अतिशय प्रिय है। यह नाम जगद्हितकारी, सुखोपास्य और परम सरस है— नाम के समान और कुछ भी नहीं है। अतएव इसी समय तुम हमारे उपदेश और श्रीशिव की आज्ञा के अनुसार शीघ्र ही मुक्तिपद से श्रीकृष्ण के प्रिय स्थान मथुरा को गमन करो। हम भी मथुरा को प्रणाम करते हैं।

श्रीगोपकुमार ने कहा— हे ब्रह्मण्! उनकी वह हृत्कर्णरसायन बात सुनकर प्रसन्न होकर श्रीशिव पार्वती को प्रणाम करते ही इस ब्रजभूमि में आ गया, किन्तु सुदूर मुक्तिपद से किस प्रकार ब्रजभूमि में उपस्थित हो गया— इस घटना से मैं अतिशय विस्मित और मुग्ध हुआ था।

चतुर्थ अध्याय (वैकुण्ठ)

श्रीगोपकुमार ने कहा— हे ब्रह्मण्! उस ब्रजभूमि में मैं आकर अकेला भ्रमण करने लगा। ब्रह्माण्ड के अन्दर और बाहर मुक्तिलोक पर्यन्त जो शोभा कहीं भी नहीं देखी, वह शोभा दर्शन करते करते उस वन में वास करते हुए इस प्रकार विमोहित हुआ था कि वैकुण्ठ प्राप्ति का साधन आदि सब विस्मृत हो गया था। (ब्रजभूमि सब के मन का मंथन (आलोड़न) करती है इस कारण 'मथुरा' नाम से जानी जाती है। मन को आलोड़न कर अपने को छोड़ अन्य समस्त विषयों को भुला देती है। गोपकुमार की वैकुण्ठ प्राप्ति की विपुल उत्कण्ठा भी ब्रजभूमि की नैसर्गिक शोभा के दर्शन से शान्त हो गई। वे वह (वैकुण्ठ प्राप्ति) भूल ही गये थे इससे वैकुण्ठलोक की अपेक्षा ब्रजभूमि का शोभाधिक्य और महिमाधिक्य प्रकट होता है। "अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी। दिनमेकं निवासेन हरौ भक्ति प्रजायते॥" (पद्मपुराण) गोपकुमार वैकुण्ठ और ऊर्ध्व द्वारका आदि परिभ्रमण करके अन्त में इस महासत्य की उपलब्धि प्राप्त किये थे, यह क्रमशः वर्णित होगा।) एक बार क्रीड़ावश भ्रमण करते करते मैं मथुरापुरी में उपस्थित हुआ और वहाँ माथुर विप्रगण के मुख से श्रीभागवतादि भक्तिशास्त्र सुना। नवविधा भक्तितत्त्व पूर्ण रूप से जानकर फिर वृन्दावन में उपस्थित हुआ एवं वहाँ सहसा निज गुरुदेव का साक्षात्कार लाभ किया। वे पूर्ववत् निर्विकार रूप से विराजमान थे। मैंने उन्हें सादर दण्डवत् प्रणाम किया उन्होंने आशीर्वाद पूर्वक आलिंगन किया और सर्वज्ञ श्रीगुरुदेव ने कृपाकर परम रहस्यमय भक्तितत्त्व का उपदेश किया। मैं यथादिष्ट भक्तियोग का निरन्तर अनुष्ठान करने लगा। शीघ्र ही प्रेम संज्ञात हुआ। प्रेमवैवश्य हेतु अर्चन आदि अंग का अनुष्ठान कर नहीं पाया, केवल उच्च स्वर से श्रीभगवान् का नाम संकीर्तन करने लगा।

हे कृष्ण! हे गोपाल! हरे! मुकुन्द! गोविन्द! हे नन्दकिशोर कृष्ण! हा यशोदातनय प्रसन्न हो! हे श्रीवल्लवी जीवन राधिकेश! इस प्रकार गान के साथ अपने अभीष्टदेव का आह्वान करते-करते कभी नृत्य करता था, और कभी उन्मत्त की भाँति देह आदि को भूलकर इधर-उधर भ्रमण करता था।

एकबार सहसा अपने प्राणनाथ को सामने देखकर उनको पकड़ने के लिए दौड़ते ही प्रेमविह्वल दशा में मूर्छित होकर गिर गया। उसी समय वैकुण्ठपार्षदगण मुझे वैकुण्ठ ले जाने के लिए आ गये और मुझे विमान में चढ़ा लिया। तब मैंने संज्ञा प्राप्त होने पर चकित होकर इधर-उधर देखा। मैंने देखा कि मुक्तिलोक में जिन्होंने मुझे वैकुण्ठ प्राप्ति के उपाय का निर्देश कर उपकार किया था वही पार्षदगण सैकड़ों सूर्यों के समान तेजस्वी विमान में चढ़ाकर मेरे पास ही विराजमान हो रहे हैं। मेरे सादर उन्हें प्रणाम करते ही उन्होंने मुझे उनके ही समान चतुर्भुजत्व आदि विशिष्टरूप ग्रहण करने के लिए शत-शत युक्ति प्रदर्शन किये। अर्थात् मनुष्यदेह वैकुण्ठगमन के लिए अयोग्य है, विशेषतः मनुष्य शरीर से वैकुण्ठ सुख अनुभव नहीं किया जा सकता इत्यादि युक्ति दिखाने लगे। किन्तु मैंने उनकी समानरूपता ग्रहण स्वीकार नहीं की, तब भी मेरा शरीर गोवर्धन से उत्पन्न होने के कारण उसी के समान प्रभाव, गुण और कान्तिसम्पन्न हो गया था। मैंने परमानन्दमय भक्तिपथ में वैकुण्ठ आरोहण के समय घृणास्पद स्वर्गादि लोकों की ओर दृष्टिपात भी नहीं किया, किन्तु इन्द्रादि लोकपालगण मस्तक पर अञ्जलि बाँधकर प्रेमभक्ति पूर्वक पुष्प चावल आदि मांगलिक द्रव्यसमूह मेरे लिए वर्षण कर पूजा करने लगे। रास्ते में मुक्तिपद को भी अवज्ञापूर्वक देखा। बाद में उसके ऊपर शिवलोक को आरोहण कर उमादेवी के सहित विराजित श्रीमन्महादेव को हर्षपूर्वक प्रणाम किया। उन्होंने आदर, प्रेम और सद्भक्ति के द्वारा मुझे आनन्दित किया। बाद में वाक्य मन के दुष्प्राप्य एवं विविध महात्म्य माला से पूर्ण मनोरम वैकुण्ठलोक में उपस्थित हुआ। पार्षदगण ने मुझे वैकुण्ठ के द्वार पर बिठाकर कहा— तुम क्षणभर इस बहिर्द्वार पर अवस्थान कर भक्तिदीप्त नयनों से महा आश्चर्य वैभव समूह दर्शन करो, हम तुम्हारे आगमन की बात प्रभु को सूचित करते हैं, बाद में तुम पुरी में प्रवेश करोगे।

श्रीगोपकुमार ने कहा— हे विप्र! वे पार्षदगण मुझे बहिर्द्वार पर छोड़कर अन्दर चले गये तब मैंने देखा— प्रभु के समान कान्ति, वयस, वेश और अलंकार युक्त एकजन पुरी में प्रवेश कर रहे हैं। मैं उन्हें ही श्रीहरि समझकर— ‘हे नाथ! पाहि माम्’ कहते-कहते प्रणाम करने लगा। यह बात सुनकर उन्होंने अपने कान में अंगुली देकर संकेत द्वारा मुझे निवारण किया एवं “मैं दास हूँ, मैं दासों का दास हूँ” यह बात कहते-कहते पुरी में प्रवेश कर गये।

बाद में उनकी अपेक्षा महान् वैभवशाली कोई पुरुष वहाँ आये। उन्हें दर्शन करने पर भी मैंने जगदीश्वर जानकर पूर्ववत् आदर पूर्वक स्तुति और प्रणाम करने पर वे भी कान में अंगुली देकर सस्नेह मुझे निषेध करते हुए पुरी में प्रवेश कर गये। इस प्रकार कोई अकेले कोई दो जन साथ-साथ और कोई दलबद्ध होकर पुरी में प्रवेश कर रहे थे, यह सभी पहले से अधिकतर शोभा और वैभव सम्पन्न थे। मेरे पूर्ववत् आदरपूर्वक स्तुति प्रणाम करते ही अमृतमय स्निग्ध वचनों से मुझे निषेध कर रहे थे। उनमें से कोई छत्र, कोई चामर आदि सेवा-सामग्री, और कोई भक्तिरसरूप उपहार लेकर अपनी-अपनी सेवा में व्याकुल अन्तःकरण से एवं विचित्र भजनानन्द विनोद पूर्वक विभूषित होकर चले जा रहे थे। उनके सर्वांग भूषणों के भूषण स्वरूप थे, सभी प्रभु श्रीवैकुण्ठेश्वर की सेवा-योग्य थे। कोई नररूप, कोई वानररूप, कोई देवमूर्ति और कोई ऋषिमूर्ति धारण कर रहे थे। कोई इन्द्र-चन्द्र आदि सदृश, कोई त्रिनेत्र, कोई चतुरानन, कोई सहस्रमुख, कोई अष्टभुजमूर्ति धारण कर रहे थे। फलतः भक्ति रसास्वादन से सभी मूर्ति ही अति सुन्दर और मनोरम हो रही थीं। लोकरीति से भी प्रसिद्ध है कि रसविशेष सेवन से सौन्दर्य सिद्धि होती है एवं दिव्य रूप आदि लाभ होता है। भक्तिरस की सेवा सब मूर्ति को ही परम सौन्दर्य और कान्तिदान करती है, इस विषय में श्रीहनुमान्, जाम्बवान् इत्यादि प्रमाण हैं। हे विप्र! सर्वप्रपञ्चातीत वैकुण्ठवासिगण, वैकुण्ठधाम और वैकुण्ठनायक की असीम महिमा प्रपञ्चान्तर्गत दृष्टान्त द्वारा प्रकाशित नहीं की जा सकती और उस रूप दृष्टान्त की प्रस्तावना युक्ति संगत भी नहीं है। किन्तु अपनी चित्तवृत्ति की प्रपञ्चान्तर्गत वस्तु की अधिकता के संसर्ग के कारण आपके ज्ञान के लिए प्रपञ्चदृष्टान्त द्वारा वैकुण्ठलोक को समझाऊँ, इससे यदि मेरा कोई अपराध हो जाये— तो सब अपराधहारी श्रीहरि उसे क्षमा करें।

समस्त वैकुण्ठवासी में आपस में साम्य और अन्तर दोनों ही देखे जाते हैं, फिर भी किसी प्रकार का विरोध दिखाई नहीं देता है। वहाँ पर किसी में मात्सर्य आदि दोष नहीं है परन्तु सौहार्द, सम्मान और विनय आदि हजारों गुण विद्यमान हैं। वे बर्हिदृष्टि से विषयी के समान प्रतीत होते हुए भी विषयी नहीं हैं, विषयसुख छोड़े हुए मुक्तगण भी उनके चरणों की अर्चना करते रहते हैं। (प्रश्न हो सकता है कि वैकुण्ठवासीगण परमभक्त होकर भी इस प्रकार विचित्र वैभव आदि विषयों में लिप्त क्यों हैं? इस आशंका को दूर करने के लिए ही कहा है कि वे विषयी के समान प्रतीत होते हुए भी विषयी नहीं हैं।

परम वैभव सम्पन्न प्रभु की सेवा के सौष्ठव के लिए हीयह वैभव अंगीकार किये हैं। श्रीमद्भागवत में वैकुण्ठ के वर्णन में देखा जाता है— “विमानचारी वैकुण्ठवासीगण अपनी अपनी पत्नियों के सहित निःश्रेयस वन में श्रीभगवान् के गुणगान में प्रचुर अनुराग प्रकाश कर रहे हैं। जलतट पर विकसित माधवीलता की मधुमय सुगन्ध से उनका चित्त चञ्चल होते हुए भीवे उस संगीत का त्याग नहीं कर रहे हैं। जो वायु इस सुगन्ध को लेकर आ रही है उस वायु को दूर हटाकर प्रभु का गुणगान ही कर रहे हैं।” इस दृष्टान्त द्वारा निरतिशय सुख सम्पद् वैकुण्ठवासीगण भजनानन्दरूप ही उपभोग करते हैं, यह सिद्ध होता है) वैकुण्ठवासीगण के समान ही वैकुण्ठलोक के विमान आदि भी स्वरूपतः ब्रह्मघन होते हुए भी लीला की पुष्टि के लिए नानारूप के प्रतीत होते हैं। उस स्थान का स्वरूपतत्त्व वैकुण्ठपति के अनुग्रह से ही ज्ञात हो पाता है, इसका कारण यह है कि वह मन बुद्धि से अगोचर है। वैकुण्ठलोक और वहाँ स्थित सभी पदार्थों के दर्शन होने से ब्रह्मसुख अति तुच्छ प्रतीत होता है। इसलिए सारातिसार विचारविज्ञ ब्रह्मानन्दी मुनिगण आत्मारामत्वादि परित्यागपूर्वक वैष्णवों के संग भजन करते रहते हैं। इसके कारण मैंने वहाँ जाकर स्वयं अनुभव किया है।

मैं पुरद्वार पर महावैभवयुक्त श्रीवैकुण्ठनाथ के सेवकगणों को देखकर मन ही मन विचार कर रहा था कि जिसके सेवकगण इस प्रकार प्रभावसम्पन्न हैं, न जाने उन प्रभुवर का प्रभाव कैसा होगा? उस प्रभाव दर्शन की लालसा में मैं बार-बार दण्डायमान और उपवेशन कर रहा था, इसी समय पार्षदगण आये और मुझे पुरी के अन्दर प्रवेश कराया। मैंने वहाँ प्रवेश करके जो देखा वह सब ही परम अद्भुत था, सहस्रत्रयदश अनन्तदेव द्विपरार्धकाल में भी उसका वर्णन करने में समर्थ नहीं होंगे। प्रत्येक द्वार पर द्वारपालगण अपने अध्यक्ष को सूचितकर मुझे प्रवेश कराने लगे। मैं द्वारपाल अधिपतिगण को जगदीश समझकर आदर सहित प्रणाम और बारम्बार स्तव करने लगा। बाद में मेरे प्रति स्निग्ध पार्षदगण ने प्रभु के श्रीवत्सचिन्हादि असाधारण लक्षणसमूह मुझे बताये एवं प्रभु के स्तव आदि की शिक्षा दी।

मैंने महाचित्र विचित्र गृह द्वार और प्रवेश समूह वेगपूर्वक अतिक्रम कर अन्तःपुर में प्रविष्ट होकर एक इस प्रकार का अपूर्व प्रासाद देखा, जैसे अन्यान्य प्रासाद समूह इस प्रासाद की चरणसेवा कर रहे हो! वह प्रासाद कोटि सूर्यों के समान उज्ज्वल और कोटिचन्द्र के समान सुशीतल स्निग्ध कान्ति

विकास करते हुए मनोनयन की वृत्ति को अपहरण कर रहा था। यह भी देखा कि उस प्रासाद के अन्दर श्रेष्ठ रत्नखचित स्वर्णमय सिंहासनराज शोभायमान है, उस पर सुकोमल और उज्ज्वल हंसतूलिका के ऊपर विराजमान नव यौवन सम्पन्न भगवान् वैकुण्ठनाथ निष्कलंक चन्द्र की भी अपेक्षा मृदुल कोमल और वर्तुलाकार तकिये पर अपना बाँया हाथ और कोहनी स्थापन कर सुखपूर्वक विराजमान हो रहे हैं। नवीन मेघ की शोभाहारिणी सौन्दर्य-माधुर्यमय अंगकान्ति द्वारा रत्नखचित स्वर्ण अलंकार, माल्यवस्त्र, अनुलेपन तकिये और सिंहासनादि को विभूषित कर रहे हैं वे कंकण, अंगद के विभूषण-स्वरूप स्थूलवृत्त भुजचतुष्टय द्वारा सुशोभित हो रहे हैं। दो पतीपहवसन श्रीअंग पर शोभा पा रहे हैं, मुखचन्द्र हास्यामृत से पूर्ण हैं, प्रफुल्ल नयन-कमल से भंगीपूर्वक अवलोकन कर रहे हैं। उनकी धनुषाकार भ्रूद्वय कृपा पूर्वक नृत्य कर रहीं हैं। वामपार्श्व में आत्मयोग्या महालक्ष्मी विभ्रम के सहित ताम्बूल निवेदन कर रही है एवं प्रभुवर उस उत्तम ताम्बूल को सादर ग्रहण पूर्वक चर्वण कर रहे हैं। ताम्बूलराग रंजित अधर-विम्ब कान्ति के संमिश्रण से दुगुने सुशोभित कुन्दविनिन्दित अमल दन्तराजि की दीप्ति से समुज्ज्वल हास्यरस विस्तार कर रहे हैं एवं नर्मभंगीमय वचनामृत के द्वारा भक्तचित्त को हरण कर रहे हैं। धरणीदेवी हाथ में पीकदानी लेकर कटाक्षभंगी द्वारा बार-बार उनकी अर्चना कर रही है एवं सुन्दर मूर्तिधारी सुदर्शन, गदा, शंख, धनु इत्यादि आयुध समूह मस्तक पर अपने-अपने चिन्ह धारणकर प्रभु की सेवा कर रहे हैं। चामर, व्यजन, पादुका आदि श्रीपरिच्छद में सुशोभित हस्त प्रभु के समान रूपयुक्त सेवकवृन्द परमादर से प्रभु की परिचर्या कर रहे हैं। शेष, सुपर्ण, विष्वक्सेन इत्यादि मुख्य पार्षदगण भक्तिविनम्र स्कन्ध होकर दोनों हाथ जोड़कर प्रभु के आगे दण्डायमान होकर विचित्र वचनों से स्तव कर रहे हैं प्रभु कभी श्रीनारद के अद्भुत नृत्य और वीणागीतादि की भंगीमय चातुरी का दर्शन कर निजप्रिया कमला और धरणी के साथ उच्च हास्य करते हैं। और किसी समय उनके जैसे भक्तगण के आनन्द विशेष की वृद्धि के लिए पादपद्म युगल को फैलाकर जैसे भक्त को समर्पण कर दिया हो, इस प्रकार अद्भुत आमोद विस्तार करते हैं।

हे विप्र! दर्शनानन्द के आवेश से मैं पार्षदगण की शिक्षा सुनकर “हे गोपाल! हे जीवित!” इस प्रकार उच्चस्वर से बार-बार कहते हुए उन्हें

आलिंगन करने के लिए दौड़ पड़ा। मेरी इस प्रकार की चेष्टा देखकर बगल में स्थित विज्ञपार्षदगणों ने मुझे पकड़कर रखा, मैं दीनभाव से विनती करते-करते अन्त में प्रेमवैवश्य के कारण मूर्छित होकर उनके आगे गिर पड़ा। (श्रीवैकुण्ठ पूर्ण ऐश्वर्य का धाम है। ऐश्वर्यमयी भक्ति वहाँ पर स्थित परिकरगण के अन्तर में सदैव आदर-संकोच को जगाये रखती हैं, इसलिए वैकुण्ठवासी दासभक्तगण की प्रभु को आलिंगन करने की वासना-अन्तर में कभी भी जागरित नहीं होती है। वरन् इस प्रकार के व्यवहार को वे एक प्रकार की अशिष्टता ही मानते हैं। श्रीगोपकुमार पूर्ण माधुर्य के धाम श्रीवृन्दावन के सख्यरस के उपासक हैं। उनके दशाक्षर मन्त्रजप आदि के प्रभाव से ही विपुल ऐश्वर्यपूर्ण श्रीवैकुण्ठधाम में भी इस प्रकार उन्मादनामय भाव विशेष की उत्पत्ति के कारण इष्ट के प्रति भय, आदर, गौरव आदि की हानि हुई थी, इसीलिए वे वैकुण्ठेश्वर का आलिंगन करने के लिए दौड़े थे। और प्रभु के साथ इस प्रकार के व्यवहार को ऐश्वर्य के धाम वैकुण्ठ के लिए नितान्त अशोभनीय मानकर ही वैकुण्ठपार्षदगण ने इस प्रकार के आचरण में बाधा दी थी, ऐसा समझना चाहिए।) पार्षदगण ने बल पूर्वक मुझे उठाकर सचेतन किया। मेरे प्रबल अश्रुपात के कारण प्रभु के दर्शनों में विघ्न उत्पन्न हो रहा था, इसलिए यत्नपूर्वक दोनों हाथों से आँसुओं को साफकर दोनों नेत्रों को खोला। तब वे दयालु प्रवर प्रभु स्नेहपूर्वक मृदुगम्भीर वचन से बोले— वत्स! स्वस्थ हो, पास आओ मैं श्रीभगवान् के वचनामृत को सुनकर हर्ष की पराकाष्ठा प्राप्त कर महा उन्माद से बारम्बार नृत्य करने लगा, बाद में पार्षदगण ने बहुत प्रयास से मुझे स्थिर करके मुझे प्रबोध दिया।

श्रीभगवान् बोले— हे वत्स! स्वागत है! स्वागत है! मैं चिरकाल से तुम्हारे दर्शन के लिए उत्कण्ठित था। बड़े सौभाग्य की बात है जो आज तुम्हें इस स्थान पर देख पाया। हे सखे! तुमने बहुत से जन्म व्यतीत किये हैं, फिर भी किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी मेरे प्रति आभिमुख्य प्रकाश नहीं किया। इस जन्म में ही तुम मेरे प्रति उन्मुख होंगे इसी आशा में मैं अज्ञ के समान अनवरत नृत्य करता हूँ। हे भ्रात! मैंने कुछ ऐसा छल भी नहीं पाया जिससे मेरी आज्ञारूप वेद मर्यादा को उल्लंघन करके तुम्हें यहाँ ले जाऊँ। (इस स्थल पर तात्पर्य यह है कि अपार करुणामय श्रीभगवान् सदैव ही जीव को भक्तरूप में पाने के लिये व्यग्र रहते हैं। इसीलिए वे प्रत्येक कल्प में नाना अवतारों के

रूप में विश्व में अवतीर्ण होते हैं, गुरु रूप में, वैष्णवरूप में, शास्त्ररूप में विश्वमानव के द्वार पर अवतीर्ण होकर निजतत्त्व बतलाकर मायाबद्ध भगवद्बहिर्मुख जीव को अपने चरणों में आकर्षण करने का प्रयास करते हैं। “गुरु रूपे घरे घरे, दीक्षा देय सवाकारे, वैष्णवरूपेते देय शिक्षा। शास्त्ररूपे कहे ज्ञान, आत्मा रूपे अधिष्ठान, देख तौर कारे वा उपेक्षा।” (महाजन)। श्रीभगवान् की स्वरूपशक्ति ह्लादिनी की वृत्ति जीव के आधार में आकर जब प्रेम रूप में परिणति प्राप्त होती है तब वह ह्लादिनी की वृत्ति प्रेम श्रीभगवान् को इतना आस्वादन प्रदान करती है कि ह्लादिनी उनके स्वरूप में रहते हुए उन्हें वह आनन्द दान नहीं कर पाती है। दोनों चिद्रूप होते हुए भी भक्त के हृदय में स्थित ह्लादिनी भक्त के आधार के गुण से अधिकतर आस्वादनीय हो जाती है। इसलिए निरवधि आनन्द स्वरूप होकर भी श्रीभगवान् अपने स्वरूपानन्द अपेक्षा भी चमत्कार स्वादु भक्त हृदय के प्रेमानन्द आस्वादन करने के लिए एवं अपना स्वरूपानन्द आस्वादन कराकर जीव का जीवन सार्थक करने के लिए जीव जगत् के प्रति ह्लादिनी शक्ति को निरन्तर निक्षेप करते हैं जीव के पक्ष में नामाभास आदि किसी प्रकार के थोड़े से छल या बहाने के प्राप्त होते ही निजवाक्यरूप वेद-मर्यादा लौघकर अजामिल आदि के समान करुणा में बाँधकर जीव को अपने चरणों में आकर्षण करते हैं। जिस जीव की ओर से उन्मुखता का थोड़ा सा भी आभास नहीं पाते हैं, उसके प्रति वे व्यथित चित्त से चिरकाल दुःख करते हैं— इस स्थान पर श्रीभगवान् की इस अहैतुकी करुणा का तत्त्व ही प्रकट होता है। अपार करुणावरुणालय श्रीभगवान् की करुणा की जय हो।) हे वत्स! अपने प्रति तुम्हारी उपेक्षा देखकर मैं अतिशय व्याकुल हुआ एवं तुम्हारा जिससे किंचिद् अनुग्रह लाभ कर सकूँ। (अर्थात् जिससे तुम मेरी ओर थोड़ा उन्मुखीन हो यही मेरे प्रति तुम्हारी कृपा।) इसलिए स्वकृत मर्यादा मार्ग को लौघकर गोवर्धन में तुम्हें जन्म ग्रहण करवाया और मैं स्वयं ‘जयन्त’ नाम से तुम्हारे गुरुरूप से अवतरित हुआ। (श्रीभगवान् का कारुण्यघन अवतार ही श्रीगुरु-विग्रह है। श्रीभगवान् ने बोला है— “आचार्य मां विजानीयान्नावमन्येत् कर्हिचित्। न मर्त्यबुद्धयासूयेत सर्वदेवमयो गुरु ॥” अर्थात् ‘आचार्य को मेरा ही स्वरूप जानो। कभी भी उनकी मर्त्यबुद्धि से (अर्थात् साधारण मनुष्य समझकर) अवज्ञा मत करना, और न कभी उनके दोषों को देखना। श्रीगुरु सर्व देवमय हैं।’ (भा.

11/17/27)। प्रत्यक्ष ज्ञानदीपप्रद भगवान् श्रीगुरु में जो भक्ति मनुष्यबुद्धि करते रहते हैं उनकी समस्त साधना हाथी के स्नान के समान निष्फल होती है।

“यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ ।
मर्त्यासद्धीः श्रुत तस्य सर्व कुञ्जरशौचवत् ॥”

(भा. 7/15/26)

इस कारण जो भाग्यवान् साधक श्रीगुरु से श्रीभगवान् की आत्मप्रकाशिका भक्ति उपलब्धि करते हैं, वे ही धन्य हैं। साधक भक्त की भजन क्रिया के मूल में सर्वत्र ही करुणामय श्रीगुरु की कृपा सदैव विद्यमान है। “तत् प्रसादो हि स्व-स्व नानाप्रतिकारदुस्तज्यानर्थहानौ परमभगवत् प्रसादसिद्धौ च मूलम्।” (भक्तिसन्दर्भः) अर्थात् नानाप्रतिकार के द्वारा भी दुस्त्यज भजन के अनर्थ समूह नाश-विषय में और श्रीभगवान् की परम प्रसन्नता की सिद्धि-विषय में श्रीगुरु की करुणा की एकमात्र मूल है। निर्हेतु करुणा प्रकाश से जो गुरु रूप से अवतीर्ण होकर दीक्षादि दान के द्वारा अपनी कारुण्ययुक्त प्रेमामृत शक्ति मिलाकर अन्त में साक्षात् निज चरणारविन्द की सेवादान से जीव को कृतकृतार्थ करते हैं— उन गुरुरूपी श्रीभगवान् की जय हो! अपार करुणामय श्रीगुरु के महत्व की कोई तुलना नहीं है अर्थात् यह अतुलनीय है।) हे वत्स! तुमने मेरी दीर्घकाल की आशा सफल की है; अब स्थिरभाव से यहाँ अवस्थान करके मेरे और अपने सुख की पुष्ट करो।

श्रीगोपकुमार बोले— हे ब्रह्मन्! इस प्रकार श्रीभगवान् के करुणारस मिश्रित वचन रूप महापीयूष का पान करके मैं इस प्रकार मत्त हुआ कि स्तव आदि जो कुछ कर्तव्य था, कुछ भी न कर सका। मैंने बाद में देखा कि मेरे ही समान कई गोपवेशधारी वेणुवादक बालक मुझे आकर्षिक करके सखा के समान स्नेहपूर्ण बातों से आश्वासन देते हुए मुझे वेणु वादन में प्रवर्तित करने लगे। तब मैंने गोवर्धन पर्वत से उत्पन्न महाप्रिय इस वंशी का वादन करके महावैदग्धसागर कृपानिधिमाधव को सन्तोष प्रदान किया। अनन्तर यथा समय पर (श्रीहरि के भोजनावसर पर) महाशोभायुक्त पार्षदगण बाहर चले गये। यद्यपि मेरी बाहर आने की इच्छा नहीं थी फिर भी महालक्ष्मी के आदेश से पार्षदगण कौशलपूर्वक मुझे बाहर ले आये। ऐश्वर्यमय वैकुण्ठधाम के स्वभाव से महाविभूतिसमूह के पास स्वयं उपस्थित होते हुए भी मैं

यत्नपूर्वक उन्हें दूर करके पूर्वाभ्यास के बलसे अकिंचन भाव से ही प्रभु के भजन को परम सुखकर मानता था। मैंने निश्चय किया था कि भगवत्कृपा से मैं लभ्यफल की चरम सीमा में पहुँच गया हूँ। अहो! यह वैकुण्ठ में भी कितना सुख है। यह पद भी कितना महत्वपूर्ण है। महा आश्चर्यतर प्रभु भी किस प्रकार के हैं। और उनकी आश्चर्य तक कृपा भी किस प्रकार की है। उसके बाद मैं प्रभु की कृपा से वीजन आदि समीपवर्ती सेवा पाकर आनन्द से आप्लावित हुआ। मैं पूर्व अभ्यासवश “हे कृष्ण! हे गोपाल!” कहकर उच्च स्वर से आह्वान करते हुए प्रभु का नाम कीर्तन करता था और श्रीकृष्ण की गोकुल चरितावली स्तोत्र रूप में गान करता था। उसे सुनकर वैकुण्ठ वासीगण हँसते-हँसते बाहर आकर स्नेहपूर्ण हृदय से मुझे उपदेश दे रहे थे कि हे गोपबालक! प्रभु भगवान् के सामने “हे कृष्ण हे गोपाल!” इस प्रकार का सम्बोधन मत करना। प्रभु की अत्यन्त अद्भुत महिमा है, उसे श्लोक छन्द में गान करो। दुष्टों के संहार एवं शिष्टजनों के पालन हेतु जो गोपवेश धारण किया था भक्ति के आरम्भकाल में वह लीलाकीर्तन युक्ति संगत होते हुए भी भक्ति के फलस्वरूप वैकुण्ठ प्राप्ति होने पर फिर उसका प्रयोजन नहीं है, इसलिए हमें इस प्रकार की स्तुति नहीं करता हूँ। वैकुण्ठवासीगण में से ही किसी-किसी का मत था कि प्रभु की गोपालन आदि लीला के कीर्तन में कोई दोष नहीं है, वरन् वह कीर्तन करना ही उचित है, क्योंकि प्रभु का चरित्र दुर्बोध है। फिर किसी-किसी मुख्य सेवक ने कहा— भक्तवात्सल्य प्रयुक्त श्रीकृष्ण जो सब कार्य करते हैं, उनमें से कोई भी मायाकृत या बालक्रीड़ावान नहीं है, अतएव उसके कीर्तन से महागुणोदय ही होता है एवं प्रभु भी परम परितुष्ट रहते हैं। (तात्पर्य यह है कि यद्यपि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं एवं ब्रजलीला के समान माधुर्यमय लीला वैकुण्ठ आदि में कभी सम्भव नहीं है, फिर भी ऐश्वर्यज्ञान द्वारा माधुर्यलीला का आस्वादन ग्रहण करना सम्भव नहीं है, इसी कारण श्रीकृष्ण की गोचारण आदि लीला वैकुण्ठवासीगण में किसी को रुचिकर नहीं लगती है। जो ज्ञानादि साधन संस्कारों के चिर अभ्यस्त है वे गोपलीला को मायामय या कपटलीला मानते हैं, अर्थात् इस प्रकार के महा ऐश्वर्ययुक्त श्रीभगवान् के पक्ष में गोपालन कभी सम्भव नहीं है, यह बात वे एकदम निश्चय कर चुके हैं। कोई-कोई अतर्क शक्ति युक्त श्रीभगवान् की समस्त लीलाओं को सम्भव मानते हैं, अतएव वैकुण्ठ में गोचारण लीला के

गान में कोई दोष न मानते हुए गोपकुमार के कार्य का अनुमोदन किये हैं। प्रभु की सब लीलाओं में ही संतोष का अनुभव करते हैं, अतएव गोपालनादि के लीलाकीर्त्तन से महागुणोदय होता है और इस प्रकार गोपकुमार की चेष्टा की प्रशंसा करते हैं। इनमें से पहले पहले से बाद-बाद वाले पार्षद श्रेष्ठ होते हुए भी ऐश्वर्यावगाही वैकुण्ठ परिकरगण में से किसी के भी पक्ष में शुद्ध माधुर्यमय ब्रजलीला का आस्वादन सम्भव नहीं है, ऐसा समझना चाहिए।)

श्रीगोपकुमार बोले— हे विप्र! पूर्वोक्त वक्ता के वाक्यों से मुझे लज्जा का अनुभव हुआ। बाद में अन्तिम वक्ताओं के वचनों से मेरा मन प्रसन्न तो हुआ किन्तु परितृप्त न हुआ। इसका कारण यह था कि परस्पर मतों में भिन्नता देख हृदय में काँटा चुभने के समान पीड़ा का अनुभव किया। विशेषकर वैकुण्ठ में अपने इष्टदेव श्रीमन्मदनगोपाल के चरणारविन्द युगल के उस प्रकार के रूप विनोद माधुरी का अनुभव न पाकर मेरा मन दीनवत् हो गया। उसी क्षण सर्वज्ञशिरोमणि प्रभु वैकुण्ठनाथ नन्दनन्दन हो गये। लक्ष्मीदेवी श्रीराधिका का रूप, धरणीदेवी चन्द्रावली का रूप एवं अन्यान्य पार्षदगणों ने ब्रज बालकों का रूप धारण किया। फिर भी इस ब्रजभूमि में प्रभु को सपरिकर विहार करते देखने से हृदय में जिस प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है, वैकुण्ठ में उस रूप में विहार करते हुए देखने पर भी उस प्रकार के आनन्द का लाभ नहीं कर सका, वरन् मन खिन्न ही हुआ। (प्रश्न हो सकता है कि श्रीवैकुण्ठनाथ के नन्दनन्दन रूप से दर्शन देने पर भी गोपकुमार का मन प्रसन्न क्यों नहीं हुआ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इसके बाद ही वर्णित है— गोपकुमार ने ध्यान में अनुभव किया था, उनके इष्टदेव मदनगोपाल श्रीकृष्ण उनको चुम्बन आलिंगन कर रहे हैं, किन्तु वैकुण्ठनाथ श्रीनन्दनन्दन रूप धारण करके भी उन्हें चुम्बन आलिंगन नहीं कर रहे हैं। इसलिए गोपकुमार के मन में सन्देह होना अस्वाभाविक नहीं है कि वे ही मेरे इष्टदेव मदनगोपाल है या कोई अन्य? और पञ्चम अध्याय में 233 और 234 वें श्लोक में वर्णन है, “भगवती राधिकादेवी के दर्शन लाभ से या श्रीराधारानी के किसी अवतार या आविर्भाव के दर्शनलाभ से तुरन्त बिना साधन के ही ब्रजप्रेम की अनुभूति लाभ होती है।” यहाँ लक्ष्मीदेवी को श्रीराधारानी के रूप में दर्शन करने पर भी गोपकुमार को उस प्रकार के प्रेम की अनुभूति नहीं हुई। इसलिए यह समझना चाहिए कि ब्रज के श्रीनन्दनन्दन एवं राधारानी और वैकुण्ठ में

नन्दनन्दन और राधा के अभिनयकारी वैकुण्ठेश्वर और लक्ष्मीदेवी के बीच में प्रकाशगत पार्थक्य अवश्य ही है, नहीं तो फल में उसकी अपूर्ति क्यों होती? श्रीरामचरितमानस में देखा जाता है कि दुर्गादेवी ने श्रीरामचन्द्र की परीक्षा करने के लिए सीता का रूप धारण किया था, इसलिए महादेव ने उनको अपने बाँये आसन पर बैठने से निषेध किया था। यदि दुर्गा सीतारूप धारण कर सकती हैं तो वे रुक्मिणी या राधारूप भी धारण कर सकती हैं, किन्तु ऐसा होकर भी वे तत्त्वरूप में रुक्मिणी या राधा नहीं हो सकती हैं। इसी प्रकार इस विषय में गौड़ीय वैष्णवाचार्यगण का सिद्धान्त एवं समाधान यही है कि श्रीवैकुण्ठनाथ एवं महालक्ष्मीदेवी श्रीकृष्ण और राधा का रूप धारण करने पर भी तत्त्व रूप में ब्रज के कृष्ण एवं राधा नहीं हो सकते। फिर श्रीमद्भागवत में देखा जाता है कि श्रीराधा आदि गोपीगण कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण दर्शन करके भी सुखी नहीं हो पाईं, वे वृन्दावन में श्रीकृष्ण के दर्शन की अभिलाषा करती थीं, उसी प्रकार श्रीगोपकुमार वैकुण्ठ में नन्दनन्दनरूप धारणकारी वैकुण्ठेश्वर के रूप से लीला के दर्शन से सुखी न हो सके— कारण यही है कि वैकुण्ठ ऐश्वर्य का धाम है। “तोमार जे अन्यवेश, अन्य संग अन्यदेश, ब्रजजने कभु नाहिं भाय।” (चै. च.)

हे ब्रह्मन्! प्रभु वैकुण्ठेश्वर कभी लीलावशतः वैकुण्ठ के उपवन में जाकर नन्दनन्दनरूप में गोचारण लीला का अनुष्ठान करते, कभी फिर पूर्ववत् सपरिकर सिंहासन पर विराजते, कभी सपरिकर मेरे प्रभु मदनगोपालदेव के समान ही प्रतीत होते। फिर भी मैं प्रभु को परमेश्वर कहकर ही ज्ञान करता एवं मैं वैकुण्ठ में आया हुआ हूँ इस रूप स्मृति से प्रेम की हानि होती थी, इसलिए मैं तृप्त न हो पाया था। मैंने ध्यान में मदनगोपालदेव का जो रूप करुणा विशेष और उनके द्वारा आलिंगन चुम्बन आदि प्राप्त किया था, श्रीवैकुण्ठ पति के पास वह प्राप्त नहीं हुआ इसलिए मन व्यथित होता था।

किसी समय श्रीहरि अपने अन्तरंग सेवक गरुड़ आदि के साथ किसी निर्जन स्थान पर चले जाते, तब प्रभु के अदर्शन से समस्त वैकुण्ठवासी शोक में डूब जाते। वैकुण्ठवासीगण को यह प्रश्न करने पर कि ‘प्रभु कहाँ चले गये हैं’ वे परम रहस्य के साथ इस तत्त्व को गोपनीय बनाये रखते। फिर उसी क्षणप्रभु के प्रकट होते ही चन्द्र के उदय से सिन्धु के समान वैकुण्ठ हर्षोत्फुल्ल और शोक रहित हो जाता। मैं हर्ष-विषाद की तरंगों में आन्दोलित होता हुआ

विषाद के समय में 'वैकुण्ठ से अधिक प्राप्त करने योग्य कोई स्थान नहीं है' कहकर उद्विग्न मन को सान्त्वना देता। इस प्रकार वहाँ रहते हुए एकबार निर्जन में श्रीनारद के साथ साक्षात्कार हुआ। दयालु शिरोमणि श्रीनारद ने हाथ द्वारा मेरा मस्तक स्पर्श कर आशीर्वाद पूर्वक कहा— "हे गोपकुमार! तुम्हारे म्लान मुख को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि तुम किसी कारण से शोकातुर हो। यहाँ तो शोक-दुःख का अवकाश ही नहीं है, आज तक मैंने किसी को भी दुःख अनुभव करते नहीं देखा है। अतएव इस आनन्दमय धाम में तुम अपने शोक का कारण स्पष्ट करके मुझ से कहो इस विषय में मुझे परम कौतूहल हो रहा है।" श्रीनारद की बात सुनकर मैंने गुरुतुल्य नारद को उसी समय अपने हृदयस्थ सारा वृत्तान्त बतलाया। उन्होंने मेरी बात को सुनकर कुछ निःश्वास छोड़ते हुए चारों ओर एकबार दृष्टि फैलाकर देखा एवं मुझे अपने निकट खींचकर सकरुण भाव से क्रमपूर्वक बोले— हे गोपकुमार! वैकुण्ठ से अधिक श्रेष्ठतर प्राप्यस्थान अन्य कोई भी नहीं है, तुम्हारी यह धारणा सन्देह से परे है किन्तु इष्टदेव के आलिंगन चुम्बन आदि जो तुमने ध्यानयोग से प्राप्त किये थे, वह इस स्थान पर जो तुम अनुभव करने की इच्छा कर रहे हो इस सम्बन्ध में कुछ कहता हूँ— इस प्रकार का लीला विनोद प्रभु को भी अत्यन्त सुखप्रद एवं मनोहारी है और यह विशेष प्रीति के द्वारा ही लभ्य है लेकिन यह परमरहस्यमय है, मेरे जैसे ऋषिगण को भी दुर्लभ है, यह मात्र ब्रजवासिगण के प्रेम के बल से ही प्राप्त होता है। इस प्रकार का लीला विनोद चौदह भुवन आदि प्रपंच लोकों और वैकुण्ठ आदि अप्रपञ्चलोक के ऊपर विराजमान किसी एवं निर्जनस्थान पर अपने भक्तगण के लिए लोभनीय होकर प्रकाश पा रहा है। तुम जगदीश बुद्धि से भजन कर वैकुण्ठ में उपस्थित हुए हो इसलिए इस स्थान पर वह लीलाविनोद सुख किस प्रकार लाभ करोगे? यह वैकुण्ठलोक श्रीभगवान् के परम ऐश्वर्य प्रकाश का स्थान है, इस स्थान पर महागोप्य माधुर्यमय लीला किस प्रकार प्रकट होगी? तुम शोक को त्यागकर श्रीवैकुण्ठनाथ को ही अपना इष्टदेव जानकर भजन करो, भेदज्ञान मत करना, उनकी कृपा से तुम अपना मनोरथ प्राप्त करोगे।

हे ब्रह्मन्! इसके बाद मेरे मन में श्रीनारद के मुख से वैष्णव-सिद्धान्त समूह सुनने की इच्छा जागते ही वे सर्वज्ञ मुनिवर मेरे मनोभाव अवगत होकर बोले— हे गोपकुमार! इस वैकुण्ठ के पशु-पक्षी, वृक्ष, लता, तृण आदि सब

चिन्मय श्रीकृष्णपार्षद हैं, यहाँ जड़ीय सृष्टि कृच्छ भी नहीं है। भक्तगण श्रीवैकुण्ठनाथ के जिस वर्ण, आकृति, रूप इत्यादि की अभिलाषा करके भजन करते हैं, तदनुसार ही उनका सारूप्य प्राप्त करते हैं। साधक साधनकाल में जिस प्रकार के भजन योग्य आकार और वेश से सुशोभित हो सेवा की भावना करते हैं— सिद्धिकाल में श्रीवैकुण्ठ में उसी वेश और उसी आकार से (अन्तश्चिन्तित सिद्ध देह से) अपने भजनानुरूप रस का आस्वादन करते हैं। इस वैकुण्ठ में मत्स्य, वराह, नृसिंह, वामनादि अनन्त भगवत् स्वरूपों के अनन्त प्रकोष्ठ या प्रदेश विशेष हैं— उपासकगण अपने भावानुरूप अभीष्ट के प्रकोष्ठ में सेवारस का आस्वादन लाभ करते हैं जो किसी एक भगवत्स्वरूप में प्रीति या निष्ठा नहीं करते हैं, वे विशेषग्राही न होने के कारण किसी भी भगवत्स्वरूप के सेवक हो जाते हैं। मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन आदि जो भी अवतार हैं उनके परस्पर नाम और चेष्टा आदि भी भिन्न-भिन्न होने के कारण वे भिन्न हैं, किन्तु सभी सच्चिदानन्द स्वरूप एवं नानात्वविशिष्ट होकर भी सभी एकरूप हैं। (इस स्थल का तात्पर्य यह है कि एक ही अखण्ड अद्वय परतत्त्व श्रीभगवान् भक्त की उपासना के अनुरूप भिन्न भिन्न रूपों में प्रतीत होते हैं। पंचरात्र में वैदूर्यमणि के दृष्टान्त से इस विषय को समझाने की चेष्टा की गई है। “मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युतः। रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदान्तथाच्युतः॥” अर्थात् वैदूर्यमणि जिस प्रकार स्थान और दूरी के भेद से नीले-पीले आदि विभिन्न रंगों की दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार का अखण्ड अद्वय तत्त्व श्रीकृष्ण भी ध्यान भेद से विभिन्न रूपों में प्राप्त होते हैं। “एकइ ईश्वर भक्तेर ध्यान अनुरूप। एकइ विग्रहे धरे नानाकार रूप॥” (चै. च.) विभिन्न रसवैचित्री के मूर्तिविग्रह, नारायण, राम, नृसिंह आदि रूप उसी प्रकार के उपासक के गोचरीभूत होते हैं, एवं सेवा आदि दान करके भक्त को धन्य करते रहते हैं। “त्वं भक्तियोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्। यद्यद्विद्या त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥” (भा. — 3/9/11)। श्रीब्रह्मा ने श्रीभगवान् के स्तव के प्रसंग में कहा— “हे प्रभो! भगवत् प्रतिपादक एवं वेदानुमोदित शस्त्र में तुम्हारी प्राप्ति के रास्ते निर्दिष्ट हैं। तुम भक्तियोग द्वारा परिभावित भक्त के निर्मल हृत्सरोज पर मधुकर रूप में अवस्थान करते हो। हे उरुगाय! वेद तुम्हारे श्रीविग्रह का नित्यत्व एवं स्वरूपाभिन्नत्व और बहुत्व प्रतिपादन करता है,

किन्तु भक्तगण तुम्हारी जिस-जिस मूर्ति की अपने अन्तर में भावना करते हैं, उसी-उसी मूर्ति से कृपा करके तुम उनके निकट आविर्भूत होते हो।” वेद और वेदानुमोदित शास्त्र में तुम्हारी प्राप्ति का मार्ग निर्दिष्ट है, इस बात से भक्तगण की उपासना जो अवैदिक नहीं है, अर्थात् श्रीभगवान् को मनमौजी किसी रूप से यह उनकी उपासना नहीं करते हैं, यह निश्चित हुआ। वेद शास्त्रों में श्रीभगवान् के नित्यसिद्ध सच्चिदानन्दमय मत्स्य, कूर्म आदि जिन समस्त रूपों की बात वर्णित है, उन उन स्वरूपों में भक्त रुचि, संस्कार एवं उसी प्रकार के महत्संग के भेद से जिस रूप की उपासना करते हैं श्रीभगवान् भी उस स्वरूप में ही उनके सामने प्रकट होते हैं। अनन्त रसवैचित्री का पूर्ण संकलन उनका जो अद्वय-ज्ञान तत्त्वरूप वही द्विभुज मुरलीधर विग्रह, वही स्वयं भगवान्, यही क्रमशः व्यक्त होगा।)

यद्यपि श्रीकृष्ण ही विचित्र स्थानों पर नाना रूपों में दृश्य मान होकर रहते हैं, फिर भी उनका एकत्व स्वतः सिद्ध है। उनके पार्षदगण एवं उनके प्राप्ति स्थान वैकुण्ठादि के साथ-साथ एकत्व अनेकत्व सुसंगत होता है। इसलिए भगवान् के किसी एक स्वरूप के प्रसन्न होने से उनके समस्त स्वरूप प्रसन्न हो जाते हैं। इस विषय में विद्वानों के अनुभव रूप प्रमाण भी पाये जाते हैं। श्रीब्रह्मा को श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्ण के गोवत्स-हरण के समय इस तत्त्व का अनुभव प्राप्त हुआ था। एक ही श्रीकृष्ण ने वत्स और बालकगण की मूर्ति धारण कर गोपीगण और गायों का आनन्द वर्द्धन किया था। ब्रह्माजी ने एक वर्ष बाद में फिर उन्हीं मूर्तियों का चतुर्भुज नारायण रूप में दर्शन किया था। यदि कोई मन में विचारे कि मूलरूप ही सत्य है और दूसरे रूप माया-विलसित है, इस सन्देह के निराकरण के लिए ही श्रीभागवत में वर्णन है कि — “सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैक रसमूर्त्तयः। अस्पृष्टभूरिमहात्म्या अपिह्युपनिषद्दृशाम् ॥” अर्थात् “वह समस्त मूर्ति सत्यज्ञानानन्दस्वरूप देशकाल परिच्छेदादि रहित (अनन्त) आनन्द की मूर्ति है। आत्मतत्त्व को जानने वाले मुनिगण इन समस्त मूर्तियों के माहात्म्य का भूरि-भूरि वर्णन करते हैं।” यद्यपि इस भेद और अभेद की प्रतिपादनकारिणी श्रीभगवान् की परमेश्वरी अद्भुतशक्ति तर्क के अगोचर हैं तथापि उनके एकान्त भक्तगण इस शक्ति के रहस्य का अनुभव करते हैं। द्वारका में श्रीरुक्मिणी आदि सहस्र-सहस्र महिषी सभी श्रीकृष्ण को पृथक्-पृथक् खाद्य प्रदान करने पर भी वे एक ही

स्वरूप में एक ही समय में खाद्य उपभोग करते हैं, किन्तु प्रेयसीगण सभी मन में भावना करती हैं कि प्रभु सर्वप्रथम मेरे प्रदत्त खाद्य का ही भोजन करते हैं। प्रेयसीगण प्रत्येक ही पृथक्-पृथक् यह दर्शन करती हैं, इससे भी विभिन्न स्थानों पर दृश्यमान श्रीकृष्ण का एकत्व सिद्ध होता है। किसी समय किसी योग्यतम जीव में उनकी विशेष शक्ति का प्रवेश होता है इस कारण उस अवतार को आवेशावतार कहा जाता है। पण्डितगण आवेशावतार को भी सत्य एवं भगवत् सदृश मानते हैं।

हे ब्रह्मन्! श्रीनारद इस रूप में भगवदवतार-तत्त्व का निरूपण कर श्रीभगवान् की प्रियतमा महालक्ष्मी के तत्त्व का निरूपण करते हुए बोले— हे गोपकुमार! श्रीभगवान् जिस प्रकार शक्ति की अभिव्यक्ति के अनुसार विभिन्न अवतार रूपों में परिगणित होते हैं उनकी नित्यप्रिया सच्चिदानन्दघन विग्रहा महालक्ष्मीदेवी भी अवतार भेद के नाना रूपों में प्रकट होती हैं। (श्रीविष्णुपुराण में देखा जाता है—“ नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरणपायिनी । यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवैयं द्विजोत्तमः ॥” अर्थात् हे द्विजोत्तम! श्रीभगवान् के समान उनकी नित्यप्रिया जगन्माता बहुमूर्ति में विराजती हैं। वहाँ और भी लिखा है— “दैवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी । विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषात्मनस्तनुम् ॥” श्रीविष्णु जब देवदेह प्रकाश करते हैं तब महालक्ष्मी देवोरूपा और श्रीविष्णु जब मनुष्यरूप से लीला करते हैं— वे भी तब मानुषी रूप से उनके संग विहार करती हैं।) वे महालक्ष्मी सर्वदा सेवा तत्परा होकर भगवान् के वक्षःस्थल में निवास करती हैं एवं उनके सभी अवतार भी भगतसेवा परायणा होकर स्वर्गादि स्थित श्रीविष्णु इत्यादि की प्रियारूप में उनके समीप में सर्वदा वास करती हैं। यदि कहो, तब जो मुक्त और मुमुक्षुगण ऐश्वर्य की अधिष्ठात्रीदेवी लक्ष्मी के प्रति उपेक्षा करते हैं, ऐसा शास्त्र और महाजनवाणी से जाना जाता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि सर्वसम्पत्ति की अधिष्ठात्री श्रीलक्ष्मीगण के मध्य में लोकपालादि की विभूति की अधिष्ठात्री एवं अणिमादि की सिद्धिदात्री उस ऐश्वर्यप्रदा देवी को ही मुमुक्षु, मुक्त और भक्तगण परित्याग करते हैं। (तात्पर्य यह है कि भगवद्वहिर्मुख देवासुर आदि के पास जो सम्पत्ति देखी जाती है वह स्वकर्मफल जनित स्वर्गलक्ष्मी के प्रसाद से प्राप्त होती है। श्रीभगवान् की स्वरूपभूता लक्ष्मी प्रदत्त सम्पत्ति निर्दोष और भक्तिवर्धक होती है, ऐसा जानना चाहिए। स्वरूपभूता महालक्ष्मी

द्वारा प्रदत्त सम्पत्ति से भगवद्बहिर्मुखता-दोष कभी नहीं हो सकता है, इसीलिए मुक्ति और भक्तिकामी व्यक्तिगण जिस सम्पदाधिष्ठात्री देवी की उपेक्षा करते हैं, वे वैकुण्ठेश्वरी अथवा उनकी कोई स्वरूपभूता अवतार रुपिणी नहीं है।) फिर जो लक्ष्मी परम चंचला कही जाती है, उससे नवीन भक्तगण भी श्रीभगवान् के अधिकतर प्रिय हैं। किन्तु वह चञ्चला लक्ष्मी भी महालक्ष्मी की अवतार होने के कारण भगवान् द्वारा सादर स्वीकार्य है।

समुद्र मंथन के समय श्रीभगवान् ने उन्हें वक्ष पर धारण किया था, ऐसा सुना जाता है। अतएव भगवत्-प्रियतमा महालक्ष्मी भक्तगणों द्वारा सर्वदा ही आराधिता होती है, वे कभी भी उपेक्षणीया नहीं हो सकती हैं। इस प्रकार महालक्ष्मी जैसे भगवत्प्रिया, धरणीदेवी को भी उसी प्रकार भगवत्प्रिया समझना चाहिए। भगवत्शक्ति किसी स्थान पर 'महाविभूति' शब्द से और कहीं पर 'योगमाया' शब्द से पुकारी जाती हैं। (भगवत्तत्त्व प्रकाशिका भगवत्-प्रापिका चिदंशप्रधाना अघटन-घटना-पटीयसी शक्ति को 'योगमाया' कहा जाता है। यही वृन्दावनलीला की मुख्य सहायकारिणी होकर गोपीगण के परकीय रस की पुष्टि के लिये पतिन्मन्य गोपगण को गोपीगण के अनुरूप छायामूर्ति दिखाकर वंचित करती है एवं मूलकृष्ण कान्तागण को पति, श्वशुर इत्यादि की बाधा हटाकर रसादि लीला में श्रीकृष्ण के साथ उनका मिलन सम्पादन करती हैं। वे ही वृन्दावन की माधुर्यलीला की विशेष रसपुष्टि के लिए लीलाराज्य में स्वयं पौर्णमासीरूप में विराजमाना है। इस योगमाया शक्ति का अंश ही ह्लादिनी शक्ति की अधिकता से 'लीलाशक्ति' नाम धारण करता है।) यह योगमाया शक्ति निविड़ सच्चिदानन्द विलास-वैभव स्वरूपा, नित्या, अनादि, अनन्ता होने के कारण अनिर्वचनीया है, इस शक्ति के प्रभाव से ही भक्तगण की श्रवण कीर्तनादि रूपा भक्ति का भगवत् लोकों का और भगवत् आचरित कार्य समूह की विशेष विशेष वैचित्री सम्पादित होती है। यद्यपि उस शक्ति का प्रभाव, कर्म और चेष्टा आदि अनिर्वचनीय है, तथापि भगवान् के शुद्ध भक्तगण उससे अवगत हो सकते हैं।

श्रीभगवान् की महाशक्ति 'परा और अपरा' भेद से दो प्रकार की है। पराशक्ति वाक्य एवं मन के अगोचर भगवान् की स्वरूपभूता और अपराशक्ति त्रिगुणात्मिका 'माया' कहकर पुकारी जाती है, वह पराशक्ति की ही छया स्वरूपा है यह जड़रूपा माया ही मिथ्या प्रपञ्च की जननी और मिथ्या भ्रान्ति

तमोमयी है। अनादिकाल से ही जीव के संसार-कारिणी रूप में विद्यमाना होते हुए भी जीव को स्वरूप ज्ञान होने से अथवा जीव चित्-शक्ति की सहायता प्राप्त करते ही उसका कार्य नष्ट हो जाता है यह माया मूर्तिमती होकर पृथ्वी के अष्टम आवरण की अधिष्ठात्री रूप में विराजिता है, यह प्रकृति शब्द से भी जानी जाती है। इस माया के अतिक्रमण से ही मुक्ति और भक्ति सिद्ध हो जाती है। इस भ्रान्ति विलासमयी माया के द्वारा ही इन्द्रजाल के समान यह समस्त विश्व के कार्या सत्यरूप में प्रतीत होते हैं। (इस जगत् में मरीचिका कही जानी वाली एक सत्य वस्तु है, जिसे देखकर मिथ्या जल का भ्रम होता है। अतएव सत्य वस्तु का अस्तित्व न होने से कभी भी मिथ्या को सत्य कहने का भ्रम नहीं होता है उसी प्रकार सत्यरूप परमेश्वर का अधिष्ठान या अस्तित्व होने के कारण प्रपञ्च भी सत्य प्रतीत होता है। श्रीभगवान् में अधिष्ठित होने के कारण जगत् मिथ्या नहीं, नश्वर मात्र है, देहादि में अभिमानी जीव प्रपञ्च में जो 'मैं' और 'मेरी' की बुद्धि (भावना) करता है वही मिथ्या है। जगत् को जो आकाश कुसुम के समान मिथ्या मानते हैं, वे मायावादी हैं) श्रीकृष्ण की पराशक्ति का सब कार्य स्थिर एवं नित्य सत्य जानना चाहिए।

हे ब्रह्मन्! श्रीनारद इस प्रकार के प्रासंगिक विषय समापन करके "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" इस श्रीमद्भागवत प्रमाण द्वारा प्रतिपाद्य विषय समस्त अवतारों की अपेक्षा श्रीकृष्ण का माहात्म्य विशेष प्रतिपादन करते हुए बोले— हे गोपकुमार! स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण मूलावतारी हैं। यद्यपि सकल अवतार श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं, फिर भी श्रीकृष्ण निखिल अवतार के समष्टि स्वरूप है, इसका यह है कि वे ही सभी अवतारों के मूल बीज है। वैकुण्ठनाथ श्रीनारायण से भी विशिष्ट और विस्तीर्ण मधुर मनोज्ञ और चित्ताकर्षक माहात्म्यवर्ग द्वारा सर्वोपरि श्रीकृष्ण जययुक्त हो रहे हैं। परन्तु शुद्ध प्रेम भक्ति द्वारा आर्द्र एवं स्निग्ध हृदय माहात्मागण ही उस माहात्म्यराशि का अनुभव कर पाते हैं। (अखण्ड अद्वय परतत्त्व श्रीभगवान् की शक्ति की अभिव्यक्ति के अनुसार प्रकाश का, लीलाका और महत्व की पराकाष्ठा है, इसीलिए वे मूल भगवान् या मूल परतत्त्व है। श्रीधर स्वामी लिखते हैं— "आविष्कृत सर्वशक्तित्वात् कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" श्रीकृष्ण में समस्त प्रकार की महाशक्ति का परमतम प्रकाश है। इसलिए वे स्वयं भगवान् हैं। श्रीमद् जीवगोस्वामिपाद कहते हैं "अनेन तस्य मूलावतारित्वं सिद्धति" अर्थात् स्वयं

भगवान् इस शब्द द्वारा ही उनका मूल अवतारित्व सिद्ध होता है। यदि कहें कि— श्रीनारायण ही अवतारी है, और समस्त भगवत् स्वरूप अवतार हैं, क्योंकि श्रीनारायण ही 'पूर्णसिद्ध परतत्त्व हैं और सब परसिद्ध हैं, अतएव श्रीनारायण की अपेक्षा श्रीकृष्ण का महत्व किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में महाजन कहते हैं— “सिद्धान्तस्त्वभेदेऽपि श्रीश-कृष्णस्वरूपयोः। रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषारसस्थिति ॥” (भ. र. सि)। “परव्योमाधिपति महानारायण और श्रीकृष्ण में तत्त्वरूप से ऐक्य होते हुए भी श्रीकृष्णरूप सर्वोत्कृष्ट प्रेममयरस से उत्कर्ष प्राप्ति करता है। रस का (आस्वादन विशेष का) यही स्वभाव है। ?” अर्थात् स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण में सर्वचिन्ताकर्षक महामाधुर्यमय इस प्रकार कुछ गुण हैं, जो श्रीनारायण आदि अन्य किसी भगवत्-स्वरूप में दिखाई नहीं देते हैं। गोस्वामिपादगण उन्हीं गुणसमूह को उनका माधुर्य कहकर कीर्तन करते हैं। “लीला प्रेम्णा प्रियाधिक्यं माधुर्ये वेणुरूपयोः। इत्यसाधारणं प्रोक्तं गोविन्दस्य चतुष्टयम् ॥” लीलामाधुरी, प्रेममाधुरी, वेणुमाधुरी और रूपमाधुरीयह चार माधुरी श्रीकृष्ण के अनन्य साधारण गुण हैं, यह महानारायण में नहीं है, इन गुणों से ही वे सर्वातिशायी हैं, यह माधुर्य समूह विशुद्ध प्रेम की सहायता से ही अनुभव किये जाते हैं। इस प्रकार विशुद्ध प्रेम एकमात्र वृन्दावन में ही सम्भव है, इसीलिए ब्रजवासिगण का सान्निध्य से ही इस माधुर्य समूह का समधिक प्रकाश सम्भव होता है श्रीमद् जीवगोस्वामिपाद लिखते हैं—“ तत्रापि रसविशेषविशिष्ट परिकरवैशिष्ट्येनाविर्भाववैशिष्ट्यं दृश्यते, अतएवादिरसविशेष-विशिष्टसम्बन्धेन नितराम् ॥” अर्थात् रसविशेष विशिष्ट परिकर वैशिष्ट्य से श्रीभगवान् का आविर्भाव वैशिष्ट्य देखा जाता है। ब्रजवासिगण में सर्वोपरि मधुररसवती ब्रजवालागण में प्रेमरस का सर्वाधिक विकास है, इसीलिए ब्रज के मधुर रस से आलम्बन किशोर कृष्ण में उक्त चारों माधुरी का चरमतम विकास देखा जाता है। पूर्ण उद्धृत “सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि.....” श्लोक की व्याख्या में श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्तीपाद ने लिखा है— “तथा च नानाविधप्रेमरसस्य महाभावरूपरसे उत्कर्षस्य परमकाष्ठा तादृशरसस्यालम्बनः केवलः ब्रजेन्द्रनन्दनः श्रीकृष्ण एव, न त्ववतारान्तरो महानारायणो वा। अतएव महानारायणस्य वक्षःस्थलस्थितापि लक्ष्मीः तादृश रसोत्कर्षविशिष्टस्य प्राप्त्यर्थं तपश्चकार।” अर्थात् विविध

प्रेमरस में महाभावरूप रस ही उत्कर्ष की पराकाष्ठा प्राप्त है, इस रस का आलम्बन केवल ब्रजेन्द्रनन्दन ही है, अन्य कोई अवतार अथवा महानारायण भी नहीं है। अतएव महा नारायण के वक्षःस्थिता महालक्ष्मी भी इस प्रकार के रसोत्कर्ष विशेष की प्रीति के लोभ में तपस्या करती हैं— यह श्रीमद्भागवत में नागपत्नी स्तव में “कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे” इत्यादि श्लोक में देखा जाता है।

“जे माधुरीर ऊर्ध्व आन, नाहि जार समान,
परव्योमे स्वरूपेण गणे ।
जिहों सर्व अवतारी, परव्योमे अधिकारी,
ए माधुर्य नाहि नारायणे ॥
तार साक्षी सेइ रमा, नारायणेर प्रियतमा,
पत्रितागणेर उपास्या ।
तेंहो ये माधुर्य लोभे, छाँड़ि सब काम भोगे,
व्रत करि करिल तपस्या ॥” (चै. च.)

श्रीकृष्ण के जितने अवतार हैं, उन समस्त अवतारों के सेवकगण अपने-अपने प्रिय स्वरूप की सेवा और अपने रसानुरूप परम महत् सुखलाभ करते हैं। श्रीभगवान् उनकी उपासना के अनुसार ही फलदान करते रहते हैं, इसलिए साध्यफल से किसी के चित्त में असन्तोष नहीं होता है। भिन्न-भिन्न उपासना के अनुसार भिन्न-भिन्न फलदान करने पर भी या फलगत विभिन्नता होने पर भी रुचि के अनुसार सभी सेवारस की पराकाष्ठा का आस्वादन करते हैं। (“भिन्न रुचिर्हि लोकाः” “अनेक लोकेर वाञ्छा अनेक प्रकार” चै. च.)। तभी तो भक्तगण रुचि के अनुरूप अपने रस के आस्वादनको ही मन में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

“निज निज भाव सबे श्रेष्ठ करि माने ।

निज भावे करे कृष्ण-रस आस्वादने ॥(ऐ)

तटस्थ होकर विचार करने से भिन्न-भिन्न रसगत आस्वादन में पार्थक्य होते हुए भी रुचि के अनुरूप अपने रस के आस्वादन को ही सभी श्रेष्ठ मानते हैं, अतएव सभी उपासकगण को परम महत् सुख प्राप्त होता है।)

हे गोपकुमार! वैकुण्ठवासीगण के बीच में कोई-कोई नित्यपार्षद, कोई साधनसिद्ध पार्षद, अर्थात् साधना से सिद्धिलाभ कर वैकुण्ठ में आये हैं।

इनमें भजनानन्द की समानता होते हुए भी किसी-किसी अंश में भेद रहता है। जिस प्रकार श्रीभगवान् की बाह्य सेवा के लिए कोई दूर पर अवस्थान करता है, इस प्रकार निकट और दूरगत सेवा का भेद कल्पित हुआ। सच्चिदानन्द-स्वरूप कहे जाने से श्रीभगवान् के साथ नित्य पार्षदगण का साम्य होते हुए भी श्रीभगवान् के चरणारविन्द भजनरूपा अनिर्वचनीय आकर्षणीय विद्या सेवकगण को नित्य वैचित्रीमय माधुर्यसिन्धु श्रीकृष्ण पदकमल के दासत्वरूप में सर्वदा ही परिणमित करती है।

श्रीगोपकुमार ने कहा— हे विप्र! मैंने फिर श्रीनारद से प्रश्न किया— हे भगवन्! धरातल पर श्रीभगवान् की जो समस्त प्रतिमा विराज कर रही हैं, वे समस्त प्रतिमा ही क्या नीलाचलपति श्रीपुरुषोत्तम के समान सच्चिदानन्दधन स्वरूप हैं? उन्होंने उत्तर दिया— समस्त विग्रह ही सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, एक ही भगवान् समस्त भक्तों के प्रति कृपा-प्रकाश करके उन-उन स्थानों पर पृथक्-पृथक् रूप में लीला के वश होकर विराजते हैं। अतएव सब प्रकार के धर्म-कर्मादि के साधन से निरपेक्ष हो उसी-उसी प्रतिमा के अर्चन से महाफल लाभ ही होता है। श्रीनारद की बात सुनकर मैंने फिर प्रश्न किया— हे भगवन्! तब श्रीमद्भागवतादि शास्त्र में प्रतिमा सेवा के दोष की बात क्यों सुनी जाती है? और यह सब बातें अप्रमाण भी नहीं लगती हैं, कारण यह सब ऋषिवाणी है? (श्रीमद्भागवत में देखा जाता है—“अर्चयामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते। न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥” (भा. 11/2/41) अर्थात् जो श्रद्धा के साथ प्रतिमा में हरिपूजा करते हैं, किन्तु उनके भक्तगण की या अन्य किसी की पूजा नहीं करते हैं, वे प्राकृत भक्त हैं। श्रीकपिलदेव भी कहते हैं—“यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्। हित्वाच्चां भजते मोढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥” अर्थात् मैं समस्त भूतों में विद्यमान समस्त प्राणियों की आत्मा और ईश्वर हूँ, जो व्यक्ति मूढ़तावश इस प्रकार से मुझ को त्यागकर केवल प्रतिमा की अर्चना करता है उसकी वह अर्चना भस्म में घृत की आहुति देने के समान निष्फल हो जाती है। (भा. 3/29/22)। फिर “प्रतिमा मन्दबुद्धिनाम्” अर्थात् मन्दबुद्धिजन के लिए है, यह सब बात भी देखी जाती है, यह सभी ऋषिवाणी है, इसलिए अप्रामाण्य नहीं हो सकती।) यह बात सुनकर भगवत् पूजादि मार्ग के आदि गुरु श्रीनारद ने गात्रोत्थान कर परमानन्द पूर्वक मुझे आलिंगन किया और बोले— हे गोपकुमार! साक्षात् भगवत्-सदृश जिस

प्रतिमा की बात मैंने कही है उसके माहात्म्य की बात तो दूर रहने दो, जो स्वधर्मादि की अपेक्षा त्यागकर साक्षात् भगवद्बुद्धि से प्राचीन या आधुनिक प्रकटित अथवा स्वनिर्मित प्रतिमा की अर्चना करते हैं, उनके वर्णाश्रम आदि त्यागजनित दोष तो हो ही नहीं सकते, वरन् वे महागुण ही सञ्चय करते रहते हैं। इस कारण भगवत्सेवा ही उत्तमभक्ति है और यह सेवा ही परम फल है। श्रीभगवान् के अर्चा-विग्रह की पूजा महिमा की कथा तो दूर रहने दो, यदि कोई एक तृण को भी भगवद् दृष्टि से सम्मान करें, तो उसका भी सर्व अभीष्ट सिद्ध होता है, क्योंकि विश्व चराचर ही श्रीभगवान् की शक्ति और सब ही श्रीभगवान् की विभूति हैं, इस बुद्धि से भगवद् दृष्टि से एक तृण को भी जल सिंचन प्रणाम आदि द्वारा परिचर्या करने से सिद्धिलाभ होता है। किन्तु जो व्यक्ति श्रीहरि की प्रतिमा को साक्षात् भगवद्बुद्धि ना करके श्रीहरि का अधिष्ठानमात्र मानता है एवं शैली दारुमयी या धातुमयी बुद्धि करता है, उनके लिए ही शास्त्र में इस प्रकार की आक्षेपवाणी सुनी जाती है। वे ही श्रीहरिभक्ति की ओर स्वभूतों की अवमानना करते हैं एवं पूजा गर्व से प्रभु की वेदरूपी आज्ञा का भी लंघन करते हैं। वे ही सभी भक्तों में निकृष्ट और मन्दबुद्धि हैं— अतएव शास्त्र कथित पूजाफल प्राप्त नहीं होता है, शास्त्र में उन समस्त व्यक्तियों की निन्दा सुनी जाती है। यद्यपि वह अर्चनफल अशेष सत्कर्म से श्रेष्ठ है, तथापि यह फल भगवद् भक्ति के अनुकूल नहीं है, अर्थात् जो प्रेमसम्पत्ति ही भगवत्पूजा का मुख्यफल है, इस प्रकार की अर्चना में वह पाया नहीं जाता है। इसलिए एकान्त भक्तगण इस प्रकार अर्चना की निन्दा करते हैं, किन्तु समस्त प्रतिमा पूजक के लिए यह निन्दापर वाक्य नहीं है। (श्रीभगवान् स्वयं भक्त की प्रेम सेवा ग्रहण कर उसको धन्यकरने के लिए श्रीविग्रहरूप से मौनमुद्रा धारण कर मन्दिर-मन्दिर में विराजमान हैं। प्रतिमारूप में साक्षात् श्रीभगवान् ही विराजमान हैं, इस रहस्य का उद्घाटन करने के लिए 'प्रतिमा' के स्थान पर 'श्रीमूर्ति' शब्द का व्यवहार किया गया है।

“शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकता ।

मनोमयी, मणिमयी श्रीमूर्तिरष्टधा स्मृता ॥”

(पद्मपुराण) ।

श्रीभगवद् विग्रह सभी उनसे (श्रीभगवान् से) अभिन्न तत्त्व न होने से 'मूर्ति' शब्द प्रयुक्त नहीं होता। 'मूर्ति' के साथ 'श्री' शब्द के योग के कारण

सभी भगवद्विग्रह जो श्रीभगवान् के समान ही अचिन्त्य अनन्तशक्ति सम्पन्न वह भी प्रकाशित होता है।

“साक्षाद् ब्रजेन्द्रमुत इथे नाहि आन ।
जेवा अज्ञ करे तारै प्रतिमा हेन ज्ञान ॥
सेइ अपराधे तार नाहिक निस्तार ।
घोर नरकेते पड़े कि वलित आर ॥”

(चै. च. आदि 5 म परि.)

“अर्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धिविष्णोर्वा वैष्णवानां कलिमलकथने पादतीर्थेऽम्बुबुद्धिः। श्रीविष्णोर्नाम्नि मन्त्रे सकलकलुषहे शब्दसामान्यबुद्धि विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितरसमर्थिर्यस्य वा नारकी सः॥” अर्थात् ‘जो व्यक्ति अर्चनीय विष्णु प्रतिमा में शिलाबुद्धि, गुरु में मनुष्यबुद्धि वैष्णव में जातिबुद्धि (ब्राह्मण, शूद्र इत्यादि) विष्णु और वैष्णव के चरणोदक में सामान्य जलबुद्धि, निखिल पापनाशक श्रीविष्णु के नाम में सामान्य शब्दबुद्धि, सर्वेश्वर श्रीविष्णु को देवताओं के साथ समबुद्धि करता है— यह व्यक्ति नारकी है।’ (पद्यावली) श्रीमद् जीवगोस्वामिपाद ने भक्ति-सन्दर्भ में लिखा है—“अथ श्रीमत्प्रतिमायान्तु तदाकारैकरूपतयैव चिन्तयन्ति आकारैक्यात्। ‘शिलाबुद्धिः कृता किंवा प्रतिमायां हरेर्माया’ इति भावान्तरे दोषश्रवणाच्च। परमोपासकाश्च साक्षात् परमेश्वरत्वेनैव पश्यन्ति; भेदस्फूर्तेर्भक्तिविच्छेदकत्वात्।” अर्थात् “श्रीप्रतिमा को साक्षात् अभीष्टदेव के रूप में ही भावना करना उचित है क्योंकि उसमें आकारगत ऐक्य रहता है। महाराज दशरथ के मृगया के लिए जाने पर मृग के भ्रम से जल ले रहे श्रवणकुमार का वध करने पर उनके पिता ने विलाप करते-करते कहा था—‘मैंने क्या श्रीहरि की प्रतिमा में शिलाबुद्धि की थी, जिसके फलस्वरूप मेरी यह दुर्दशा (पुत्र वियोग) हुई है।’ इत्यादि वाक्यों से शिलाबुद्धि में दोष सुना जाता है। परमोपासकगण प्रतिमा को साक्षात् परमेश्वररूप में ही दर्शन करते हैं, भेदस्फूर्ति भक्तिविच्छेदक कहकर इस प्रकार ऐक्य दर्शन ही सुसंगत होता है।” श्रीभगवान् परम उपासकगण के पास विग्रहरूप में ही साक्षात् भोजन, भाषण, गमन आदि करते हैं, शास्त्र और महाजन वाक्यों में इस प्रकार के दृष्टान्तों का अभाव नहीं है। श्रीपादगोपालभट्ट गोस्वामी के प्रति कृपा करके शालग्राम से साक्षात् “श्रीराधारमण रूप में प्रकटित हुए हैं, यह सर्वजन

विदित कथा है। इसलिए निन्दा पर वाक्य समूह प्रतिमा में शिलाबुद्धिकारी अधम पूजक के लिए ही समझना चाहिए।) फिर भी वे निकृष्ट पूजकगण यदि प्रतिमापूजा त्याग न करके निरन्तर पूजा करे, तो उस पूजानिष्ठा द्वारा ही उनका चित्त शोधित होता है। गुणग्राही श्रीकृष्ण भक्त की कृपा और संग के प्रभाव से इस प्रकार के प्रतिमा-पूजक के थोड़े ही समय में दोष समूह क्षीण हो जाते हैं और वे भी यथा समय उत्तम भक्त कहकर गिने जाते हैं। (“क्रमे क्रमे सेइ भक्त हइवे उत्तम।” चै. च.) जिस प्रकार सकाम भक्तगण को पहले भक्तिफल प्राप्त नहीं होता है किन्तु कामानुसार तुच्छ विषय-भोगादि के बाद कालक्रम में भक्ति के प्रभाव से योग्यफल लाभ होता है। शुद्धभक्तगण भगवच्चरणारविन्द युगल को सदैव सावधानी पूर्वक ध्यान करते एवं उनके साथ क्रीड़ाआदि रूप आनन्द लाभ को ही भक्ति का मुख्यफल मानते हैं। प्रेम सम्पत्ति के द्वारा ही इस प्रकार का भगवद् ध्यान एवं सेवानन्दलाभ होता है, तभीतो प्रेम ही साधन भक्ति का परम फल है भगवत्सेवाभिनिवेश को छोड़कर अन्य वासना अन्तरसे सम्पूर्णरूप से दूरहुए बिना प्रेमलाभ नहीं किया जा सकता है एवं श्रीभगवान् भी सहज में ही वह प्रेमभक्ति प्रदान नहीं करते हैं। किन्तु मेरा मन कहता है कि श्रीभगवान् को महाप्रियतम भक्त की अधीनता से दुःख या दोष तो लेशमात्र भी नहीं है, वरन् उससे श्रीभगवान् का प्रमोदविशेष एवं भक्तवात्सल्यादि महाकीर्तिरूप गुणसमूह का ही विस्तार होता है। (अपार करुणामय भक्तवत्सल श्रीभगवान् भक्त को सतत प्रेमभक्ति प्रदान करने के इच्छा करते हुए भी लाभ, पूजा, प्रतिष्ठायुक्त सकाम भक्त को वह दे नहीं पाते हैं। श्रीमद् जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है— “यावद् फलभूते भक्तियोगे गाढासक्तिर्न जायते तावत् न ददाति।” अर्थात् जिस क्षण तक भगवत्सेवा में प्रगाढ़ आसक्ति उत्पन्न नहीं होती है एवं अन्य वासना चित्त से दूर नहीं होती हैं, उस क्षण तक वे उसे नहीं देते हैं। उस प्रकार के सकाम भक्त के प्रति श्रीभगवान् की यही कृपा है, कारण यह है कि उस अवस्था में प्रेम भक्ति प्रदान करने पर भी वह प्रेमभक्ति की मर्यादा की रक्षा नहीं कर सकेगा, उससे प्रेमभक्ति के प्रति उसका इस प्रकार का अपराध उत्पन्न होगा कि वह अपराधी चित्त शुद्धभक्ति रसास्वादन के सौभाग्य से बहुत अधिक दूर पड़ जायेगा। इसलिए कृपामय श्रीभगवान् सकाम भक्त को प्रेमभक्ति न दे पाने के लिए दुःखित चित्त से भक्त की उस प्रकार की योग्यता की प्रतीक्षा में बैठे रहते हैं।

“भगवान् मुकुन्दो मुक्तिददाति कर्हिचित् स्म नो भक्तियोगम्” इस श्रीमद्भागवत के पद्य का यही मर्मार्थ है। प्रेमभक्ति प्रदान न करने का अन्यतम कारण ग्रन्थकार स्वयं ही कहेंगे। भक्ति में श्रीभगवान् की वश्यता है, अतएव वशीभूत होने के भय से श्रीभगवान् प्रेमभक्ति प्रदान नहीं करते हैं, इस प्रकार का मतवाद श्रीभगवान् की करुणा एवं भक्तवात्सल्यादि गुणों पर कलङ्क की कालिमा का लेप कर देता है। परम प्रियजनों की वश्यता से ही आनन्द एवं वशीभूत न हो पाने से ही दुःख होता है, यह विद्वानों द्वारा अनुभव किया गया सत्य है।) विशेषतः नागरशेखर श्रीकृष्ण अपनी आत्मारामतादि समस्त गुणों का परित्याग कर सकते हैं, किन्तु प्रियजन वश्यतागुण का कभी भी परित्याग नहीं करते हैं वरन् अत्यन्त आदर के साथ उसका वरण ही करते हैं। क्योंकि इस प्रकार की प्रेष्ठजन वश्यता भगवत्ता की भी चरम सीमा है। भक्त को सहसा प्रेमसम्पत्ति दान न करने का अन्यतम कारण यह है कि प्रेमभक्ति की परिपाकदशा में भक्त के भगवद्विरह वैकल्यरूप कोई अनिर्वचनीय भाव सम्पत्ति समुद्गत होती है। तत्त्वदृष्टि से वह भावसम्पद् आनन्द-साम्राज्य के मस्तक पर सुखपूर्वक नृत्य करते हुए भी बाह्यरूप से महाआर्त्तिमय शोक-सन्ताप आदि के चिन्ह प्रकटित होते रहते हैं। जो सब बर्हिदृष्टि से भावना करने वाले व्यक्ति हैं वे इस प्रकार के भक्त के आर्त्तनाद आदि बाह्यचिन्ह समूह का दर्शन कर उसका उपहास करते हैं, इस उपहास जनित अपराध से उनकी दुर्गति की चरमसीमा की चिन्ता करके अखिल लोकहितकारी श्रीभगवान् सहज ही सभी को प्रेमभक्ति प्रदान नहीं करते हैं। कभी किसी को भी अर्थात् एकमात्र प्रेमभक्ति के स्पृहायुक्त किसी महान आश्रय पुरुष को ही श्रीभगवान् प्रेमभक्ति प्रदान करते हैं। यदि यह कहो कि उस प्रेमभक्ति का परिपाक भाव किस प्रकार का होता है, यह बताओ तो इसके उत्तर में तो यही कहूँगा कि— कि भी उस प्रेमभक्ति के परिपाकज भावविशेष के तत्त्व निरूपण में असमर्थ हैं, क्योंकि वह वाक्य मन के अगोचर हैं। यद्यपि तटस्थ लक्षण द्वारा कुछ वर्णन किया जा सकता है फिर भी अज्ञान के निकट वह भक्ति के विषय में विरोध उपस्थित करता है। अर्थात् बाह्यदुःख श्रवण करके भी प्रेमभक्ति से तत्पर न होकर वरन् दुःख निवृत्ति रूप मुक्ति के अन्वेषण में प्रवृत्त होते हैं, इसलिए भागवतजन उसे प्रकाशित करने की इच्छा नहीं करते। उस भाव का उत्कर्ष और माधुर्य उस प्रकार के रसज्ञगण ही जानते हैं। तुम भी

वहाँ के परिकर हो, इसलिए श्रीकृष्णकृपा से यह रहस्य शीघ्र ही जान सकोगे। (इसका तात्पर्य यह है कि इस जगत् में जड़ीय सुख और दुःख का भोग एक साथ नहीं होता है, क्योंकि दोनों ही परस्पर प्रतियोगी वस्तुएँ हैं। किन्तु प्रेमराज्य में इस रीति की विलक्षणता देखी जाती है वहाँ—“बहिर्विष ज्वाला हय, अन्तर आनन्दमय, कृष्णप्रेमार अद्भुत चरित्र।” शास्त्र में प्रेम और आनन्द की अभिन्नता का वर्णन है, घनीभूत आनन्द ही प्रेम है। उस प्रेम की उठी हुई कृष्ण-विरह-ज्वाला आनन्द की ही घनीभूत परिपाक विशेष है। अनुभवीजन ही इसे समझ पाते हैं—“एइ प्रेमा जार मने, तार विक्रम सेइ जाने, येन विषयामृते एकत्र मिलन।” (चै.च.) प्रेमजनित मिलनानन्द एवं विरहज्वाला दोनों का एकसाथ आस्वादन का अनुभव किस प्रकार का होता है, श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने श्रीउज्ज्वल की आनन्दचन्द्रिका-व्याख्या में दृष्टान्त द्वारा विषय को समझाने का प्रयत्न किया है। उसका मर्म इस प्रकार है कि ग्रीष्मकाल में ग्रीष्म दुःखद एवं शीतकाल में शीत भी दुःखद होता है। किन्तु ग्रीष्मकाल में शीत का अनुभव और शीतकाल में ग्रीष्म का अनुभव दोनों ही सुखद होते हैं। इस संसार के सुख-दुःख ग्रीष्म शीत के समान इकट्ठे (एकसाथ) अनुभव नहीं होते हैं, क्योंकि दोनों आपस में प्रतियोगी (विरोधी) वस्तु हैं। किन्तु प्रेमास्वादनकाल में एकसाथ मिलनजनित आनन्द एवं विरह जनित दुःख अनुभूति में कोई बाधा नहीं है इस कारण कृष्ण-विरह में एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है।)

श्रीगोपकुमार बोले— हे ब्रह्मन्! श्रीनारद के वचनों को सुनकर अपने इष्टदेव श्रीमन्मदनगोपाल के श्रीचरणकमल दर्शन के लिए मैं शोक से निमग्न हो गया, तब मुनिवर ने मुझे सान्त्वना देते हुए कहा— हे गोपकुमार! यद्यपि यह सब महागोपनीय रहस्य इस स्थान पर (ऐश्वर्य के धाम वैकुण्ठ में) वर्णन करना उचित नहीं है फिर भी तुम्हारी कातरता और दुःख मुझे कहने के लिए विवश करती है इस स्थान से कुछ ही दूरी पर अयोध्यापुरी है, वहाँ श्रीरघुपति विराजमान हैं। वहाँ से और भी दूरी पर श्रीमथुरापुरी के समान द्वारावतीपुरी प्रकाश पा रही है तुम यदुपति के प्रिय हो, इसलिए द्वारका जाकर अपने प्रियदेव के दर्शन कर आनन्दलाभ करो। द्वारका जाने से पहले श्रीअयोध्या जाने का सदुपाय कहता हूँ इसे सुनो, यह उपाय श्रीरामचन्द्र-पादपद्मसेवी रसिक भक्तगण के भी सम्मत है। यद्यपि अवतारी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की

उपासना करने से ही सर्वसम्पदलाभ की जा सकती है, फिर भी श्रीरघुवर के श्रीमत्पाद सरोज रसविशेष लाभ के लिए उपदेश करता हूँ। हे सीतापते! श्रीरघुनाथ! हे लक्ष्मणाग्रज! हे हनुमत् प्रियेश्वर! इत्यादि नाम-कीर्तन एवं वेदशास्त्र में वर्णित श्रीरघुनाथ के प्रसिद्ध रूप, गुण, लीला वैभव का स्मरण करो। जिस प्रकार अपने अभीष्टदेव की सेवालाभ होती है उसका अनुष्ठान ही कृतित्व एवं इष्ट के स्वल्प सम्बन्ध गन्ध में भी तदेकनिष्ठ भक्तगण परम प्रीति प्रकाश करते हैं।

श्रीरामचन्द्र के पदारविन्द युगल के दर्शन करके भी यदि तुम्हारी इष्टदेव के दर्शनोत्कण्ठा की निवृत्ति न हो, तो श्रीरामचन्द्र द्वारा ही तुम सुखपूर्वक द्वारका को प्रेरित कर दिये जाओगे जिसके दर्शन के लिए तुम चिरकाल से व्याकुल हो, उस द्वारका में जाकर यादवगण परिवेष्टित उन्हीं श्रीकृष्ण के दर्शन करोगे। परम मनोहर निजप्रिय ईश्वर श्रीकृष्ण-नाम कीर्तन ही तुम्हारे द्वारका प्राप्ति का उपाय है यदि पूछो कि द्वारका जाने से पूर्व वैकुण्ठेश्वर की आज्ञा लेना सुसंगत, उसके उत्तर में कहता हूँ कि अयोध्या और द्वारका वैकुण्ठ के ही एकदेश हैं। वहाँ जाने के लिए वैकुण्ठनाथ से आदेश लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। और प्रभु की आज्ञा से ही मैं तुम्हारे पास आकर उपस्थित हुआ हूँ, मेरी बात ही प्रभु का आदेश समझो। इस समय किसी महाभक्त के ऊपर कृपा करने के लिए प्रभु वैकुण्ठनाथ किसी अन्य स्थान को गये हैं, वहाँ उन्हें विलम्ब भी हो सकता है, वह विलम्ब सहन करने से तुम्हें कष्ट होगा, इसलिए तुम्हारे स्थानान्तर जाने का यही उपयुक्त अवसर है।

हे ब्रह्मन्! श्रीनारद के वचनों को सुनकर मैंने हर्षपूर्वक बार-बार उन्हें प्रणाम किया और उनका आशीष ग्रहण कर उनके उपदेशों को स्मरण करते-करते उस स्थान से प्रस्थान किया। दूर से ही देखा कि महाचपल वानरगण बार-बार रामनाम उच्चारण करते-करते उछल-कूद कर रहे हैं। उनके सम्मुख उपस्थित होते ही उन्होंने मेरे हाथ से वंशी छीन ली। (श्रीरघुनाथभक्त का वंशी से विरोधाभास है अथवा वंशीको परम मनोहर समझकर झपट लिया।) बाद में उनके साथ पुरी के आन्दर प्रवेश करके देखा कि वैकुण्ठपार्षदगण से भी अति सुन्दर मनुष्यगण शोभा पा रहे हैं। इसके बाद उन नरवानरगण ने मुझे पुरी के वाह्यप्रकोष्ठ में प्रवेश कराया वहाँ देखा— सुग्रीव, अंगद, जाम्बवान् इत्यादि पार्षदगण एवं परम मनोहर मनुष्यगण

से परिवेष्टित होकर श्रीभरत और शत्रुघ्न सुखपूर्वक विराजमान हैं। मैंने उनका दर्शन करके उन्हें ही श्रीरामचन्द्र समझा एवं तदुचित स्तवादि करने लगा। तब श्रीभरत ने कान में अंगुली देकर 'मैं दास हूँ'—'मैं दास हूँ' कहते-कहते मुझे निषेध किया। इसी समय पर श्रीहनुमान् ने आकर मेरा हाथ पकड़कर मुझे पुरी के अन्दर प्रवेश कराया। मैंने वहाँ अदृष्ट और अश्रुपूर्व परम सौन्दर्ययुक्त नराकृति प्रभु रघुवीर के दर्शन किये। वे परम माधुर्यमय श्रेष्ठ प्रासाद के बीच में महाराजाधिराजोचित सिंहासन पर सुखपूर्वक उपविष्ट थे। महापुरुष के लक्षणों से युक्त श्रीअंग-सौष्ठव में वे श्रीनारायण के अनुरूप होते हुए भी किसी-किसी विशेष माधुर्य प्रभाव में वे नारायण की अपेक्षा अधिक मनोहर थे। उनके श्रीहस्त में सुन्दर धनुष शोभायमान था और वे विनय युक्त सजल शोभायुक्त हो प्रजापालनरूप राजेन्द्र की लीला प्रकट करके धर्मवार्ता और सत्कर्म आचरण आदि वार्ता में निरत थे। मैं उन्हें दण्डवत् प्रणाम करने के लिए पृथ्वी पर गिरते ही उनके दर्शनानन्द से मूर्छित हो गया। मैं मूर्छा के कारण दर्शनानन्द से वञ्चित रह गया, बाद में प्रभु की अनुकम्पा से मूर्छा के शान्त होने से फिर दर्शनानन्द का लाभ प्राप्त किया। प्रभु के वामपार्श्व में अनुरूपा प्रिया सीतादेवी, दक्षिणपार्श्व में अनुज लक्ष्मण एवं अन्यान्य परिकरगण अवस्थान कर रहे थे। श्रीहनुमान् मुझे वहाँ रखकर सेवा परायणता हेतु एक छल्लाँग लगाकर प्रभु के पार्श्व में चले गये। उनकी सेवा परिपाटी कितनी अपूर्व थी। किसी समय शुभ्र चामर-वीजन कर रहे हैं, कभीप्रभु के मस्तक पर श्वेतछत्र धारण कर रहे हैं, दूसरे ही क्षण प्रभु के श्रीचरण-सम्वाहन कर रहे हैं। कभीकभी सब सेवा एक साथ करने लगते हैं। मैं बार-बार हर्षपूर्वक 'जय-जय' शब्द के उच्चारण के साथ, प्रणाम करने लगा। तब उन करुणाकोमलचित्त श्रीभगवान् ने परम अद्भुत मृदुल वचनों से मुझे सन्तोषित करते हुए कहा— हे गोपकुमार! हे सुहृत्तम! साधु! साधु! तुम मेरे प्रति स्नेहवश यहाँ आये हो। तुम इस समय विश्राम करो, प्रणाम आदि करके दुःख भोग न करो, क्योंकि तुम्हारे दुःख से मुझे भी दुःख होता है। इसका कारण यह है कि तुम मेरे चिर बान्धव हो। हे सखे! उठो, उठो, तुम्हारा मंगल हो, तुम गौरवबुद्धि त्याग करो, तुम्हारे प्रेम में मैं सदा ही वशीभूत हूँ। उसके बाद प्रभु की आज्ञानुसार श्रीहनुमान् द्वारा मैं प्रभु की पादपीठ के निकट ले जाया गया। तब मैंने मन ही मन विचार किया कि मेरा

दीर्घकाल का मनोरथ सफल हुआ— वांछातीत फल लाभ कर लिया, इस स्थान को त्यागकर और कहीं नहीं जाऊँगा। मैं पूर्ववत् गोपबालक वेश में ही आनन्दपूर्वक सब कुछ भूलकर वहाँ वास करने लगा। किन्तु उस अयोध्यापुरी में निजेष्ट श्रीमन्मदनगोपालदेव के वेणुवादन, गोपीमोहन आदि रूप, विचित्र माधुरी का अवलोकन नहीं किया एवं आलिंगन, चुम्बन आदि कृपा का अनुभव भी नहीं किया इसलिए शोकातुर के समान वहाँ अवस्थान करता था। फिर श्रीहनुमान् के मुख से श्रीरामचन्द्र पादाब्जयुगल की महिमाराशि को सुनकर और साक्षात् अनुभव कर मनोःदुख को निवारण करता। उन श्रीरामचन्द्र में मदनगोपाल के रूपगुणादि का आरोप करता। किन्तु पूर्व अभ्यासवश जब ब्रजभूमि में इष्टदेव की लीला एवं अनुकम्पा की आशा बलपूर्वक मेरे चित्त पर आक्रमण करती, तो मैं अतिशय शोकार्त हो जाता। तभी फिर मन्त्रिप्रवर श्रीहनुमान मेरे मनोगतभाव को अवगत होकर नानायुक्ति चातुर्य से मुझे सान्त्वना दान करते। अनन्तर करुणाकोमल हृदय जगच्चित्त-ज्ञाता प्रभु श्रीरामचन्द्र प्रणय-मृदुल वचनों से मुझे आश्वासित करते हुए बोले— हे गोपकुमार! तुम सुख से द्वारावती गमन करो एवं भल्लूकपति जाम्बवान् को मुझे द्वारका ले जाने के लिए आदेश किया।

पंचम अध्याय (प्रेम)

श्रीगोपकुमार बोले— हे ब्रह्मन्! इसके उपरान्त मैंने द्वारकापुर में जाकर देखा— निज-निज दिलों में बँटकर विपुलयादवकुमारगण के साथ कतिपय माथुर द्विजपुत्र क्रीड़ा कर रहे थे। उन यादववर्ग में माधुर्य की जो पराकाष्ठा विराजमान थी, इसके पहले कहीं पर इस माधुर्य का अवलोकन नहीं किया। उनके दर्शन कर आनन्द में भरकर प्रणामादि समस्त कर्तव्य भूल गया, परन्तु उन सर्वज्ञ-प्रवर यादवकुमारगण ने मुझे खींचकर आलिंगन किया। उन्होंने मुझे गोवर्धनवासी गोपपुत्र जानकर स्नेहार्द्रपूर्ण मन से मेरा हाथ पकड़कर अन्तःपुर में प्रवेश कराया। मैंने दूर से ही देखा कि सुधर्मा-नामक सभा में मणिखचित स्वर्णसिंहासन पर परमोत्कृष्ट तूलिका के ऊपर लीला के साथ भगवान् द्वारकानाथ शोभा पा रहे थे। वे वैकुण्ठनाथ के अखिल माधुरीसार द्वारा परिसेवित होकर भी शोभातिशय से वैकुण्ठनाथ से भी अधिक माधुरी

विशिष्ट थे। कैशर शोभा-समन्वित नवयौवन अर्चक के समान भक्ति भरे उनके श्रीअंग का आश्रय किये हुए था। निजप्रियतम भक्त के लिए उनके चारुभुजयुगल सतत उद्यत थे। उनके सौन्दर्य लावण्यादि की माधुर्यभंगी सेवकण की अन्तःकरणवृत्ति हरण कर रही है, इस रूप में वे महाश्चर्य विहार-विनोद के सागर-स्वरूप हो रहे हैं। श्रीभगवान् के मस्तक पर विशाल श्वेतछत्र शोभा पा रहा है। आगे सुवर्ण-पादपीठ के ऊपर श्रीपादयुगल विराजमान हैं श्रीराजराजेश्वर के अनुरूप वेश चारों ओर शोभा पा रहा है, अपने अनुरूप परिचारवर्ग भी चारों ओर अपनी-अपनी परिचर्या में नियुक्त हो रहा है, चारों ओर महावैभव समूह विराजमान है। श्रीभगवान् के दक्षिण पार्श्व में श्रीवसुदेव, श्रीबलराम, श्रीअक्रूर आदि अपने-अपने आसन पर उपविष्ट हैं। वामपार्श्व में राजा उग्रसेन को आगे कर गद, सात्यकी आदि यादवगण उपविष्ट हैं। उनके वामपार्श्व में मन्त्री विकद्रु, कृतवर्मा के सहित अन्यान्य यादवश्रेष्ठ एवं राजन्यवर्ग शोभा पा रहे हैं। श्रीनारद कौतुकभरे नृत्यगीत और नर्मवचनों के साथ वीणा बजाते हुए प्रभु को हास्यरस आस्वादन करा रहे हैं। श्रीभगवान् के आगे श्रीगरुड उपविष्ट होकर दोनों हाथ जोड़े हुए स्तव कर रहे हैं, प्रियतम श्रीउद्धव प्रभु के श्रीपादपद्म सम्वाहन करते-करते गोकुल-सम्बन्धी प्रभु की प्रिय रहस्य वार्ता विज्ञापन करते हुए अपने ईश्वर का सन्तोष विधान कर रहे हैं। जिन्हें मैं दीर्घकाल से देखने की इच्छा करके आया हूँ उन प्रभु को दूर से ही देखकर मूर्छित होकर गिर गया, इस अवसर पर प्रभु ने परम प्रेमरस में सराबोर हो मुझे अपने निकट लाने के लिए श्रीउद्धव को आदेश किया। श्रीउद्धव तेजी से मेरे पास आये और मेरा गोपवेश देखकर परम सन्तुष्ट हुए, बाद में मेरा हाथ पकड़कर मुझे प्रभु के पार्श्व में ले गये। श्रीभगवान् के स्वयं उठकर मुझे अपने पास ले जाने के लिए तैयार होते ही श्रीउद्धव ने बलपूर्वक मेरा हाथ पकड़कर मुझे खींचा और मेरा मस्तक प्रभु के श्रीपादपद्म के ऊपर स्थापन कर दिया। वे प्राणनाथ श्रीकृष्ण श्रीकरकमल द्वारा मेरा अंगस्पर्श और मार्जन करने लगे। बाद में उन्होंने मेरे हाथ से वंशी लेकर एकटक देखते देखते मौनावलम्बन करके अत्यन्त व्यथित के समान अश्रुवर्षण करने लगे। (श्रीवृन्दावन में श्रीभगवान् की अनन्यसाधारण माधुर्य-चतुष्टय में वेणुमाधुरी अन्यतम है। यह वेणुमाधुर्य ब्रज की ही सम्पद् है, श्रीब्रजलीला में वेणु का दान अपरिसीम है। ब्रज को छोड़कर द्वारकालीला में वेणु की उपयोगिता नहीं है, इसलिए भगवान् वृन्दावन की सम्पद् वेणु वृन्दावन में ही रखकर आये हैं,

साथ में द्वारका लेकर नहीं आये। “मधुर-मधुर वंशी बाजे एइ तो वृन्दावन।” “त्रिजगन्मानसाकर्षि मुरलीकलकूजितः” जिसके कूजने से त्रिभुवन पागल, वह वंशी वृन्दावन छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं बजती है। तभी वंशीनाद सुनकर और वंशीदर्शन से वृन्दावनलीला की स्मृति हृदय में उदित होती है। जिस ब्रजलीला की स्मृतिमाधुरी के स्रोत से भक्त और भगवान् दोनों ही बह जाते हैं। वेणु-दर्शन से उसी ब्रजधाम और ब्रजलीला की स्मृति से ही श्रीद्वारकानाथ को इस प्रकार भावावेश हुआ, ऐसा जानना चाहिए।) क्षणकाल के बाद थोड़ा स्वस्थ होकर मुझसे बोले— हे गोपकुमार! तुम्हारा सब कुशल तो है? इस प्रकार बोलते-बोलते श्रीभगवान् वाष्प गद्गद भावपूर्ण किसी अपूर्व दशा को प्राप्त होते ही श्रीउद्धव ने किसी प्रकार उन्हें सान्त्वना दान की। (ब्रजवासी के वेशधारी गोपकुमार से कुशल प्रश्न करते हुए द्वारका लीलाकाल में ब्रजलोक के अमंगलमय विरह दशा की स्मृति से इस भावदशा का उदय जानना चाहिए। यद्यपि यह वैकुण्ठद्वारका की अथवा ऊर्ध्वद्वारका की बात है, और इस प्रकार की भाव दशा भौमद्वारका में भी सम्भव हो सकती है अथवा होना उचित है, वैकुण्ठद्वारका में भौमद्वारकावर्ती व्यवहारजनित अमंगलादि आशंका नहीं की जा सकती है, तथापि प्रकट और अप्रकट दोनों लीलाओं के ऐक्य हेतु एवं सर्वदा श्रीभगवान् के भौमलीलागत आवेशवशतः श्रीगोपकुमार के दर्शन से इस प्रकार की भावदशा का उदय हुआ है समझना चाहिए। बाद में मन्त्रिप्रवर श्रीउद्धव ने प्रभु को सान्त्वना प्रदान की। शान्त करने के लिए आगे स्थित वसुदेवादि यादवगण के उग्रसेनादि राजागण को एवं ऋषि आदि को दिखाया। श्रीभगवान् ने कमलनयन खोलकर यादवगण को सामने देख प्रयत्नपूर्वक धीरे-धीरे आत्मसंवरण किया एवं अन्तःपुर प्रवेश के लिए तैयार हुए। मैं चिरकाल के अभीष्ट अपने जीवितेश को प्राप्य कर आनन्दसिन्धु में ऐसा मग्न हुआ कि क्या आचरण करना चाहिए, क्या कहना चाहिए, कुछ भी समझ नहीं पाया। बाद में श्रीभगवान् ने बाहर जाते हुए यादवगण को ताम्बूल विलेपनादि द्वारा सम्मानित कर दक्षिण हाथ से मेरे अंजली बाँधे हुए हाथ को धारण कर श्रीबलराम और उद्धवादि के साथ अन्तःपुर में प्रवेश किया।

हे ब्रह्मन्! उधर सोलह हजार आठ महिषीगण अन्तःपुर से श्रीरोहिणी और देवकीमाता को आगे करके अपनी-अपनी दासीगण के साथ पति के निमित्त आगे आईं। श्रीरुक्मिणी आदि अष्टप्रधाना महिषी और अन्यान्य

महिषीवर्ग श्रीकृष्ण के अनुरूप गुणों से परिपूर्णा अपने-अपने अनुरूप दासीगण द्वारा परिसेविता हो रही थीं। इस रूप में प्रभु मातृवर्ग, सलज्ज महिषीवर्ग एवं प्रद्युम्न साम्ब आदि कुमार वर्ग से परिशोभित होकर अपने महल में प्रवेश किये एवं गोकुल स्मरण जनित अपने भाव को छिपाकर स्वस्थ के समान प्रतीत होते हुए उत्तम आसन पर विराजमान हुए। किन्तु मैंने उस समय देखा कि श्रीदेवकी यशोदा के समान, महिषीगण गोपसुन्दरी के समान और कुमारगण गोपबालकगण के समान हो रहे हैं। स्वयं द्वारकानाथ ने मेरे हाथ से वेणु लेकर मेरे ध्येय मदनगोपाल रूप से गोकुल का भाव ग्रहण किया है। मैं अपने उस चिरध्यान-ध्येय मूर्ति के दर्शन कर प्रबल आनन्द के कारण पुनः मूर्छित हो गया। श्रीनन्दनन्दन ने कृपापूर्वक व्यग्र होकर स्वयं आदर के साथ मुझे उठाकर अपने करकमल के द्वारा मेरा अंग मार्जन करते-करते मुझे सान्त्वना प्रदान की। गोकुल के विरह-स्मृति की व्याकुलता से वे इतने विह्वल हो गये थे कि भोजनकाल हो जाने पर भी उन्होंने भोजन की इच्छा का प्रकाश नहीं किया। केवल मातृदेवीगण के आग्रह के कारण स्नानादि मध्याह्नकृत्य समापन किया। इसके बाद श्रीदेवकीनन्दन ने अपने हाथ से मुझे भोजन कराकर बाद में मेरे सन्तोष के लिए किञ्चित् भोजन किया। वे श्रीवृन्दावन की पुलिन-भोजनादि बाल्यलीला की स्मृति में कुमार मण्डली के बीच में अपने अग्रज बलदेव को बिठाकर स्वयं परिवेशन करते-करते ब्रज के भाव में आविष्ट हो गये।

इसके बाद श्रीभगवद्भावविज्ञ श्रीउद्धव महाशय भगवद् उच्छिष्टरूप महाप्रसाद सेवन के बाद परम अन्तरंग जानकर बलपूर्वक मेरा हाथ पकड़कर मुझे अपने घर ले गये। (भगवद्भावविज्ञ श्रीउद्धव महाशय श्रीभगवान् के अभिप्राय से अवगत हुए कि परम ऐश्वर्य के प्रकाश स्थान द्वारका के अन्तःपुर में रहने से गोपकुमार को यथेष्ट सुख का अनुभव नहीं होगा। गोकुलवासिगण के एकमात्र प्रिय श्रीउद्धव के घर में गोपकुमार का अवस्थान परम सुखकर होगा एवं उनके घर में ही गोपकुमार की गोकुल की रहस्यमय वार्ता की आलोचना और आस्वादन सुसिद्ध होगा।) मैंने श्रीउद्धव के घर जाकर सम्यक् संज्ञा प्राप्त की और अपने अनुभूत विषयों के स्मरण के आनन्द में भरकर बार-बार नृत्य किया एवं मन ही मन सोचा कि इतने दिनों का मेरा मनोरथ पूरा हुआ, आज मैंने अपने इष्टदेव ब्रजनागरगण को साक्षात् प्राप्त किया है। जब जब उद्धव के साथ जाकर प्रभु का दर्शन करता, तब-तब आनन्द के

कारण इतना विवश हो जाता कि दर्शन के अतिरिक्त प्रभु की गति आदि कुछ भी करने में सक्षम न होता। इस प्रकार मैंने वहाँ पर प्रभु की विचित्र करुणाराशि निरन्तर प्राप्त हुई अर्थात् प्रवाह के समान महान् आनन्द परम्परा का अनुभव किया। आनन्द की उस परम्परा का निरूपण साक्षात् वागधिष्ठात्रीदेवी भी करने में समर्थ नहीं होंगी। यहाँ तक कि भगवद्भक्तिमान् महात्मागण द्विपरार्धकाल तक वर्णन करके भी उसकी सीमा को प्राप्त न कर सकेंगे। मुमुक्षुगण भक्त में जो सुख मानते हैं, वैकुण्ठ में उससे कोटि-कोटि गुण अधिक सुख वर्तमान है। वैकुण्ठ के सुख की अपेक्षा भक्तगण अयोध्या के सुख को अधिक मानते हैं, परन्तु द्वारका में जो आनन्द है— उसके परिमाण को कोई निरूपण नहीं कर सकता है। चिरवाञ्छित जीवितेश श्रीनन्दनन्दन को प्राप्त कर उनके एकमात्र सेवक के अन्तर में जो आनन्द का अनुभव होता है, वह क्या मन या वाक्य की वृत्तिविशेष के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है? जिन्होंने उस सुख का अनुभव किया, वे ही यथा उपयुक्तचित्त से उसका आस्वादन करते हैं। (सुख या आनन्द ही जीव की चरमकाम्य वस्तु है। इस संसार में सभी सुख की खोज में दौड़ रहे हैं। 'सुखं मे भूयात् दुःखं माभूत्' सभी की यही कामना है। अन्यान्य जीवों से मानव में चेतनधर्म का सर्वाधिक विकास है, इसलिए मानव में ही सुख के अनुसन्धान और दुःख-नाश की प्रवृत्ति स्पष्टतर है। किन्तु अधिकांश मनुष्य ही प्रकृत सुख या आनन्द से वंचित हैं। सुख का सूत्र किधर है, वे यह जानते नहीं हैं, इसलिए दुःख को ही सुखरूप से समझकर वे वंचित हो रहे हैं। तैत्तिरीय श्रुति 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति' कहकर मानुषानन्द से क्रमशः गन्धर्वगण के और देवगण के आनन्द को शत-शतगुण उत्कर्ष दिखाकर प्रजापति और हिरण्यगर्भ के आनन्द को ब्रह्माण्ड के आनन्द के सर्वोपरि स्थापनकरती है। एवंअन्त में उससे भी सौगुना ब्रह्मानन्द को स्थापन कर "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन" इत्यादि वाक्यों से ब्रह्मानन्द की असीमता या विलक्षणता दिखाई है मुमुक्षुगण ज्ञानसाधना की सिद्धि से इस ब्रह्मानन्द का लाभ करते हैं। किन्तु मुक्तगण द्वारा प्राप्य ब्रह्मानन्द की अपेक्षा भी श्रीभगवान् के भजन में जो विपुल वैचित्रीपूर्ण आनन्द विद्यमान है, यह शास्त्र और अनुभवी महाजनगण की वाणी से जाना जाता है। "ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः। नैति भक्तिसुखाम्भोधेः

परमाणुतुलामपि ॥” (भ. र. सि. 1/7/38) अर्थात् ब्रह्मानन्द परार्धगुणीकृत होते हुए भी वह भक्तिसुखसिन्धु के बिन्दु तुल्य भी नहीं हो सकता। तैत्तिरीय उपनिषद् में जो आनन्द श्रुति देखी जाती है, ऋग्वेद में उसका भी मूल है। वस्तुतः ऋषिगण ने सभी वस्तुओं का मूल भगवत् स्वरूप को ही सत्यरूप में, सुन्दररूप में मधुररूप में और आनन्दरूप में अनुभव किया है। आनन्दमय, प्रेममय और मधुमय श्रीभगवान् कीउपासनाका भाव जीवहृदय में सुप्रतिष्ठित होते ही जीव जिस अफुरन्त आनन्द के स्रोत को पाकर धन्य होता है, ब्रह्मानन्द उसके समक्ष अतिशय अकिंचित्कर है। इसलिए ही मुक्तिसुख से वैकुण्ठ के सुख को कोटि-कोटि गुना अधिक कहा जाता है। यहाँ पर कोटि शब्द को असंख्यवाची समझना चाहिए। भक्तिसुख के बीच में भी फिर उपास्य और उपासना के भेद में अनन्त वैचित्री अथवा विभिन्नता है। केवल ऐश्वर्य के धाम वैकुण्ठ की अपेक्षा भी सेवारस विशेष निष्ठाहेतु अयोध्या में विशेष सुख का आस्वादन लाभ होता है श्रीद्वारका में फिर सौहार्दरसविशेष निष्ठा द्वारा अयोध्या से भी अधिक विशेष सुख सिद्ध होता है अतएव द्वारका में जो सुख है उसके परिमाण अथवा स्वरूप का निरूपण करने में किसी युक्ति का आश्रय ग्रहण नहीं किया जा सकता है। कारण यह है कि समस्त युक्ति ही मुक्ति इत्यादि के निरूपण में निःशेष हो गई है। यह केवल भक्ति प्रवणता या स्तुतिवाद मात्र ही नहीं है, किन्तु गोपकुमार का साक्षात् अनुभूत सिद्धान्त है। गोलोक में फिर प्रेमरस-विशेष निष्ठाहेतु द्वारका में भी विशेषसुख सिद्ध होता है, यह क्रमशः वर्णित होगा।)

इस प्रकार द्वारका में वास करते-करते एकबार यादवगण ने मुझसे कहा—“हे सखे! वैकुण्ठ से भी उत्तम विभूति सम्पन्न इस द्वारका में मेरे साथ रहकर भी तुम वन्यवेश में दीनवत् क्यों रहते हो, तुम्हारा यह दीनवेश हमें अच्छा नहीं लगता है। तुम्हारे इस वन्यवेश से हमें दुःख होता है, अतएव तुम हमारे जैसा स्वतःसिद्ध वेश धारण करके स्वच्छन्द विहार करो।” हे ब्रह्मन्! उनके आग्रह प्रकाश करने पर भी मेरा चित्त इस बात का समर्थन नहीं करता था, विशेषतः उनके जैसा वेश धारण करने श्रीअच्युत की अनुमति नहीं थी, इसलिए पूर्ववत् अकिंचन् की भाँति ही वास करता रहा। (इससे भी उत्तम पद प्राप्ति हेतु द्वारकावास में भी निर्वेद का हेतु कह रहे हैं।)

हे ब्रह्मन्! जिस समय श्रीकृष्ण महाऋषिगण द्वारा परिसेवित होते तो उनके निकट जाने में लज्जा और भय लगता, क्योंकि दीन-अकिंचन के वेष

में वहाँ जाना उचित नहीं होता। और कभी श्रीकृष्ण का चतुर्भुजरूप दर्शन करता, उस समय उसकी ब्रजसम्बन्धीय लीलाविशेष दृष्टिगोचर नहीं होती। (श्रीद्वारकानाथ कदाचित् चतुर्भुजरूप धारण करके भी श्रीकृष्णरूपता का त्याग नहीं करते हैं। लघुभागवतामृत में वर्णन है— “क्वचिच्चतुर्भुजत्वेऽपि न त्यजेत् कृष्णरूपताम्। अतः प्रकाश एव स्यात् तस्यायौ द्विभुजस्य च ॥” अर्थात् श्रीकृष्ण कभी-कभी चतुर्भुज होकर भी कृष्णरूपतास्वभाव का त्याग नहीं करते हैं। इसलिए चतुर्भुजरूप को द्विभुज श्रीकृष्ण की प्रकाशमूर्ति कहकर स्वीकार किया जाता है। उक्त श्लोक की टीका में लिखा है— “कदाचित् हासादि धर्मवत् चतुर्भुजत्वस्य प्रकाशोऽपि तत्स्वभावस्य तत्रस्थितत्वात् न काचित् विक्षतिः” अर्थात् हासादि धर्म के समान कभी श्रीकृष्ण का चतुर्भुजत्व प्रकाश पाकर भी श्रीकृष्ण के स्वभाव का परिवर्तन नहीं होता है, इस कारण इनमें कोई क्षति नहीं होती है। स्वयरूप में और चतुर्भुजरूप में श्रीकृष्ण के स्वभाव का परिवर्तन नहीं होता है, इस कारण इसमें कोई क्षति नहीं होती है। स्वयरूप में और चतुर्भुजरूप में श्रीकृष्णत्व स्वभाव अपरिवर्तित रहने के कारण आकार, भाव और वेष आदि के पार्थक्य रहने से भी चतुर्भुजरूप को स्वयं रूप का प्रकाश कहा जाता है। किन्तु चतुर्भुजरूप में ब्रज के रूप का सादृश्य और ब्रजसम्बन्धीय लीला का कोई अनुभव न होने से गोपकुमार को उसमें उल्लास नहीं होता था।) किसी-किसी समय श्रीकृष्ण प्रियबान्धव पाण्डवगण के दर्शन करने के लिए अकेले अदूरस्थित (पासमें) पाण्डवराज्य को चले जाते। (अनवच्छिन्न वैकुण्ठ की असीम विस्तीर्णता हेतु हस्तिनापुर बहुत दूर होते हुए भी थोड़ी दूर पर अनुभव होता, इसीलिए अदूर (पास) में पाण्डवगृह गमन की बात कही गई है।) इस प्रकार चिरन्तर अभिलाषापूर्ण न होने से मेरा चित्त दुःखी होता, फिर भी प्रभु का उस प्रकार का रूप दर्शन एवं गुणों का स्मरणकर मेरा चित्त शान्त हो जाता। उनके अमृत निःस्यान्दित (अति मधुर) करुणापूर्ण वचनों से मैं जो विशेष आनन्दलाभ करता वह आनन्द जिह्वा द्वारा वर्णन करना असम्भव है। इस प्रकार उद्धवजी के घर पर मैंने कतिपय दिनयापन किये। यद्यपि किसी-किसी समय ब्रजभूमि के स्मरणजनित शोक का उदय होता, मैं यत्नपूर्वक उसको छिपा देता।

एकबार मैंने द्वारकापुरी में आये हुए श्रीनारदजी के दर्शन करके प्रणाम किया एवं हर्ष और विस्मय से आलुप्त होकर प्रश्न किया—हे मुनीन्द्रवेशधारी

प्रभु-पार्षदोत्तम! स्वर्ग, वैकुण्ठ और द्वारका आदि धाम में सर्वत्र ही जो आप वीणा वादन आदि द्वारा श्रीभगवान् की प्रीति सम्पादन करते हैं, आपके इस प्रकार के अभावनीयव्यवहार का दर्शन कर मैं विस्मित हो रहा हूँ एवं उस रहस्य को जानने के लिए मुझे विशेष कौतूहल हो रहा है। श्रीनारद ने कहा— हे गोपबालक! सत्य ही तुम गोपबालक हो, इसलिए गोपजाति सुलभ कौतुक का त्याग नहीं कर पा रहे हो। यदि कहो कि मैं अज्ञतावश ही प्रश्न कर रहा हूँ कौतुकवश नहीं, तो इसके उत्तर में कहता हूँ मैंने तो वैकुण्ठ में तुम्हें इस रहस्य के बारे में बताया है फिर भी तुम्हारे कौतूहल निवृत्ति के लिए संक्षेप में कहता हूँ, सुनो— जिस प्रकार अखण्ड अद्वयज्ञानतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण एक स्थान पर एकमूर्ति में विराजित होते हुए भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर बहुमूर्ति में विराजित रहते हैं, उसी प्रकार उनके सेवक हम लोग भी (श्रीगुरुङ्ग, हनुमान्, उद्धव आदि। बहुत से स्थानों पर बहुमूर्ति में अवस्थान करते हैं। हम लोग प्रभु के नित्य पार्षद हैं, सर्वदा उनकी सेवा में तत्पर रहते हैं, प्रभु की क्रीड़ा के अनुरूप हम भी उनके खिलौने हो जाते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण के विभिन्न वेष, नाम, लीला और धाम सब एक होते हुए भी बहुरूप एवं बहुरूप होते हुए भी एक हैं। यह सभी नित्य और सत्य हैं। तुम भी हमारे ही समान सच्चिदानन्द विग्रह हो और वैकुण्ठवास प्राप्त किये हुए हो, तथापि पूर्वस्वभावानुरूप लीलारस विस्तार कर रहे हो— यही आश्चर्य है। और भी आश्चर्य का विषय तो यह है कि तुम ऊर्ध्व द्वारका में अवस्थान करते हुए भी सर्वदा अतृप्त और आर्त्त के समान प्रतीत होते हो। श्रीगोपकुमार ने कहा— श्रीनारद की बात सुनकर मैंने उनके दोनों पादयुगल धारण पूर्वक दैन्य के साथ निवेदन किया, हे भगवन्! मैं क्या कहूँ, मेरी अतृप्ति इत्यादि के कारण को आप भलीभाँति अवगत है। तब मुनिवर कुछ हँसते हुए श्रीउद्धव की ओर दृष्टिपात करते हुए बोले— हे उद्धव! कैसा आश्चर्य, यह गोवर्धन का गोपबालक मेरे और यहाँ तक कि तुम्हारे लिए भी सुदुर्लभ किसी वस्तु की वाञ्छा कर रहा है, और उस वस्तु के अन्वेषण के लिए सर्वत्र इधर-उधर भ्रमण करके भी पीड़ादायक शोकार्त्ति को कहीं छोड़ नहीं पाया है। हे उद्धव! तुम ब्रजवासिगण के दुःख के कातर होकर भी अपने पार्श्व में स्थित गोपबालक को क्षणकाल के लिए क्यों सान्त्वना (ढाँढस) नहीं दे रहे हो? यह गोपकुमार जिस पद के लिए प्रार्थना करते हैं, उस आनन्दमय गोलोकपद की प्राप्ति दूर रहने दो, उसके साधन भी

प्रार्थनीय है, किन्तु मेरे पक्ष में तो यह सम्भव नहीं है। (स्वयं ब्रजबिहारी श्रीकृष्णमाधुर्य की मूर्ति हैं। अनुभवी श्रीलीलाशुक ने कहा है—“माधुर्यमेव नु?” यह क्या साक्षात् माधुर्य है? श्रीपाद कविकर्णपूर कहते हैं— “रंजकत्वं हि माधुर्यं चेतसो द्रुतिकारणम्” चित्त को द्रवित करना और रंजित करना माधुर्य का कार्य है। श्रीगोपकुमार ब्रज के सख्यरस के उपासक हैं अथवा माधुर्य के ही उपासक हैं। उनका चित्त उस रस से सुरंजित है इसलिए ऊर्ध्वद्वारका में स्वयं भगवान् कृष्ण को पाकर भी उनके चित्त में शान्ति नहीं है। कोई अनजान आकर्षण उनके प्राण को सतत उसकी अपेक्षा भी किसी विपुल आस्वादन के राज्य की ओर खींचकर ले जाना चाहता है। और वह आस्वादन भी ऐकान्तिक भावग्राह्य ब्रजरस के उपासकगण को ही लभ्य हैं श्रीनारदादि मुनिगण यहाँ तक कि उद्धवादि प्रेमातुर भक्तगण को भी उस रस की साधना तक सुदुर्लभ है। श्रीनारदमुनि के वचनों से यही तत्त्व व्यक्त होता है। इस स्थल पर एक विशेष विचारणीय विषय यह है कि अन्यान्य युगों में ब्रजरस की साधना श्रीनारद-उद्धव आदि के लिए दुर्लभ अथवा दुर्गम होते हुए भी आजकल इस विशेष कलियुग में श्रीमन्महाप्रभु ने सर्वप्रकार साधन शक्ति शून्य दुर्गत कलि के मानव को भी कृपा करके उस रस के साधन सौभाग्य का अवसर प्रदान किया है। अतएव महाप्रभु की कृपा से आज कल के कलिजीव के पक्ष में भी उस रस का साधन और सिद्धि सुलभ हो गया है, ऐसा समझना चाहिए।)

श्रीउद्धव बोले— हे मुने! इनका ब्रजभूमि में जन्म है और वहाँ गोपजाति सुलभ गोपालन में यह निरत हैं, विशेषतः गोपाल-उपासना निष्ठ होने के कारण यह महाशय हमारी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। श्रीनारद उद्धव की बात सुनकर उनको आलिंगन करके बोले, हे उद्धव! यह गोपकुमार जिस प्रकार शीघ्र ही अभीष्ट वस्तु लाभ कर सके, तुम इन्हें इसी प्रकार का उपदेश करो। उद्धव बोले— हे मुने! मैं जाति से क्षत्रिय हूँ, आप विशेषतः भक्तिमार्ग के गुरु हैं, आपके विद्यमान रहते हुए मुझे उपदेश करने का अधिकार कहाँ है? श्रीनारद उच्च हास्य करते हुए बोले— हे उद्धव! इस वैकुण्ठ में भी तुम्हारी क्षत्रियत्व बुद्धि का नाश नहीं हुआ? उसके उत्तर में श्रीउद्धव हँसते-हँसते बोले— हे मुने! मेरी तो बात ही क्या, यहाँ पर तो मेरे प्रभु का क्षत्रियत्व अभिमान दूर नहीं हुआ। भौमद्वारका की भाँति यहाँ भी वे सत्कर्म-पालन, गार्हस्थ्य आचरण,

शत्रु-जय, ज्येष्ठ और विप्रगणों के सम्मान का परित्याग नहीं कर पाये। श्रीउद्धव की बात सुनकर श्रीनारद प्रेमावेश में उछल पड़े व कहने लगे— अहो! श्रीभगवान् का लीला-माधुर्य जिस प्रकार अद्भुत है, उनके समस्त सेवकगण की तदेकनिष्ठा का गाम्भीर्य भी उसी प्रकार अद्भुत है। यह प्रभु मर्त्यलोक स्थित द्वारका में जिस प्रकार क्रीड़ा करते हैं, इस वैकुण्ठ द्वारका में भी निजप्रिय भक्तगण के सन्तोष के लिए उसी प्रकार क्रीड़ा करते हैं। जिस लीलाका दर्शन करके हमारे समान सर्वज्ञगणों को भी भ्रम होता है, अर्थात् हम भौम द्वारका में वास कर रहे हैं या वैकुण्ठ द्वारका में वास कर रहे हैं, यह निश्चय नहीं कर पाते हैं। (श्रीधाम के प्रकट, अप्रकट और दृश्यमान यह तीन प्रकार के प्रकाश हैं। प्रकट प्रकाश में लीला का काल आदि के द्वारा परिच्छिन्नवत् के समान आदि मध्य और अवसान देखा जाता है अवश्य ही यह श्रीभगवान् की शक्तियोगमाया द्वारा ही संघटित होता है, काल की शक्ति द्वारा नहीं, कारण यह है कि लीला कालातीत हैं— अर्थात् चिन्मय हैं अप्रकट प्रकाश की लीला आदि, मध्य और अवसान रूप परिच्छेद रहित अविच्छिन्न प्रवाह के समान अनन्तकाल तक एकभाव से ही चलती है। इस लीला में श्रीभगवान् परिकरगण के सहित रात-दिन विराजमान रहते हैं। वस्तुतः अप्रकट की लीला ही भक्तगण के आनन्द विस्तार के लिए है श्रीभगवान् जब प्रपञ्चलोक की दृष्टि के विषयीभूत कर देते हैं, तब उसे प्रकटलीला कहते हैं। यह श्रीकृष्ण के जन्म आदि से क्रमशः विकास प्राप्त होती है। अतएव अप्रापञ्चिक लीला प्रपञ्च में आकर अधिक सुन्दर और मधुर हो जाती है, यह रहस्य क्रमशः व्यक्त होगा। वस्तुतः अप्रकट और प्रकटलीला में भक्त और भगवान् की पारस्परिक परिपाटी सभी एकरूप ही होती हैं प्रापञ्चिकलोक की दृश्यलीला को प्रकट और अदृश्य लीला को अप्रकट कहा जाता है। मूलरूप से लीला विभुवस्तु है, प्रकट और अप्रकट नहीं होती है, केवल प्रापञ्चिकलोक के दृश्य और दृश्य भेद से ही लीलाका प्रकट और अप्रकट भेद कल्पित होता है फिर हम जो पृथ्वीस्थित द्वारका आदि धाम दर्शन करते हैं, यही श्रीधाम का दृश्यमान प्रकाश है इसे देखकर हमारे मन में यह विचार हो सकता है कि यह वैकुण्ठ स्थित द्वारका नहीं है यह मर्त्यभूमि स्थित एक प्रदेश विशेष है, द्वापर में श्रीभगवान् ने इस स्थान पर लीला की थी। किन्तु वस्तुतः वैसा नहीं है दृश्यमान धाम मायातीत चिन्मय होते हुए भी कृपावशतः मर्त्यभूमि का स्वरूप

अंगीकार किये हुए है, एवं अपनी अचिन्त्यशक्ति के प्रभाव से मर्त्यभूमि के धर्म को स्पर्श न करते हुए विराजमान है। यहाँ भी नित्य अप्रकट लीला चलती है, प्रेमिक भक्तगण प्रेमांजन लगे हुए नयनों से उसका दर्शन करते हैं। “चर्म चक्षे देखे तारे प्रपञ्चे सम।” “प्रेम नेत्रे देखे तार स्वरूप प्रकाश।” इत्यादि चै. च. 1) हे उद्धव! तुम्हारे समान सभी भक्तों की प्रभुपादपद्मों में इसी प्रकार की भक्ति अपेक्षित है एवं भक्तप्रिय श्रीभगवान् को भी भक्ताभीष्ट पूर्ण ही अपेक्षित है, और कुछ भी अपेक्षित नहीं है। (अर्थात् तुम्हारे समान सभी सेवकों को वैकुण्ठवासोचित सच्चिदानन्द विग्रह आदि के अनुरूप व्यवहार या मर्त्यलोक के स्थितयोग्य व्यवहार अपेक्षित नहीं है एवं श्रीभगवान् को भी ईश्वरत्व उपयोगी व्यवहार या लोकबन्धुता रूप लौकिक व्यवहार अपेक्षित नहीं है। तुम्हारा यह दैन्य प्रेमभक्ति के परम अनुकूल और महापुष्टिकर हैं और श्रीभगवान् को भी विषयभोगी ग्राम्यजन के समान लीलासमूह प्रेम प्रदान करने में विशेष सामर्थ्य है। अहो! प्रेमोद्रेक की परिपाक-महिमा का वर्णन करने में कौन समर्थ होगा, जिस प्रेम की महिमा उस परमेश्वर को लौकिक सद्वन्धु के समान कर देती है। मैं लौकिक सद्वन्धुभाव का ही स्तव करता हूँ, जो भाव श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व आदि के गौरव का लोप कर श्रीकृष्ण में सत्प्रेम अर्थात् गौरव आदरहीन सद्वन्धु के समान प्रेम विस्तार करता है। (भक्ताभीष्ट पूर्ण करना ही श्रीभगवान् का एकान्त काम्य है; लौकिक सद्वन्धु भाव से सेवनकारी प्रेमनिष्ठ परिकरगण का मनोभीष्ट श्रीभगवान् परमेश्वर रूप से पूर्ण नहीं कर पाते हैं, क्योंकि ऐश्वर्य देखने से ही प्रेम संकुचित हो जाता है, गौरव आदर के उदय से प्रेम में उल्लास प्राप्त नहीं हो पाता है। आदर गौरव बुद्धि से पतिपुत्रादि भाव से लौकिक व्यवहार भी सिद्ध नहीं होता है एवं निःसंकोच रूप से उस प्रकार प्रेम सेवा भी सम्भवपर नहीं होती है, दूसरी ओर श्रीभगवान् के प्रियजन का उस प्रकार का प्रेम व्यवहार ईश्वरभाव से सम्पन्न नहीं होता है, इसीलिए प्रेम उल्लसित होकर चरमसीमा पर आरूढ़ नहीं हो पाता है। दैन्यमय प्रेम से श्रीभगवान् ऐश्वर्य को संकुचित कर ग्राम्य जनवत् व्यवहार करते हैं, इसी से श्रीभगवान् और भक्त के प्रेमरस की परम पुष्टि साधित होती रहती है।)

श्रीगोपकुमार बोले— हे ब्रह्मन्! इस प्रकार नारदमुनि प्रेमरहस्य वर्णन करते करते प्रेमरस में यन्त्रित होकर विविध सात्त्विक विकारों से आक्रान्त हो

गये एवं एक क्षण नीरव होकर मुझे आर्त और उपदेश सुनने के लिए उत्सुक देखकर फिर बोले— हे गोपाल के प्रिय गोपकुमार! इस द्वारकापुरी से भी दूर सर्वशोभासम्पन्न 'गोलोक' नाम का एक धाम सर्वोपरि विराजमान हो रहा है, यह गोलोक वैकुण्ठ के सबसे ऊपर स्थित प्रदेशविशेष है, श्रीअयोध्या द्वारका आदि समस्त धामों का चूड़ामणि स्वरूप, यह धाम ही सब की अन्त सीमा पर अवस्थित है। वह गोलोक ही माथुर ब्रजभूमि स्वरूप है, वहाँ देवी मथुरापुरी आत्मसार सुशोभन वृन्दावन आदि के साथ विराज रही हैं। गोप्रधान लोक होने के कारण उसे गोलोक नाम से कहा जाता है श्रीकृष्ण की रहस्यमय लीला स्थली कहे जाने के कारण यह परम निगूढ़ होकर भी सर्वत्र गोलोक नाम से विख्यात है गोलोक शुद्धमाधुर्यमय लीला स्थली श्रीवृन्दावन का ही प्रकाश विशेष है, किन्तु यहाँ पर गोलोक और वृन्दावन की महिमा इकट्ठी ही वर्णन हो रही है गोलोकधाम से भी श्रीवृन्दावन का जो वैशिष्ट्य विद्यमान है, वह बाद में वर्णन होगा।) जो ब्रजलोक के परम प्रेम के अनुवर्ती होकर परम विशुद्धभाव से श्रीकृष्ण का भजन करते हैं वे ही उस गोलोक को प्राप्त होते हैं। यह प्रेम श्रीकृष्ण में केवल लौकिक प्राणबन्धु बुद्धि से ही सिद्ध होता है, परन्तु लौकिक की भाँति दृश्य होते हुए भी यह प्रेम लोकातीत है अर्थात् आदि धाम में भी इसका अस्तित्व या अवस्थान नहीं है। (ब्रज में जो दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरभाव के नित्यसिद्ध परिकरगण नित्यकाल लौकिक सद्बन्धु भाव से श्रीकृष्ण की प्रेमसेवा करते हैं, ब्रजरस के उपासक साधक भक्तगण उस प्रकार के महत्संग और रुचि के अनुसार दास आदि एकतर रस में उस उस भाव के नित्यसिद्ध परिकरगण के आनुगत्य में भजन करके भजन सिद्धि होने पर उसी उसी भाव से गोलोक वृन्दावन में श्रीकृष्ण के प्रेमसेवा लाभ करने लगते हैं। अर्थात् जो दास्यभाव में लुब्ध है वे रक्तक पत्रक आदि के आनुगत्य में उनकी भावचेष्टा द्वारा जो सख्यभाव में लुब्ध वे सुवल आदि के आनुगत्य में वात्सल्यभाव में लुब्ध नन्दयशोदा के और जो मधुरभाव में लुब्ध हैं, वे श्रीराधिका आदि के आनुगत्य में तदनुरूप भाव चेष्टा द्वारा श्रीकृष्ण का भजन करते हैं एवं प्रेमसिद्धि होने पर उस उस परिकरगण के आनुगत्य में प्रेमसेवा लाभ करके धन्य होते हैं। यही ब्रज की विशुद्ध रागमार्गीय भजन परिपाटी है।

“ब्रजलोकेर भावे पाइ ताँहार चरण ।
 तारै ईश्वर करि नाहि जाने ब्रजजन ॥
 केहो तारै पुत्र-ज्ञाने उदूखले बाँधे ।
 केहो तारै सखाज्ञाने जिनि चडे काँधे ॥
 ब्रजेन्द्रनन्दन तारै जाने ब्रजजन ।
 ऐश्वर्य्यज्ञान नाहि निज सम्बन्ध मनन ॥
 ब्रजलोकेर भावे येइ करये भजन ।
 सेइ जन पाय ब्रजे ब्रजेन्द्र नन्दन ॥

(चै. च.)

इस स्थान पर यह भी एक विशेष विचारणीय बात है कि साधक स्वयं को नित्यसिद्ध परिकरगण के साथ कभी भी तुलना या समता की भावना या बुद्धि न करें अर्थात् मैं सुबल हूँ, मैं ललिता हूँ, इत्यादि की भावना महा अपराधजनक है। “मैं कृष्ण हूँ” यह भावना जिस प्रकार अपराध को जन्म देती है, उसी प्रकार नित्यसिद्ध परिकरगण के सहित अभेद भावना से भी महा अपराध सञ्चित होता है और प्रेम सिद्धि बहुत दूर हट जाती है इसलिए ‘आनुगत्य’ की बात को सर्वदा स्मरण रखना होगा। फिर यद्यपि ‘चारिभावेर भक्ति दिया नाचाइमु भुवन।’ श्रीचैतन्यचरितामृत में इस प्रकार की महाप्रभु की श्रीमुखोक्ति है, फिर भी उन्होंने जो राधादास्य रूप अनर्पितचरी उन्नतोज्ज्वल रसमयी भक्ति का ही विशेषभाव से वितरण किया है, इसमें किसी को सन्देह नहीं है वह श्रीराधा का दास्यरूप परम भक्ति का उत्कर्ष यथा स्थान पर व्यक्त होगा।) जिस भक्ति से श्रीकृष्ण में सर्वदा पमरेश्वर बुद्धि पनपती है, उससे भय-आदर आदि के उदय से उस प्रकार का प्रेम कभी सिद्ध नहीं होता है। श्रीकृष्ण और ब्रजवासीगण का भाव अति अद्भुत है अर्थात् मधुर ऐश्वर्ययुक्त होकर भी लौकिक भावमय है। उस प्रकार के प्रेम की योग्यता उस गोलोकधाम में ही है, वहाँ श्रीकृष्ण अपने परिकरगण के साथ माधुर्य की अन्त सीमारूप सुख क्रीड़ा का विस्तार करके विराजते हैं। अहो! अब मुझे यह निश्चितरूप से ज्ञात हुआ कि श्रीभगवान् गोलोक में ही अपनी सुगोप्य भगवत्ता का सर्वसार प्रकटित कर रहे हैं। (गोलोक वृन्दावन श्रीभगवान् का सर्वाधिक ऐश्वर्यपूर्ण धाम है। किन्तु वह विशाल ऐश्वर्य की झील माधुर्य के शैवाल से समाच्छन्न है।

“वृन्दावने साहजिक ये सम्पद्सिन्धु।

द्वारका वैकुण्ठ सम्पद् तार एक बिन्दु ॥” (चै. च.)

यह विशाल ऐश्वर्य भावना का सार या प्राण माधुर्य विमण्डित होकर ही प्रकाश पाने के कारण परम मनोहर और आस्वाद्य हो जाता है परमैश्वर्य के प्रकाश और अप्रकाशन से सर्वदा नरचेष्टा या लौकिक भाव के अनतिक्रम को ही माधुर्य कहते हैं। परमैश्वर्य का प्रकाश ही ब्रज के असुरमारणादि लीला पर्यन्त नरचेष्टा के भीतर ही प्रकाशित होकर सुमधुर और परमास्वाद्य होता है। पूतनाराक्षसी का प्राण आकर्षण भी स्तनपानरूप नरलोक की लीला के द्वारा ही सम्पन्न हुआ है। विशाल शकट-भंजन और शकटासुर-निवध लीला भी मातृस्तनपान की इच्छा से रोदन-परायण सुकोमल शिशु श्रीभगवान् की स्वाभाविक बाल्यचेष्टा से ऊर्ध्वक्षिप्त मृदुल चरणतल के स्पर्शमात्र से ही सुसिद्ध हुई है। ब्रज की समस्त रस्सी को इकट्ठा करके भी जब माँ यशोदा श्रीकृष्ण को बाँध न पायीं उसी समय मातृभय से वैकल्प प्रकाश पाता है। इस प्रकार के ऐश्वर्यमय लीला समूह भी माधुर्य मण्डित होकर प्रकाश पाने से इतने मधुर एवं आस्वाद्य हो जाते हैं कि जिसके श्रवण-कीर्तन से भक्त के प्राणों में प्रेमोन्मादन वर्धित होती है।

“माधुर्य भगवत्तासार, ब्रजे कैल परचार,

याँहा शुक व्यासेर नन्दने।

स्थाने स्थाने भागवते, वर्णिवाछे नानामते,

याहा शुनि माते भक्तगणे ॥” (चै. च.)

वैकुण्ठ के भी ऊर्ध्वदेश में विद्यमान गोलोक निखिल जगत् का शिरोमणि स्वरूप है, उस गोलोक की महिमा जो अधिक से अधिक होगी यह कहने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु मर्त्यलोक में प्रकटित मथुरामण्डल में सिथत ब्रजभूमि भी अपनी महिमा में वैकुण्ठ आदि का अतिक्रम किये हुए है। अतएव भौम गोकुल की समधिक महिमा का वर्णन भी कौन करने में समर्थ होगा? हे सखे! मेरी चंचल जिह्वा में खुजली हो रही है, इसलिए चिरकाल तक हृदय-पेटिका में रखे हुए महागोपनीय गोकुल-माहात्म्यरूप महारत्न को तुम्हारे सामने प्रकाशित करता हूँ। (तात्पर्य यह है कि परम रहस्यमय ब्रजधाम और ब्रजलीला की महिमा अत्यन्त सुगोप्य सम्पद् है। सुयोग्य महाभागवतगण इसको अत्यन्त गोपनीय ढंग से हृदय पेटिका में यत्नपूर्वक रखते हैं, किन्तु

उसके योग्य अधिकारी प्राप्त होने से उनके पास प्रकाशित करके परमानन्द लाभ करते हैं। श्रीनारद आज जिह्वा के धैर्याभाव के कारण इसे गापेकुमार के सामने प्रकाश कर रहे हैं, परन्तु वास्तव में तो श्रीगोपकुमार ब्रजरस के उपसक हैं और यह रहस्य सुनने के सुयोग्य अधिकारी हैं इस कारण ही उनके निकट इसे प्रकाशित कर रहे हैं, यह समझना चाहिए।) वे गोलोकनाथ श्रीकृष्ण ब्राह्मकल्प में सप्तम मन्वन्तर में अट्टाईसवीं चतुर्युगी में द्वापर के अन्त में समस्त अंशावतारों को अपने में सम्मिलित कर सर्वांश से परिपूर्णरूप में भौमब्रज में अवतीर्ण होते हैं। श्रीभगवान् अन्यधामों में अन्य परिकरगण के सहित ऐश्वर्यभान की लीला में जो सुख नहीं पाते हैं, ब्रजवासिगण के साथ स्वच्छन्द विहार में उस माधुर्यमय ब्रजजातीय सुखलाभ के लिए मथुरामण्डल के गोकुल में स्वयंरूप अवतीर्ण होते हैं। यद्यपि गोलोकनाथ श्रीकृष्ण स्वयंरूप से ही ब्रज में अवतीर्ण होते हैं, तथापि उनके परम स्वरूप का तत्त्व निरूपण करना सब के लिए सम्भव न होने के कारण कोई-कोई कहते हैं— वैकुण्ठनाथ ही मथुरा में अवतीर्ण हुए हैं; कोई कहते हैं— सहस्रशीर्षा पुरुष, कोई कहते हैं— नर-नारायण, कोई कहते हैं विष्णु, कोई कहते हैं— क्षीरोदशायी और कोई कहते हैं— केशव मथुरा में अवतीर्ण हुए हैं। किन्तु निश्चय सिद्धान्त यह है कि स्वयं भगवान् गोलोकपति श्रीकृष्ण ही क्रीडाविशेष द्वारा माथुर ब्रजभूमि को भूषित करते हैं। (श्रीमद्भागवत में वर्णित— “अवताराह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।” अर्थात् सत्त्वनिधि श्रीहरि के असंख्य अवतार हैं। सब अवतारों का कार्य एक प्रकार का नहीं है, इसलिए कार्य भेद से अवतारों के साधारणतः छः प्रकार के भेद देखे जाते हैं जैसे पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार और आवेशावतार।’ यह वैकुण्ठपति नारायण के कोई अंश कोई कला अवतार हैं। किन्तु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण मूलावतारी हैं और महानारायण के भी परम अंशी हैं मूल अवतारी होकर भी अवतरण— यह दुर्ज्ञेय रहस्य है, जो महानारायण में भी नहीं देखा जाता है। इस दुर्ज्ञेय रहस्य का भेद करने में अक्षम होने के कारण ही विभिन्न लोग श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में भिन्न मत प्रकाश करते हैं। श्रीसूतमुनि सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत में दृढ़भाव से परिभाषा द्वारा श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता स्थापन किये हैं। अन्यान्य मत से जो असत्य हों, ऐसा भी नहीं है। क्योंकि—

“अवतारीर देहे सब अवतारेर स्थिति ।
 केह कोन मते कहे यार येन मति ॥
 कृष्णके कहये केहो नर-नारायण ।
 केहो कहे कृष्ण हय साक्षात् वामन ॥
 केहो कहे कृष्ण श्रीरोदशायी अवतार ।
 असम्भव नहे सत्य वचन सभार ॥
 केहो कहे परव्योमे नारायण करि ।
 सकलि सम्भवे कृष्णे याते अवतारी ॥”

(चै. च.)

हे गोपकुमार! इस स्थान पर ब्रजभाव का विरोधी कोई भी उपस्थित नहीं है, श्रीमान् उद्धव के ब्रजवासीजन परमप्रिय हैं, तुम्हारा भी ब्रजभूमि में जन्म हुआ है, इसलिए यहाँ पर गोलोकमाहात्म्य का वर्णन करने में कोई हानि नहीं है, इसीलिए कुछ गोलोक की महिमा वर्णन करता हूँ। उस मथुरा भूमि में ही प्रभु की महाविभूति, कृपालुता, सरूपता और भक्तवश्यता आदि की माहात्म्य माधुरी पराकाष्ठा को प्राप्त हुई है। उसमें विभूति अथवा ऐश्वर्य की बात सुनो— नन्दब्रज अपने महाविभूति के प्रभाव से ही महालक्ष्मी की विहारभूमि हुआ है, जिसके कृपाकटाक्ष से ब्रह्मा रुद्र आदि को भी ऐश्वर्यलाभ होता है, वह लक्ष्मीदेवी वहाँ असंकोचरूप से विहार करती हैं। (श्रीमद्भागवत में वर्णन है—“ तत आरम्भ नन्दस्य ब्रज सर्व्वसमृद्धिमान् । हरेर्निवासमात्मगुणैरमाक्रीडमभुन्नत्पः ॥” श्रीशुकदेव ने कहा, हे राजन्! श्रीकृष्ण के आविर्भाव के समय से ही नन्दब्रज सर्व्वसमृद्धि से पूर्ण हो उठा एवं श्रीहरि के निवास हेतु अपने गुण से महालक्ष्मी की बिहारभूमि बन गया।) यद्यपि उस ब्रजभूमि की एक-एक वृक्षलता, पत्र, पुष्प आदि याचक की अखिल कामना पूर्ण करने में सक्षम है, तथापि ऐश्वर्य प्रकाश से प्रभु के माधुर्यमय लौकिक विहार के विघ्न के कारण सर्वदा उसे प्रकाशित नहीं करते हैं, माधुर्य लीला की पुष्टि होने से कदाचित वह कर देते हैं। (इस विषय में श्रीमद्भागवत में पाया जाता है—‘ पत्र-पुष्प-फल-छाया-मूल-वल्कल-दारुभिः । गन्ध-निर्यास-भस्मास्थितोक्मै कामान् वितन्वते ॥” अर्थात् वृन्दावन के वृक्षलता, पत्रपुष्प, फल, छाया, मूल, वल्कल, गन्ध, निर्यास आदि द्वारा याचक के समस्त अभीष्ट पूर्ण करते हैं।) इस समय कृपालुता की बात कहते हैं— ब्रज में श्रीभगवान् ने सद्देश (मातृवेश) धारणमात्र से ही बालघातिनी पूतना राक्षसी

को मातृगति प्रदान की है (यह भागवत में प्रसिद्ध ही है।) हे गोपकुमार! सुरूप का विस्तृत वर्णन बाद में करूँगा पहले भक्तवश्यता की बात सुनो! भक्तवश्य प्रभु भगवान् ने दामबन्धन लीला में उदर पर माता यशोदा का बन्धन स्वीकार कर भक्तवश्यता की पराकाष्ठा प्रदर्शित की है। अन्यान्य वात्सल्यवती गोपीगणों के प्रेम में वशीभूत हो उनके मिष्टान्नादि से लुब्ध श्रीभगवान् उनके आदेशानुसार गान-नृत्यादि करते हैं इस विषय में भी श्रीमद्भागवत में सरस वर्णन देखा जाता है। अब सुरूपता की बात सुनो— श्रीकृष्ण की जिस रूपमाधुरी का वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं है, जिसके रूपदर्शन से गो, पक्षी, मृग, तरुलता इत्यादि प्रेमोत्थ सात्त्विक-विकारों से परिप्लुत होते थे। हे वत्स! जो ब्रजांगनागण जग् की महापतिव्रतागण की भी आराध्या हैं एवं जो रूप, गुण और शील में साक्षात् महालक्ष्मी का भी अतिक्रम करती हैं— श्रीकृष्ण का रूप उन ब्रजांगनागण के धैर्य को अनायास ही हरण करता था। यहाँ तक कि उस रूप के दर्शन में बाधा से उत्पन्न होने के कारण वे पलट-सृष्टा विधाता को अभिशाप देती थी, अपराधी होते हुए भी सहस्त्रलोचन कहकर इन्द्र की स्तुति करती थीं एवं उनकी समस्त इन्द्रियाँ नयनरूप में क्यों परिणत नहीं हो जातीं इसीलिए खेद करती थीं। श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी के दर्शन से वे कौन सी अनिर्वचनीय दशा को प्राप्त होती थीं, यह तो वे ही जाने। ब्रजभूमि के प्रभाव से ही श्रीकृष्ण के विभिन्न गुण समूह परम अद्भुतरूप से प्रकाश करते हैं, द्वारका आदि के परिकरगण वह भाव ग्रहण नहीं कर पाते हैं इसलिए श्रीकृष्ण अन्यत्र ब्रजभाव को आच्छादित कर लेते हैं, इस ब्रजभूमि में जिस प्रकार श्रीभगवान् की लीलामाधुरी का प्रकाश है, अन्यत्र (वैकुण्ठ द्वारका आदि में) उस प्रकार कदापि सम्भव नहीं। अब 'मधुरेण समापयेत्' के समान श्रीकृष्ण की अनन्य साधारण ब्रजलीला की माधुरी का कुछ वर्णन करता हूँ, श्रवण करो। जिन भगवान् ने तीन मास के शिशुरूप में शयन अवस्था में एक सुकोमल चरण के स्पर्श से ही प्रकाण्ड शकट-भंजन किया था, स्तन्यपानलीला में जननी को दो बार अपनी मुख विवर में ही समग्र विश्व का दर्शन कराया था, हामागुड़ि-लीला (घुटने चलना) में जिस महामाधुर्य विस्तार किया था एवं गोपीगण के सन्तोष के लिए नवनीत का अपहरण कर जो मधुरातिशय लीला प्रकट की थी, वे लीलासमूह प्रभु श्रीकृष्ण तुम्हारी रक्षा करें। अपनी जननी और गोपीगण के

आक्रोश से भीत होकर उनका जो इधर-उधर चञ्चल दृष्टिपात वह भयविह्वल चातुरी, वह मृत्तिका भक्षण कौतुक दधिमन्थन के समय माता के मन्थनदण्ड धारणादि की लीला, वह रोदन, दधिभाण्ड भंजन, शिका स्थित पात्र से नवनीत हरण, मातृभय से पलायन, व्याकुलता इत्यादि प्रभु के महाअद्भुत लीलाओं के समूह की मेरी रक्षा करें। जननी के पाशद्वारा उदर-बद्ध होकर ओखला आकर्षण एवं उस बहाने से यमलार्जुन-भंजन और कुबेरनन्दन-द्वय के प्रति वरदानलीला मेरा मन हरण करती है। श्रीवृन्दावन में वत्सचारण-लीला करके ही जिन्होंने महाबलशाली वत्सासुर और बकासुर का वध किया था, पशु, पक्षी इत्यादि की चेष्टा और स्वर के अनुकरणकारी, वेणवाद्य के आदिगुरु, मधुर मयूरपुच्छ, गुञ्जामालाआदि के वन्यभूषणों से भूषितवे श्रीकृष्ण मेरी रक्षा करें। जो प्रातःकाल वत्स और सखागण के साथ वृन्दावन में प्रविष्ट होकर मधुर विहार करते-करते ही महासर्परूपधारी अघासुर के बदन विवर में परामर्श पूर्वक प्रवेश कर गए थे एवं उस सर्प का निधन करके मुक्तिदान किये थे, मैं उस रसविहार का भजन करता हूँ। श्रीयमुनातट पर सखा सह पुलिन भोजनकाल में ब्रह्मा द्वारासमस्त वत्सों का हरण करने पर जिन्होंने सखागण को आश्वासित कर दधि-भात के ग्रास से सुशोभित हाथ में वत्सान्वेषणरूप लीला प्रकाश की थी, वह लीलामधुरी मेरे मन को आकर्षित करती है। श्रीब्रह्मा भी जिस विलास-माधुरी के दर्शन से विमुग्ध हुए थे, उस लीलामाधुर्य का वर्णन करने में कौन सक्षम होगा? कहाँ उनकी असंख्य गोवत्स और गोपालक रूपधारी श्रीमूर्ति और कहाँ मुग्ध के समान साश्रुनेत्र से विषन्न-वदन से सखा-वत्स का अन्वेषण! उस विलास के एकान्त आस्पद गोकुल की माहात्म्यराशि— जिनके वर्णन में ब्रह्मा ही अभिज्ञतम हैं उन्होंने प्रेमरसमय श्रीभगवान् का आदर के साथ स्तव किया था एवं गोकुलवासी मात्र के चरणरज से अभिषिक्त होने के लिए तृण जन्म की प्रार्थना की थी। जिन्होंने गोचारणलीला में अग्रज का सम्मान, वृन्दावन की नैसर्गिक शोभा का स्तव एवं भ्रमर गुञ्जन आदि का अनुकरण कर जो माधुर्यमयलीला प्रकट की थी, तुम उस लीलामाधुरी का भजन करो। तालवन में जिन्होंने धेनुकासुर की वधलीला प्रकाश करके सायंकाल गृहागमन के समय व्रजसुन्दरीगण की सहास, सविनय और सलज्ज कटाक्षराशि से अर्चित हुए थे मैं प्रेममोह भय से उस लीला का स्तव भी नहीं कर पा रहा हूँ, केवल भक्तिपूर्वक उस लीला का

अभिवादन करता हूँ। कालीयमहद में श्रीयशोदानन्दन का विहार, जिसमें उनका शोक और आनन्दावेग था वह स्मरण भी नहीं कर पा रहा हूँ (कालीयनाग की दुष्टता की स्मृति से शोक और उसके दमन के निमित्त उसके मस्तक पर प्रभु के नृत्य के आनन्द उसका किस प्रकार वर्णन करूँ? उस दुष्ट के प्रति कहाँ निग्रह और कहाँ उस प्रकार का अनुग्रह, जिस अनुग्रह का सहस्त्रवदन भी वर्णन नहीं कर सकते। जो नागपत्नीगण परम भक्तिपूर्वक श्रीभगवान् का स्तव और अर्चनाकर रही थी, मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। कालीयदह के पास एवं मुञ्जावन दाह दावानल भक्षणरूप जो अद्भुत लीला प्रकटित हुई थी, फिर भाण्डीरवन में जो गोपक्रीड़ा में पराजित होकर श्रीदाम गोप को कन्धे पर चढ़ाना एवं प्रलम्बासुर-वध में श्रीबलदेव की कीर्ति विस्ताररूप लीला प्रकाशित हुई थी, वह लीलायें सब लोगों का मंगल विधान करें। वर्षाकाल में वृक्ष के कोटर अथवा वृक्ष के नीचे आश्रय ग्रहणलीला शरद् में ब्रजांगनागण को स्मर ताप दात्री मनोहर क्रीड़ा की जय हो। श्रीभगवान् के सुन्दर वन्यवेश एवं अखिल चित्तहारी वेणुवादन की माधुर्यधारा में गोपीमोहन आदि कब साक्षात् अनुभव करूँगा? अहो! कहाँ वह कन्यागण की वस्त्रहरणलीला, कहाँ वह कदम्बवृक्ष पर आरोहण व्यग्रता, वह नम्रवचनावली, उनके प्रति अंजलिबन्धन का निर्देश, कहाँ अपने स्कन्ध स्थित वस्त्रसमूह उनको समर्पणरूप लीला और कहाँ मैं? तब भी लीलामाधुर्य के स्वभाव से लोभ सवरण में अक्षम होकर मन में आता है कि कब उस लीलामाधुरी का अनुभव करूँगा? सखागण द्वारा याज्ञिक विप्रगण के समक्ष अन्नभिक्षा, याज्ञिक पत्नीगण का आकर्षण, सखास्कन्ध पर हस्तार्पण पूर्वक अवस्थान, याज्ञिक पत्नीगणके प्रति वाक्य प्रसाद और उनके प्रदत्त अन्नभोजन लीला का स्तव करता हूँ। गोवर्धन पर्वत की वह मनोहर अर्चना, बाँये हाथ पर महागिरिधारण, ब्रजवासिगण का सन्तोषण, इन्द्र का गर्वचूर्ण और सान्त्वना दान, गोमाता के द्वारा गोविन्दाभिषेकलीला की मैं वन्दना करता हूँ। ब्रजवासिजन को वैकुण्ठ प्रदर्शन, वरुणलोक से श्रीनन्द को लाना, और भी जो समस्त भगवत्तत्त्व माधुरी की परमान्त्य सीमा प्राप्त लीला का मैं किस प्रकार वर्णन करूँगा? श्रीकृष्ण की समस्त लीलाओं की अपेक्षा विचार बल में श्रेष्ठ जो ब्रजलीला है, उस अनिर्वचनीय प्रेमरसमयीलीला के अक्षरसमूह भी कान में प्रवेश करने से या दर्शन करने से विशेष प्रेम का उदय होता है जो विचारबल से श्रीकृष्ण लीला

का सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादन करते हैं वे धन्य हैं। परन्तु जो लोग वह लीला कुछ दूर से ही सुनकर प्रेम पूर्ण हो जाते हैं वे तो धन्यातिधन्य हैं, उन सभी श्रेष्ठ पुरुषों को मैं प्रणाम करता हूँ। (श्रुति श्रीभगवान् के स्वरूप को इंगित करते हुए कहती है— “रसो वै स.” “आनन्दं ब्रह्म” अर्थात् श्रीभगवान् आनन्दमय और रसमय है। श्रीभगवान् की लीला से ही उस आनन्दरूपता या रसरूपता की अभिव्यक्ति है। लीला स्वभाव से ही मधुमयी, विविध चमत्कारों से पूर्ण हैं श्रीकृष्ण लीला का माधुर्य सर्वाधिक है। इसका कारण यह है कि ऐश्वर्य के धाम में भगवत्ता के प्रकाश में आदर गौरव के उदय से लीला का रस अथवा माधुर्य कुण्ठित हो जाता है। श्रीकृष्णलीला में भक्त और भगवान् के परस्पर सद्वन्धु बुद्धि से लीला का अनन्तमाधुर्य बढ़ जाता है।

“कृष्णेर यतेक खेला, सर्वोत्तम नरलीला,
नरवपु जाहार स्वरूप।
गोपवेश वेणुकर, नवकिशोर नटवर,
नलीलार हय अनुरूप॥” (चै. च.)

ब्रज में लीलाशक्ति भक्त और भगवान् को किस प्रकार रसस्त्रोत में बहाकर ले चलती है, यह भावना करते ही आश्चर्य चकित हो जाना पड़ता है। भक्त और भगवान् दोनों ही लीला में आत्महारा, लीलारस के स्त्रोत में तैरते तैरते दोनों एक दूसरे को अन्तरतम भाव से आपस में बाँध लेते हैं। माधुर्यमय प्रेम जैसे समस्त व्यवधान को दूर कर भक्त और भगवान् के चित्त को एक साँचे में ही ढाल देता है। प्रेममन्दाकिनी वहाँ तरंग पर तरंग को उठाते हुए सीमाहीन अनन्त की ओर प्रवाहित होती है। वहाँ पर समस्त रस मूर्तिमान् हो जाते हैं, समस्त भाव ही वहाँ सार्थक है। ब्रजलीला में श्रीभगवान् प्राकृत बालक की भाँति माँ यशोदा की ओखली का बन्धन स्वीकार करते हैं, श्रीदाम नामक गोपबाल के साथ खेल में हारकर उसे स्कन्ध पर वहन करते हैं ‘देहि पदपल्लवमुदारम्’ कहकर मानमयीश्रीराधाजी के चरणों में लोटकर अपने को धन्य मानते हैं। श्रीभगवान् का अनन्त ऐश्वर्य ब्रजवासिगण के विशुद्ध प्रेमरससिन्धु में निमग्न हो जाता है, इस कारण ही कहा जाता है कि ब्रज में वे ‘सर्वादभुत चमत्कारलीलाकल्लोलवारिधिः’ है। विशेषरूप से ब्रजसुन्दरीगण के साथ श्रीभगवान् की जो मधुररसमयी लीला है, उसी में लीलाशक्ति का अनन्त वैशिष्ट्य सुरक्षित— यही क्रमशः व्यक्त होगा।

हे गोपकुमार! अहो! अखिल अवतारों से विलक्षण एकमात्र श्रीकृष्ण के ही करकमल में विलास योग्य उनकी प्रिय वस्तु दारुमयी वंशी की महिमा ही स्पर्श करने में जब मेरी रसना समर्थ नहीं हो रही है, तब श्रीभगवान् की शाश्वत वंशीवादन-वैदग्धी का किस प्रकार वर्णन होगा? तथापि मैं उन्हीं के प्रसाद से वंशी की महिमा का यथाशक्ति वर्णन करता हूँ— तुम ध्यान से सुनो। जो कार्य श्रीभगवान् के श्रीमुख से वचनामृत द्वारा एवं उपनिषदरूप वेदवाक्य द्वारा और अन्यान्य पुराणादिशास्त्रवाक्य द्वारा सम्पादित नहीं हो पाया है, दारुमयी वंशी बिम्बाधरस्पर्शमात्र से ही वह सम्पन्न कर देती है। जिस वंशीध्वनिकोसुनकर विमानारूढ़ सुरसिद्धगण वधूगणसह प्रणय के आवेश में मोह प्राप्त हो जाते हैं। महेन्द्र, रुद्र, ब्रह्मादि तत्त्वज्ञगण मुग्ध होकर वेणुनाद के तत्त्व निरूपण में असमर्थ रहते हैं। जिस वेणु के नाद को सुनकर महामुनिगण का ध्यान भंग होता है, देह में प्रेम विकार उत्पन्न होता है, यहाँ तक कि कालचक्र में भ्रमण करते हुए चन्द्र आदि की गति रुक जाती है। अहो! श्रीकृष्ण के बान्धव गोपगण वंशीमाधुरीसे विमोहित होकर अपनी-अपनी दैहिकादि यहाँ तक कि आत्मा पर्यन्त श्रीकृष्ण के समर्पण कर देते हैं। वे अपने आचार-विचार में उदासीन और इस लोक और परलोक से निरपेक्ष होकर कृष्णप्रिया बोध से अपनी भार्या को प्रणाम करते हैं। गोपबालकगण छाया के समान सदा श्रीकृष्ण के संग-संग ही रहते हैं, श्रीकृष्ण के कौतुकवश वनशोभा दर्शन के बहाने थोड़ी दूर जाकर क्षणकाल के लिए अदृश्य होते ही वे व्याकुल हो जाते हैं और उनको देखते ही 'मैं आगे जाऊँगा' 'मैं आगे जाऊँगा' कहते-कहते दौड़ पड़ते हैं और उन्हें स्पर्श कर क्रीड़ासुख का अनुभव करते हैं। मुरलीनादसुनकर परम भगवती श्रीराधिका इत्यादि ब्रजांगनागण अपने-अपने पति और आत्मीयगण का मोह, लोकधर्म, यहाँ तक कि नारी का भूषण लज्जा भी परित्याग कर विषयामृत के समान एकसाथ हर्ष शोकप्रद भाव से तरुगति को प्राप्त हुई थीं, अर्थात् स्थावर के समान समस्त ज्ञान शून्य हो गयीं थी। इस मुरलीनाद के आश्चर्य प्रभाव की बात और क्या कहूँ, जिस ध्वनि को सुनकर गोवत्स, वृष, भैंस आदि पशुगण, हरिण आदि वनचारी पक्षिगण, यहाँ तक कि स्थावर तरुलता, गुल्मादि, नदी का जल, गगनचारी मेघ पर्यन्त ने अपना-अपना स्वभाव त्यागकर दिया था। स्थावर ने जंगम का धर्म और जंगम ने स्थावर का धर्म प्राप्त कर लिया था

अर्थात् अचेतन सचेतन एवं सचेतन अचेतन हो गये थे। वंशीध्वनि के प्रभाव से प्रेमरस में निमग्न होकर सभी स्वेद, कम्प, पुलकादि सात्विक विकारों से परिव्याप्त हुए थे। (श्रीभगवान् की वृन्दावनलीला में जो अनन्य साधारण चार माधुर्य विद्यमान हैं, उनमें वेणुमाधुरी अन्यतम है। “त्रिजगन्मानसाकर्षि-मुरली-कलकूजितः” (भ० र० सि०) मुरली के प्रति रन्ध्र में वेदमन्त्र समूह ध्वनित होते हैं। “शब्दब्रह्ममयं वेणुं वादयन्तं मुखाम्बुजे’ शब्दब्रह्ममय वेणु श्रीकृष्ण के मधुर अधरों पर विन्यस्त होकर उस अधरामृत के सिञ्चन से इतनी मर्मस्पर्शी और सर्वचित्ताकर्षक हो जाती है कि जिसके नाम श्रवण मात्र से ही सब कुछ मधुमय हो जाता है। केवल वृन्दावन में ही नहीं, समस्त विश्व में मुरलीध्वनि मधुरता के प्लावन को जगाती है। श्रीमद् रूपगोस्वामिपाद ने वर्णन किया है—“ रुद्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृति परं कुर्वन् मुहुस्तुम्बुरुं ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान् विस्मापयन् वेधसम्। ओत्सुक्यावलिभिर्वलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन् भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो वभ्राम वंशीध्वनिः॥” (विदग्धमाधव नाटक) गगनचारी मेघ का गतिरोध, गन्धर्वराज तुम्बुरु के हृदय में चमत्कारित्व सम्पादन, सनन्दन आदि का समाधिभंग, ब्रह्मा का विस्मयोत्पादन, बलि राजा का औत्सुक्य, नागराज का मस्तक घूर्णन, ब्रह्माण्ड-कटाह विदारण वंशीध्वनि का कार्य या स्वभाव है। किन्तु श्रीकृष्ण-माधुर्य में पार्थक्य है इसलिए श्रीकृष्ण की अनन्य साधारण माधुरी वेणुनाद का

प्रभाव सर्वातिशायी प्रेमवान् ब्रजवासिगण के निकट ही सर्वाधिक है। विशेषतः महाभाववती ब्रजसुन्दरीगण के निकट यह वेणु बड़ी ही विषम है, इनके प्रति वेणु का आकर्षण अभावनीय है।

“से ध्वनि चौदिकेधाय, अण्डभेदी वैकुण्ठे जाय,

बले पैशे जगतेर काने।

सवा मातोयाल करि, बलात्कारे आने धरि,

विशेषतः युवतिर गणे ॥

ध्वनि बड़ उद्धत, पतिव्रतार भांगे व्रत,

पति कोल हैते टानि आने।

वैकुण्ठेर लक्ष्मीगणे, येवा करे आकर्षणे,

तार आगे क्किवा गोपीगणे ॥

नीवि खसाय पति आगे, गृहकर्म कराय त्यागे,
 बले धरि लय कृष्ण-स्थाने।
 लोकधर्म लज्जा भय, सब ज्ञान विलुप्त हय,
 ऐछे नाचाय सब नारीगणे ॥”

(चै० च०)

हे गोपकुमार! श्रीभगवान् की भगवत्ताविशेष के अर्थात् अनिर्वचनीय पारमैश्वर्यातिशय के भी जो गोप्य या सर्वसार परिपाकमय श्रीश्रीरासलीला, जिसमें श्रीभगवान् ने परमोत्कृष्ट माधुर्य की अन्त्यसीमा प्रकाश की है और जो शत-शत मनोरथ से भी महालक्ष्मीदेवी को भी दुष्प्राप्य है, उस रासलीला की मधुर से भी मधुर-रसवैदग्धी विश्व की कौन सी कृति के मन को आकर्षण न करेगी? मैं भगवान् की उस भावगोपन प्रचेष्टा की प्रशंसा करता, यदि वे गोपीगण के प्रार्थना वाक्य से उसे स्थिर रख पाते, किन्तु वे रख नहीं पाये। उन्होंने उसी क्षण अपना मनोभाव व्यक्त किया था एवं कामकलासमूह के द्वारा मोहित कर उनके साथ क्रीड़ा की थी। विरह रस से विदग्ध श्रीभगवान् की अन्तर्धान लीला को कौन रात्रि दिन गान नहीं करेगा? जिस लीला के प्रभाव से परम धैर्य गाम्भीर्यशालिनी ब्रजसुन्दरीगण को भी उन्मत्तता आदि दशा प्राप्त कराकर उनसे वृक्षलता आदि के निकट कृष्णवार्ता जिज्ञासा एवं भगवल्लीला अनुकरण रूप चेष्टा प्रकाश करवायी थी। हाय! मैं भगवान् से डर रहा हूँ, क्योंकि उनकी लीला अति सुदुर्बोध है। रासान्तर्धान पर जिन्होंने परमप्रियतमा श्रीराधा को सार सौभाग्य प्रदान करके भी शीघ्र ही अन्तर्हित होकर उन्हें रोदनसागर में निक्षेप किया था एवं एकाकिनी असहाय अवस्था में परित्याग कर उन्हें दुःखसागर में निमग्न कर दिये थे। गोपीगण के आर्तनाद एवं अनन्त वेदना जनित गीतवत् रोदन-प्रभाव से आविर्भूत हो उन्हें आनन्दराशि प्रदान की थी, और उनके प्रश्नों का उत्तर देकर अपना ऋणीत्व प्रकाशित किया था— वे श्रीभगवान् तुम्हारी रक्षा करें। प्रभु की वह मण्डलीबन्धन चातुरी, नृत्यगीत आदि कला में दक्षता, वह अपूर्व शोभाधिक्य परम्परा, वह विश्वमोहिनी लीला मेरे चित्त का हरणकरती है। (श्रीरासलीला सर्वलीलामुकुटमणि है। यद्यपि ब्रज की समस्तलीला ही मधुमयी है, तथापि रासलीला के समुज्वलरस में श्रीभगवान् आत्महारा हैं। “सन्ति यद्यपि में प्राज्या लीलास्तास्ता मनोरहाः। नहि जाने स्मृते रासे मनो में कीदृशं भवेत् ॥”

श्रीभगवान् ने कहा— मेरी बहुत सी मनोहर लीलाएँ हैं, किन्तु रासलीला की स्मृति से मेरा मन किस प्रकार हो जाता है वह मैं स्वयं नहीं समझ पाता हूँ। रासमें ब्रजसुन्दरीगण के उच्छलित महाभावसिन्धु के तरंगाघातों से साक्षात् शृंगार आनन्दघनविग्रह रसिकराज श्यामसुन्दर के मन में इस प्रकार के अद्भुत आनन्द स्पन्दन की सृष्टि होती है कि उस आनन्दरस में उनकी सर्वज्ञतादि शक्ति डूब जाती है। श्रीमद् जीवगोस्वामिपाद ने कहा है— “रासः परमरसकदम्बमय इति योगिकार्यः।” अर्थात् रासलीला परमरसकदम्बमय यहीरास शब्द का यौगिकार्य है। आनन्द चिन्मयरस प्रेम जब चरमोत्कर्ष अवस्था को प्राप्त करता है, तभी उसका नाम होता है—“परमरस”। महाभाव ही प्रेम की चरमोत्कर्ष अवस्था है, अतएव महाभाववती ब्रजसुन्दरीगण का प्रेम ही परमरस है। उस परमरस समूह का वैचित्र्यमय प्रकाश जिस लीला में विद्यमान है, वही रासलीला है। इसलिए श्रीजीवगोस्वामिपाद के यौगिकार्य का तात्पर्य यह है कि असमोद्ध सौन्दर्य-माधुर्यमय श्रीकृष्ण के अखण्डरूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श के गोपीगण के महाभावाख्य प्रेम द्वारा पूर्णरूप से आस्वादनोल्लासमयी जो लीला और रसिकशेखर श्रीकृष्ण द्वारा महाभावख्य प्रीतिरस वासित श्रील ब्रजदेवीगण के रूप, रस, गन्ध, शब्द स्पर्श के सम्यक् आस्वादनोल्लासमयी जो लीला, उसी का नाम ‘रासलीला’ है।

“राधिकादि लैया कैल रासादि विलास।

वाञ्छाभरि आस्वादिल रसेर निर्यास ॥” (चै० च०)

‘रस’ शब्द के उत्तर समूहार्थे ‘ष्ण’ प्रत्यय करके रास शब्द निष्पन्न होता है। रास शब्द का अर्थ आस्वादन एवं ‘ष्ण’ प्रत्यय का अर्थ ‘समूह’ है। अर्थात् जिस लीला में विचित्र आस्वादन समूह विद्यमान हो— वही रासलीला है। श्रीभगवान् को माधुर्य आस्वादन कराना ही भक्ति साधना का चरम लक्ष्य है। इस रासलीला में माधुर्य-मूर्ति श्रीगोविन्द और प्रेमघनमूर्ति श्रीब्रजबालागण के परस्पर के सान्निध्य में आपस में जो निरतिशय सौन्दर्य विकसित होता है, उसकी स्मृति से भक्त का हृदय प्रेमरस में निमग्न हो जाता है। श्रील शुकदेव इस शोभा को इंगित करते हुए कहते हैं— “तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः। मध्ये मणीनां हैमानां महामारकतो यथा।” (भा० 10/33/6) श्रीरासमण्डल में ब्रजगोपीगण के बीच में भगवान् श्रीकृष्ण हेममणिगण के मध्य महामरकतमणि के समान निरतिशय शोभायमान हो रहे थे। महाजनों ने

प्रेमतूलिका से सुनिपुण चित्रकार के समान जो एक मनोज्ञ चित्रांकन किया है सत्य ही वह भावराज्य में अतुलनीय है।

“काञ्चन मणिगणे, जनु निरमायल, रमणीमण्डल साज।

माझहि माझ, महामरकत सम, श्यामरु नटवर राज ॥

धनि धनि अपरूप रास-विहार।

थिर विजुरी संगे, चञ्चल जलधर रस वरिषय अनिवार ॥

कत कत चाँद, तिमिर पर विलसइ, तिमिरहु कत कत चाँदे।

कनक लताये, तमालहु कत कत, दुहुँ दुहुँ तनु तनु बाँधे ॥

कत कत पदुमिनी, पञ्चम गायत, ? मधुरकर धर श्रुति भाष।

मधुकर मेलि कत पदुमिनी गायत, मुगधल गोविन्ददास ॥”)

जो श्रीकृष्ण पदकमल के मकरन्द पान में लुब्ध है वे ही रस रासरसास्वादन परायणा गोपीगण के तत्त्व अवगत हो सकते हैं। ये जो तुम्हारे निकट साक्षात् वर्तमान हैं, यह श्रीउद्धव महाशय ही उनके परम महत्व अवगत हैं, जिस कारण यह गोपीगण की चरणधूलि से अभिषिक्त होने की आशा से ब्रज में तृण-गुल्म आदि के जन्म की प्रार्थना किये हैं। जिसको जिस वस्तु से लोभ होता है, वे ही उस वस्तु के तत्त्व एवं उस वस्तु के अधिकारी के भाग्य महिमा अवगत हो सकते हैं, जिस प्रकार गोपिकागण मुकुन्द के अधर-रससुधा पान से लुब्धा होने के कारण ही मुरली की सौभाग्यराशि का गान करती थी। ब्रजवासिगण के प्रति श्रीकृष्ण की जो महा अद्भुत प्रेमपूर्ण आसक्ति है, उस आसक्ति के लिए ही स्तवन अपने ज्येष्ठ पुत्र ब्रह्मा बार-बार प्रणाम करने पर भी उनके प्रति दृष्टिपात भी नहीं किया।.....। न जाने ब्रजवासिगण किस एक विचित्र मन्त्रौषधि द्वारा श्रीकृष्ण को वशीभूत और मोहित किये हुए हैं, जिस कारण से उनके पादपद्म ही जिसकी एकमात्र गति है, इस प्रकार भक्त हमें भी क्षण काल के लिए सम्भाषित करने में उत्साह प्रकाश नहीं करती है। श्रीकृष्ण के प्रति भी ब्रजवासिगण की आसक्ति अनिर्वचनीय है। जो श्रीभगवान् की अखिल भगवत्ता भूलकर उन्हें नन्दकुमाररूप से ही जानते हैं और विविध सेवा करके भी अतृप्तिवश महाआर्त्तिभरा समय व्यतीत करते हैं। यदि कोई कहे कि वे श्रीभगवान् की विशेष महिमा से अवगत नहीं हैं, इसी कारण आर्त्तिभरा समय बिताते हैं, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। वे कालातीत ब्रजवासीगण निखिल ज्ञान-सम्पत्तिभाजन हमारे भी पूज्यपाद हैं। फिर वैकुण्ठवासीगण से भी परमोत्कृष्ट

आनन्दराशि का जो हर समय भोग करते हैं, वे द्वारकावासी उद्धव आदि यादव समूह के भी पूज्यपाद होते हैं। श्रीकृष्ण ने उन्हें विचित्र विलास आदि के द्वारा मोहित कर लिया हो, ऐसा नहीं है, किन्तु वे उनके विचित्रभाव से स्वयं ही मोहित हुए थे, क्योंकि मैं ब्रज में जाकर ब्रजवासियों को भावमुग्ध भगवान् की स्तुति के द्वारा कंस-कारणरूप देवकार्य को स्मरण कराया था यदि कहो कि श्रीकृष्ण यदि ब्रजवासिगण के इतने ही अधीन थे तो वे ब्रज छोड़कर मथुरा गये ही क्यों थे? उसके उत्तर में कहता हूँ— यादवगण के हितैषी बुद्धिमान् अक्रूर देवकी-वसुदेव एवं यादवगण के तमाम कष्टों की याद दिलाकर मृदुलचित्त श्रीकृष्ण को जैसे बलपूर्वक ही मथुरा ले गये थे। फिर भी वे ब्रजवासिगण का कभी भी त्याग नहीं कर पाये। वे मथुरा से बार-बार ब्रजागमन करते थे, फिर स्थिर भाव से ब्रज में सदा वास भी करते थे और ब्रजवासीगण के साथ क्रीड़ा करते थे। (भौमब्रज में प्रकट-प्रकाश में ही श्रीकृष्ण का मथुरा गमनागमन होता है, इसलिए प्रकट लीला में ही श्रीकृष्ण के साथ ब्रजवासिगण का विरह घटित होता है। फिर जब वे श्रीकृष्ण विरह में एकान्त व्यग्र होते हैं तो श्रीकृष्ण सहसा उनके सम्मुख आविर्भूत होकर विरह-ज्वाला शान्ति करते हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत में कुरुक्षेत्र में मिलित श्रीराधारानी के प्रति श्रीकृष्ण की उक्ति के अनुरूप विषय वर्णित है—

“राखिते तोमार जीवन, सेवि आमि नारायण,
तार शक्त्ये आसि निति निति।
तोमा सने क्रीड़ा करि, नित्य याइ यदुपुरी,
ताँहा तुमि मान मोर स्फूर्ति ॥
मोर भाग्ये मो विषये, तोमार ये प्रेम हये,
सेइ प्रेम परम प्रबल।
लुकाइया आमा आने, संग कराय तोमा सने,
प्रकटेइ आनिवे सत्वर ॥”

फिर अप्रकट-प्रकाश में श्रीकृष्ण वृन्दावन त्यागकर कही नहीं जाते हैं, सर्वदा ब्रज में ही क्रीड़ा करते हैं। “वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छामि” “गो-गोप-गोपिका संगे सदा क्रीडति कंसहा।” इत्यादि शास्त्रवाणी ही इसका प्रमाण है। श्रीनारद प्रकट और अप्रकट दोनों लीला अवलम्बन से मथुरा गमनागमन एवं ब्रज में स्थिर भाव से वास और क्रीड़ा की बात कहते हैं, ऐसा समझना चाहिए।)

हे गोपकुमार! श्रीकृष्ण परम कौतुकी ब्रजवासीगण के विरह जनित भावतरंगमाला से परिशोभित उनकी किसी रहस्यमय चेष्टा समूह का निरीक्षण करने के लिए श्रीवृन्दावन के निकुंज में ही बीच-बीच में अन्तर्हित के समान आत्मगोपन करते हैं एवं विविध छल अवलम्बनपूर्वक ब्रजवासिगण के सामने भी प्रवास के बहाने से अन्तर्हित हो जाते हैं मेरे मन में आता है कि वदान्य-चूड़ामणि प्रभु अपने परमप्रिय ब्रजवासीगण को कोई एक सुदुर्लभ वस्तु प्रदान करने के लिए ही इस प्रकार की अन्तर्धाना-लीला का अनुष्ठान करते हैं (विरहदशा में मिलन की अपेक्षा भी अधिकतर भगवत् माधुर्य की स्फूर्ति होती है एवं मिलनानन्द अपेक्षा भी किसी अनिवर्चनीय रसमाधुरी का आस्वादन लाभ होता है। “संगम विरह विकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः। संगे सैव तयैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे ॥” (प्राचीन-श्लोक)। अर्थात् मिलन और विरह के बीच सुधीजन विरह का ही अधिक उत्कर्ष या श्रेष्ठत्व वर्णन करते हैं, क्योंकि मिलन में श्रीकृष्ण एकाकी ही क्रीड़ा करते हैं किन्तु विरह में त्रिभुवन कृष्णमय हो जाता है। यद्यपि विरह में बाहर महाआर्तिमय दुःख-चिन्ह प्रकाशित होते हैं, फिर भी अनन्त में आनन्द का प्रबल स्रोत प्रवाहित होता रहता है। इसीलिए श्रीभगवान् ब्रजवासीगण को बीच बीच में विरह देकर उस रस का आस्वादन दान करते हैं एवं उनके विरह रस के आस्वादन से स्वयं भी धन्य होते हैं। फिर विरह को अवसान होने पर मिलनानन्द का विपुल चमत्कारित्व सम्पादित होता है, इसलिए श्रीमद् रूपगोस्वामिपाद विरह को मिलन का पुष्टिकारक कहते हैं एवं सुदूर प्रवास के बाद मिलन ही समृद्धिमान् सम्भोग का वर्णन किया है। फिर विरह दशा में ब्रजवासीगण के प्रेम के प्रबल पराक्रम को प्रकाशित करने के कारण विश्ववासियों को उस प्रेम की महिमा दिखाकर श्रीभगवान् जगत् का भी कल्याण-साधन करते हैं। श्रीउद्धव महाशय ही ब्रजरमणीगण की विरह-दशा में उनके प्रेम के प्रबल उच्छ्वास का दर्शन कर मन में स्वयं को कृतार्थ माने थे एवं यह विरह मानो उद्धवादि भक्तगण के प्रति अनुग्रह के निमित्त ही प्रकाश पाया था इस कारण वे सानन्द बोले थे— “विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृतः” हे महाभाग्यवतीगण! आप लोगों का यह जो विरह है, यह केवल मेरे जैसे जन को इस प्रकार की प्रेममहिमा लिखाकर कृतार्थ करने के लिए ही है। वस्तुतः इस प्रकार के महान् प्रेम में कभी भी विरह हो ही नहीं पाता है, अतएव यह बहिरंग-विरहमात्र है” इस सब निगूढ़ कारण से ही श्रीभगवान् प्रकटलीला में

ब्रजवासीगण को त्यागकर मथुरा गये थे। यह ब्रजवासीगण के प्रति श्रीभगवान् की उपेक्षा तो है ही नहीं— अधिक से अधिक प्रेमवश्यता की ही विशेष पराकाष्ठा समझनी होगा।)

हे गोपकुमार! वे भगवान् श्रीकृष्ण जिस प्रकार भौमब्रज में क्रीड़ा करते हैं, ऊर्ध्व गोलोक-वृन्दावन में भी उसी प्रकार से क्रीड़ा करते हैं। केवल ऊर्ध्व और अधः रूप से ही गोलोक और गोकुल का भेद माना जाता है, वस्तुतः कोई भी भेद नहीं है। गोकुल में भी गोलोक के समान ही श्रीभगवान् नन्द आदि गोपगण के साथ सर्वदा क्रीड़ा करते हैं, किन्तु प्रकटकाल भिन्न अन्य समय वह लीला सब के नयन गोचर नहीं होती है, केवल प्रेमिक भक्तगण ही प्रेमदृष्टि द्वारा उसे अनुभव करते हैं। गोलोक में श्रीभगवान् वैकुण्ठ की भाँति ही गोलोकवासीगणों के साथ सर्वदा स्वच्छन्दरूप से विहार करते हैं जिस उपाय द्वारा साधक गोलोक गमन कर सकते हैं, उसी तरह के उपाय द्वारा ही भौमब्रज में क्रीडारत प्रभु की लीलादर्शन करने में सक्षम हो सकते हैं। (इसे भौमब्रज के अप्रकट-लीलाकाल की ही बात जानना चाहिए, क्योंकि प्रकट लीलाकाल में तो भौमब्रज की लीला असुर आदि के भी नयन गोचर होती है।) हे तात! तुम उस प्रकार की परम दुर्लभतर गोपालदेव के पदकमलयुगल की वह लीला-विनोद माधुरी दर्शन करने के लिए उत्सुक क्यों हो? हे भ्रातः! इसे सत्य जानना कि गोलोक प्राप्ति अत्यन्त कठिन है एवं गोलोक प्राप्ति का साधन भी तदनु रूप कठिन है— यह मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ। जीवसमूह प्रायः हिताहित विचारशून्य हैं उसमें अल्पसंख्यक मनुष्यगण ही हिताहित-विवेक विशिष्ट है। फिर उन मनुष्यगण में अल्पसंख्यक व्यक्ति ही सदाचार विशिष्ट है। उन सदाचारी मनुष्यगण में फिर अनेक ही अर्थ और काम परायण हैं, कदाचित कोई धर्म में निरत हैं, किन्तु वह धर्म भी फिर प्रायः स्वर्ग साधक ही हुआ है। धर्मरत मनुष्यगण में अल्पसंख्यक निष्काम धर्म का अनुष्ठान करते हैं, उन में कोई मुमुक्षु होते हैं। उनमें फिर कदाचित कोई परमहंस अथवा जीवन्मुक्त कहे जाते हैं, उनमें से कोई-कोई मुक्तिलाभ करते हैं। उस प्रकार के मुक्तगण में कोई महाशय भगवद्भक्ति परायण होते हैं उन भक्तगण के बीच भी फिर श्रीमन्मदनगोपालपादपद्म के सौहार्द-विशिष्ट भक्त तो अत्यन्त दुर्लभ हैं— यह तो सुनिश्चित है। इस प्रकार साधक की भिन्नता के अनुसार ही साधनरीति का और उसी प्रकार के शास्त्र वचनों का भी

उत्तरोत्तर विरलत्व समझना चाहिए। उन मदनगोपालचरणकमल के सौहार्द विशिष्ट महात्मागण के बीच भी फिर जो किसी-किसी विषय में रहस्यमय वैशिष्ट्य है, उसे वर्णन करने का मैं अधिकारी हूँ। (यहाँ पर श्रीनन्दनन्दन के पादपद्म-युगल के प्रेमिक भक्तगण के बीच भी गोपिका सदृश भाववस्तु परम दुर्लभतम, उसका वैशिष्ट्य महारहस्य की पराकाष्ठा स्वरूप कहकर ही श्रीनारद वह वर्णन करने में स्वयं के अनधिकार की सूचना कहते हैं।)

श्रीगोपकुमार बोले— हे ब्रह्मन्! श्रीनारद ने सब बात कहकर दैन्यभरे श्रीउद्धव को आलिंगन किया एवं विनय के साथ गद्गद् वाणी से इस विषय में उनसे कुछ कहने के लिए अनुरोध किया। श्रीउद्धव ने प्रेमातुर होकर बार-बार मस्तक नीचा करके प्रणाम करते-करते कहा— मैं उन नन्दव्रजस्त्रीगण के चरणरेणु की बारम्बार वन्दना करता हूँ। एकक्षण बाद ही वे महाप्रेमार्ति से व्यग्र होकर दन्त में तृण धारण-पूर्वक श्रीनारद के पादयुगल धारण कर फिर बोले— अहो! जो सब गोपी दुस्त्यज स्वजन और आर्यपथ परित्याग कर श्रुति के भी अन्वेषणीय श्रीमुकुन्द की श्रीचरणपदवी का भजन करती है, मैं श्रीवृन्दावन में तृण गुल्म आदि जन्म लाभकर क्या कभी उस गोपीपदरेणु को मस्तक पर धारणकर धन्य हो पाऊँगा? बाद में श्रीउद्धव महाशय अधिकतर प्रेमपरिपाकज महाविकार ग्रस्त होकर कूद कर बोलने लगे— रासोत्सव में श्रीभगवान् के वाहुदण्ड द्वारा गृहीतकण्ठा ब्रजसुन्दरीगण को श्रीभगवान् का जो प्रसाद प्राप्त हुआ था, नितान्त अनुरक्ता सर्वदा वक्षःस्थलवासिनी श्रीलक्ष्मीदेवी को भी श्रीहरि का वह प्रसाद प्राप्त नहीं हुआ, पद्म के समान जिनके श्रीअंग की गन्ध और कान्ति भू, लीला इत्यादि वैकुण्ठेश्वर की प्रियागण भी वह लाभ नहीं कर पाती हैं, अन्य स्त्रीगण की बात दूर ही रहने दो, वह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं है। भगवान् श्रीनारद श्रीउद्धव की यह बात सुनकर एवं उस प्रकार की भावचेष्टा का अवलोकन कर अत्यन्त विस्मित हुए एवं बाद में मुझे दुःखी देखकर बोले— हे गोपकुमार! यह श्रीमान् उद्धव निखिल भगवद्भक्तगण के श्रेष्ठतम होकर भी जब वृजस्त्रीगण के पदाम्बुजरेणु की बारम्बार वन्दना करते-करते उन गोपी पदकमल के एकमात्र रेणुकण स्पर्श के सौभाग्ययुक्त तृण-जन्म की प्रार्थना कर रहे हैं, तब इस प्रकार के गोपीगण की महिमा वर्णन करने में यह क्षुद्रजीव किस प्रकार समर्थ होगा? तथापि मेरी चपल जिह्वा धैर्य रक्षा नहीं कर पाती है। हे गोपपुत्र! प्रेमातुर भक्तगण के मध्य श्रेष्ठ एवं श्रीभगवान् के परम

करुणासार-भाजन श्रीमान् उद्धव यदि उनकी महिमा का कीर्तन करे, तो वह सुसंगत होगा। क्योंकि श्रीभगवान् की कृपा से इन्होंने नन्दब्रज में जाकर गोपीगण के प्रेम की महिमा साक्षात् अवलोकन की है एवं ब्रजगोपीगण का प्रसाद विशेष भी प्राप्त हुआ है, इसलिए श्रीकृष्ण संगमसुख भी भूलकर उन्होंने बहुत दिनों तक ब्रज में वास करने का सौभाग्य लाभ किया थां श्वफल्क पुत्र वृद्ध अक्रूर भगवत् पितृव्य होकर भी नीरस ज्ञान से शुष्क और दयाहीन कठिनचित्त और ब्रजजन के प्रति कृतापराध क्रूरकर्मा कहकर ख्यात हैं, इसलिए कंस प्रेरित दूतरूप से ब्रज में गये थे। उन्होंने भी गमनकाल में पथ के मध्य में श्रीकृष्ण पदकमल का ध्यान करते हुए गोपीगण की परम महान् उत्कर्षराशि का वर्णन कर उनके माहात्म्य का स्थापन किया था। वे अपनी धृष्टता की बात न सोचकर गोपीगण के माहात्म्य वर्णन द्वारा श्रीकृष्ण के परम प्रकर्ष का वर्णन किया था, गोपीगण की महिमा वर्णन के प्रभाव से ही उनका कठिन हृदय भी द्रवीभूत हुआ था। अक्रूर के वर्णन इस प्रकार है—“ब्रह्मा-महादेव आदि देवगण, लक्ष्मीदेवी, मुनिगण और भक्तगण जिन चरणकमलों की अर्चना करते रहते हैं, उन्हीं चरणकमलों के द्वारा वे गोचारण के लिए वृन्दावन के प्रति वन में भ्रमण करते रहते हैं, जो चरण गोपीकुचकुंकुम के अरुणराग से सुरंजित रहते हैं, मेरे उन चरणतल में पतित होने से क्या वे अपने करकमलों मेरे मस्तक पर स्पर्श करेंगे? कालरूप भुजंग के भय से उद्विग्न व्यक्ति जिस करकमल का स्मरण करते ही अभय प्राप्त करता है, जिस करकमल की पूजा से इन्द्र को अश्वमेघयज्ञ का फल प्राप्त हुआ था और बलि महाराज को तीनों लोकों का आधिपत्य प्राप्त हुआ था, सर्वोपरि रासक्रीड़ा के समय जिस मनोहर और परमानन्दमय सुगन्धित करकमल के स्पर्श से ब्रजवालागण का रासविहार का श्रम विनष्ट हुआ था।” (श्रीकृष्ण के श्रीचरणकमल की महिमा वर्णन में गोपीकुच कुंकुम के संस्पर्श से श्रीचरण-महिमा की जो सर्वाधिक अभिव्यक्ति हुई थी, श्रीअक्रूर महाशय का भाव इस रस के अनुपयोग होते हुए भी वह स्वप्रकाश गोपीकुचकुंकुम की महिमा श्रीअक्रूर के वचनों से स्वयं स्फुरित हुई है) जो श्रीचरण ब्रह्मा, महेश्वर, लक्ष्मीदेवी इत्यादि परम अधिकारीगण एवं निखिल भक्तवृन्द के समृद्धिकारक हैं, गोपीकुचकुंकुम उन श्रीचरणों का भी समृद्धिकारक है। इस रूप से अक्रूर के वचनों से गोपीगण की महामहिमा सूचित हो रही है। इस

कुंकुम का इतिहास इस प्रकार है कि पूर्वाग दशा में श्रीकृष्ण के वंशीनाद सुनकर श्रीराधारानी प्रेममूर्छिता हो जाने पर श्रीराधा की प्रेममूर्छा को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण के चरणकमल श्रीराधा के वक्ष पर विन्यस्त होने से श्रीराधा के वक्ष का कुंकुम श्रीकृष्ण के चरणकमल पर लग गया था, उस कुंकुम के प्रभाव से श्रीचरणों की महिमा सर्वाधिक विकास को प्राप्त हुई थी— श्रीमद्भागवत में “पूर्णाः पुलिन्द्य” इत्यादि श्लोक में इसका वर्णन हुआ है। श्रीमद् जीवगोस्वामिपाद ने श्रीगोपालचम्पू ग्रन्थ में इस श्लोक का जो सुचारु और सामंजस्यपूर्ण व्याख्या कौशल प्रकाश किया है, वह रसिक भक्तगण के लिए विशेष आस्वाद्य हैं। प्रश्न हो सकता है कि, श्रीअक्रूर महाशय श्रीकृष्ण के पितृव्य हैं, उन्होंने गोपीकुचकुंकुम का प्रसंग किस प्रकार उपस्थित किया ? इसका उत्तर यह है कि श्रीअक्रूर महाशय नारदादि के मुख से श्रीकृष्णलीला श्रवणप्रसंग में अवगत हुए थे एवं परमभक्तिपूर्वक प्रेममहिमा की ओर ध्यान देते हुए ही वह वर्णन किया है, रासलीला-व्यंजक मधुरभाव की कोई स्मृति उनके चित्त में उदित नहीं हुई, अतएव यहाँ रसविरोध की कोई सम्भावना नहीं है।)

कुरु-पाण्डवगण के पितामह श्रीभीष्मदेव ने नैष्ठिक ब्रह्मचारी और धर्मपरायण होकर भी अन्तिमकाल में श्रीभगवान् के स्तव में ब्रजांगनागण का परमोत्कर्ष निरूपित किया था —“इन श्रीनन्दनन्दन ललितगति, विलास, रमणीय हास्य एवं प्रणयदृष्टि द्वारा जो गोपबधूगण का मानवर्धन किया था, और उन्होंने भी इस लोक और परलोक में पूर्णरूपेण अनुसन्धान रहित होकर श्रीकृष्णलीला का अनुकरण कर इसका स्वभाव और प्रकृति प्राप्त की थी।” (शरशैय्या पर अन्तिमकाल में श्रीकृष्ण दर्शन के लिए प्रतीक्षारत इच्छामृत्यु प्राप्त कुरुवृद्ध भीष्मदेव को भी श्रीकृष्ण की कृपा से स्वप्रकाश रासलीला की स्फूर्ति प्राप्त हुई थी एवं ब्रजगोपीगण जो रासान्तर्धान श्रीकृष्ण-विरह में प्रेमोन्मत्तदशा में श्रीकृष्णलीलानुकरण कर उनके स्वभाव को प्राप्त हुई थीं, यह वर्णन कर गोपीप्रेम की महामहिमा प्रकटित कर रहे थे। गोपीगण श्रीकृष्णानुकरण से श्रीकृष्ण के स्वभाव को प्राप्त हुई थीं कहने से उनके स्वयं के स्वभाव की विच्युति घटित हुई थी एवं वे श्रीकृष्ण के साथ अद्वैतभाव को प्राप्त हुई थीं— ऐसा नहीं था। यह उनकी प्रेम तन्मयता की ही चरणपरिणति है। विरहोत्कण्ठा के प्राचुर्यवशतः या ऐकान्तिक प्रेम के स्वभाववशः ही उनमें यह प्रियतन्मयता उत्पन्न हुई थी एवं वे कृष्णमयी हो गयी थीं इससे

उनके प्रेमरस के विपुल प्रभाव की ही अभिव्यक्ति होती है, ऐसा समझना चाहिए।) हे गोपकुमार! श्रीभगवान् की महिमाभिज्ञ भीष्मदेव की बात क्या कहूँ, ज्ञान विशेषविहीना अबलाजाति कौरवेन्द्र-पुरस्त्रीगण भी हस्तिनापुर से द्वारका गमन के समय श्रीकृष्ण के दर्शन परस्पर वार्त्तालाप के प्रसंग में कहती हैं— हे सखि! श्रीकृष्ण की विवाहिता रुक्मिणी इत्यादि महिषीगण के जन्मान्तर में कितने पुण्यजनक कर्म किये थे जिनके फलस्वरूप श्रीकृष्ण के अधरामृत-पान का सौभाग्य लाभ किया है एवं उनकी भी अपेक्षा वृजरमणीगण परम धन्या है, जो इस अधरामृत के स्मरणमात्र से ही परम प्रेमपूर्ण मोहिता हो जाती है।

श्रीगोपकुमार बोले— हे ब्रह्मन्! श्रीनारद ने यह बात कहते-कहते मुझे आलिंगन किया एवं अश्रु, कम्प, पुलकादि प्रेमसिन्धु की तरंगमाला में मग्न हो गये। बाद में गोपीगण के महोत्कर्ष वर्णन लोलुप रसना को दाँतों से काटते हुए विचित्र भाव दशा को प्राप्त हुए। क्षणकाल के पश्चात् स्वस्थ होकर मेरी दीनदशा को देखकर मधुर वचनों से मुझे सान्त्वना देते हुए फिर बोले— हे गोपकुमार! मैंने अब तक जो वर्णन किया उसे सदा सर्वत्र गोपन रखना, जहाँ परमैश्वर्य प्रकटित हो उस स्थान पर विशेष रूप से छिपा कर रखना। इसीलिए मैंने वैकुण्ठ में तुम्हारे पास यह रहस्य व्यक्त नहीं किया था, तुम्हारी भाव माधुरी से चंचल होकर यहाँ कुछ वर्णन किया। हे गोपकुमार! मैं अपनी, उद्धव की एवं तुम्हारी शपथ करके कहता हूँ कि यहाँ रहने से वह गोलोकप्राप्ति दुर्लभ एवं उसका साधन भी दुःसाध्य है, इसे ध्रुव सत्य जानना। किन्तु तुम इस समय एक हितोपदेश श्रवण करो, तुमने पहले पृथ्वी पर जिस पुरुषोत्तम क्षेत्र को देखा है, इस द्वारका से थोड़ी ही दूर पर वही क्षेत्र उसी रूप में विराजमान हो रहा है। श्रीभगवान् वहाँ (पृथ्वी के पुरुषोत्तम क्षेत्र) पर श्रीसुभद्रा-बलदेव के सहित जिस रूप में लीलाविनोद प्रकाश करते हैं, यहाँ पर भी उसी प्रकार विनोद क्रीड़ा करते हैं एवं गोवर्धन, वृन्दावन और यमुनातीर का लीला विनोद भी प्रकट करते हैं। सभी अवतारों के निदान श्रीपुरुषोत्तम भक्त के अभीष्ट स्वरूप की भक्त को दिखा देते हैं। मथुरा के समान ही वह क्षेत्र भी उनका प्रिय है, वहाँ परमैश्वर्य का प्रकाश होते हुए भी लौकिक व्यवहार में वह ऐश्वर्य रमणीय ही प्रतीत होता है। यदि वहाँ जाकर भी तुम्हारा मनोरथ पूर्ण न हो, तो वहाँ अवस्थान करने से तुम्हारे इष्ट प्राप्ति के साधन का संयोग

बनेगा, कारण यह है कि वह स्थान माथुर ब्रजभूमि के समान है। श्रीगोपीनाथ चरणारविन्द युगल के प्रति ब्रजवासिगण जिस प्रकार का प्रेम-प्रकाश करते हैं, तुम उस सजातीय प्रेम को ही अपने अभीष्ट प्राप्ति का उपाय जानना, अन्य साधना से ब्रजप्रेम लाभ नहीं होता है। उस प्रेमलाभ का एकमात्र उपाय श्रीकृष्ण की कृपा है, कोई अकस्मात् अर्थात् बिना साधन के उनकी कृपा से प्रेमलाभ करते हैं, और कोई कोई उनकी कृपा से साधन प्राप्त कर साधनक्रम से प्रेमलाभ करते हैं। जिस प्रकार किसी उदार दाता के पास से कोई क्षुधार्त व्यक्ति पका हुआ अन्न प्राप्त करता है और कोई क्षुधार्त व्यक्ति चावल, बर्तन और लकड़ी आदि पकाने की सारी सामग्री प्राप्त करता है। (श्रीमदरूपगोस्वामिपाद ने भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ में पूर्वविभाग की साधन-भक्ति-लहरी के अन्त में लिखा है— “कृष्णतद्भक्तकारुण्यमात्रलाभैक हेतुका।” श्रीकृष्ण और उनके भक्त की कृपा ही राग-भक्ति में प्रवृत्ति का एक मात्र सर्वोत्तम कारण है। यद्यपि भक्तिमात्र ही कृपा से लाभ होती है, फिर भी विधिमार्ग में कभी कभी कर्मादि समर्पण द्वार-स्वरूप हो जाता है; किन्तु रागानुगा मार्ग में सर्वथा कृपा ही एकमात्र कारण है। (श्रीजीवटीका)। बिना साधन के श्रीकृष्णकृपा से जो सहसा प्रेम का आविर्भाव होता है, यह अत्यन्त विरल है, प्रायः साधना से ही प्रेमलाभ होता है। कलियुग-पावनावतार श्रीमन्महाप्रभु ने जो अपने प्रकटकाल में बिना विचारे कलि के दुर्गत जीवसमूह को प्रेमदान किया है, यह केवल ब्रह्मा के एक दिन में एक बार ही श्रीमन्महाप्रभु के आविर्भावकाल में विशेष कलि-सम्बन्ध में ही जानना चाहिए। प्रायः साधन द्वारा ही प्रेम लाभ करना होता है, वह साधन भी श्रीकृष्ण कृपा से ही लभ्य जानना चाहिए।)

अब मैं शास्त्रानुसार उस प्रेम के साधन को बोलता हूँ, श्रवण करो। लौकिक सद्बन्धु-बुद्धि से भय आदर आदि जनित विघ्न दूर हटाकर लोभ के अनुसार ब्रजगोपगोपी के दास्य की कामना करके यह प्रेम अर्जित करना होता है। (“रागमार्गे ब्रजे स्वयं भगवान् पाय। विधिभक्त्ये पार्षद देहे वैकुण्ठे जाय ॥” चै० च०। ब्रज के श्रीनन्द-यशोदा, सुवल्लभ-मधुमंगल आदि नित्यसिद्ध परिकरगण में रागात्मिका भक्ति विराजमान है। उस रागात्मिका भक्तियुक्त ब्रजवासिगण की श्रीकृष्ण में जो जातीय भाव है, उस जातीय भाव प्राप्ति के लिए लोभ प्रेरित पन्थ को ‘रागानुगामार्ग’ कहते हैं। अपने भावानुरूप रागात्मिका

भक्तगण के आनुगत्य ही इस राग भक्ति के प्रमाण हैं। आनुगत्य विहीन भजन से साक्षात् लक्ष्मीदेवी पर्यन्त ब्रजप्रेम लाभ नहीं कर पायी है।

“गोपी अनुगति बिना ऐश्वर्य्यज्ञाने।

भजिलेह नाहि पाय ब्रजेन्द्र नन्दने ॥

ताहाते दृष्टान्त लक्ष्मी करिल भजन।

तथापि ना पाइइ ब्रजे ब्रजेन्द्रनन्दन ॥” (चै० च०)

इसीलिए श्रीनारद गोपकुमार को ब्रजगोप-गोपी के दास्य की कामना करने को कहते हैं) अब इस भक्ति के साधन की बात सुनो— जिस में ब्रजलीला का ध्यान और गान प्रधानरूप से विद्यमान है, श्रेष्ठ नाम संकीर्तन द्वारा उज्ज्वलीकृत उस भक्ति से ही ब्रजप्रेम लाभ होता है। यद्यपि स्वजातीयाशय स्निग्ध रसिक भक्त के साथ यह शीघ्र ही प्रकाश पाता है, तथापि ‘मातृजारवत्’ इसको छिपाकर रखना होगा। (इत्येष भक्तिरसिकश्चौरादिव महानिधिः। जरन्मीमांसकाद् रक्ष्य कृष्णभक्तिरसः सदा।” भ० र० सि० 2/5/1301) गृहस्थव्यक्ति चोरगण के पास से जिस प्रकार महानिधि को छिपाकर रखते हैं, उसी प्रकार भक्तिरसिकगण कृष्णभक्तिरसमहानिधि जरन्मीमांसकादि बहिर्मुखगण के निकट से अति संगोपन से रक्षा करते हैं। आत्म संगोपन करना ही प्रेम का स्वभाव है। “प्रेम द्वयो रसिकयोरपि दीप एवं हृदेश्म भासयति निश्चल एव भाति। द्वारादयं वदनतस्तु बहिष्कृतश्चेत् निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति।” (प्रेमसम्पुट। प्रेमरूप प्रदीप रसिक युगल के हृदयरूप गृह को आलोकित कर निश्चलभाव से प्रकाश पाता है। किन्तु यदि वह मुखद्वार से अहिर्गत होता है, तब शीघ्र ही निर्वापित (बुझना) होता है अथवा लघुता प्राप्त होती है। अर्थात् भाषा द्वारा प्रेम व्यक्त होते ही फिर और प्रेम रह नहीं सकता है, रहने से भी उसका परिमाण लघु हो जाता है। तभी तो महाजनों का उपदेश है—“राख प्रेम हृदये भरिया।”) इसीलिए श्रीकृष्ण की प्रिय क्रीड़ाभूमि में निर्जन रूप से वास करके उस प्रेम की साधना करने से निश्चित रूप से प्रेमसिद्धि होती है। कर्म, ज्ञान, योगादि से यह प्रेम बहुत दूर अवस्थान करता है, यह सबसे निरपेक्ष, केवल श्रवण कीर्तनादि भक्ति निष्ठा द्वारा यह लाभ किया जाता है। महद्गण ने कहा है—“ कायेन दूरे ब्रजिनं त्यजन्ति जपन्तमन्तः करणे हसन्ती। समाधियोगे च बहिर्भवन्ती, संदृश्यते कापि मुकुन्दभक्तिः ॥” कर्माचरण देखते ही भक्ति महारानी दूर चली जाती है, लाभ, पूजा, प्रतिष्ठाशायुक्त भक्त के भगवत् मन्त्र जप आदि करने से भी भक्ति

देवी हास्य करती है, और समाधियोग से बाहर ही अवस्थान करती हैं। इस प्रकार की अनिर्वचनीय मुकुन्दभक्ति दिखाई देती है। दैन्य ही प्रेम का मूल अथवा परम अवलम्बन है। जिस भाव का चित्त में उदय होते ही सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति भी स्वयं को अशक्त एवं अधम बुद्धि समझने लगता है, पण्डित उसे ही दैन्य आख्या देते हैं। यह प्रेमप्रसू दैन्य साधनलभ्य सम्पद् है, अतएव प्रेमलाभेच्छु व्यक्ति मात्र के यत्न से ही दैन्य रक्षणीय है। जिस प्रकार के वचन द्वारा, जिस प्रकार की चेष्टा द्वारा एवं जिस प्रकार के मनोभाव द्वारा दैन्य स्थिरता प्राप्त हो, बुद्धिमान् व्यक्ति यत्नपूर्वक वही आचरण करते हैं, अर्थात् काय, मन और वाक्य से दैन्य की रक्षा करते हैं एवं दैन्य के क्षतिकर कार्यों का वर्जन करते हैं। वस्तुतः परम प्रेम की परिपाक दशा से ही दैन्य प्रकाशित होता है, जिस प्रकार गोकुलरमणीयगण का श्रीकृष्ण-विरह में दैन्य प्रकाशित हुआ था। दैन्य की परिपाक दशा से अजस्र प्रेम विस्तार का लाभ होता है, अतएव दैन्य और प्रेम दोनों में कार्य-कारणता देखी जाती है। (दैन्य अर्थ से दीनता को समझा जाता है। जिस भाव के चित्त में उदित होने से अपने को सब विषयों में अयोग्य व अधम समझा जाता है, वही दैन्य है। भगवद्भक्तिवासित भक्तहृदय का प्रेमामृतमय दैन्य विषयी मानव के दैन्य के समान कापुरुषता, भीरुता या चाटुकारिता नहीं है। यह भगवद् भक्त के हृदय के श्रेष्ठ महागुण में अन्यतम है। भक्तहृदस्थ दैन्य का असाधारण वैशिष्ट्य यह है कि इसमें सर्वगुणालंकृत होकर भी निज विषय में सर्वदा जगद् विलक्षण असामर्थ्य और अपकृष्ट बुद्धि चित्त से जागरुक होती है और उससे उत्पन्न परम व्यग्रता प्रकाश पाती है। यह व्यग्रता श्रीभगवान् के हृदय की द्रवीभूत कर भक्त के प्रति अजस्र भगवत् कृपा के प्रवाह को उत्सारित कर देती हैं। दैन्य की मूर्ति श्रीहरिदास ठाकुर, श्रीमुरारी गुप्त, श्रीरूप सनातन आदि श्रीमहाप्रभु के परिकरगण के प्रेमामृत दैन्य से महाप्रभु का हृदय किस प्रकार विगलित हुआ था, श्रीचैतन्यचरितामृत आदि ग्रन्थों में उसका प्रमाण पाया जाता है। इसलिए साधक भक्त को अत्यन्त प्रयत्न से दैन्य को सुरक्षित रखने की चेष्टा करनी चाहिए। साधक इस प्रकार का वचन न बोले जो दैन्य का विघातक हो, इस प्रकार का कार्य न करे जो दैन्य के लिये अनिष्टकर हो, एवं इस प्रकार के विषयों का चिन्तन न करे जो दैन्य के लिये प्रतिकूल हो। कायमनोवाक्य से दैन्य को सतत स्थिर रखने की चेष्टा करें। प्रेम की

परिपाक-दशा से दैन्य का प्रकाश होता है एवं दैन्य के परिपाक से भी प्रेम का अजस्र आविर्भाव होता है। इसलिए दैन्य और प्रेम की परस्पर की कार्यकारणता और पोष्य-पोषकता देखी जाती हैं प्रश्न हो सकता है कि— प्रेम को ही सर्वत्र भक्ति साधना का फल अथवा पुरुषार्थ कहा गया है, दैन्य को तो इस प्रकार नहीं कहा गया? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि दैन्य एवं प्रेम अतीव भिन्न वस्तु नहीं है, परन्तु दैन्य प्रेम का ही अन्तर लक्षण रूप मुख्य अंग है। (इसलिए प्रेम को भक्ति का फल कहकर दैन्य को भी भक्ति का फल ही कहते हैं, ऐसी सुधीजन की मान्यता है। प्रेम की परिपाक अवस्था में जिस अजस्र दैन्य का आविर्भाव होता है इसका उदाहरण वृन्दावन की गोपसुन्दरीगण हैं। श्रीकृष्ण विरह में उनका प्रेम पर परिपाक दशा को प्राप्त हुआ था इस कारण अजस्र दैन्य का भी आविर्भाव हुआ था। श्रीमद् जीवगोस्वामिपाद ने अपने गोपालचम्पू ग्रन्थ में विरह-दशा में उनके इस प्रकार के दैन्य का जो अपूर्व दृष्टान्त दिया है वह वास्तव में अतुलनीय है। “दावग्रस्था मृगदुहितरश्चन्द्रहीनाश्चकोर्यः स्त्रस्ता वृक्षत्रवलतिका नीररिक्ताः शफर्यः। उर्जा प्रान्ताद्वहिरपगता हन्त नव्याब्जनाल्यो यद्वदृष्टा हरिविरहिता राधिकाद्यश्च तद्वत्।” अर्थात् दावानल-ग्रस्ता मृगदुहिता की जिस प्रकार की अवस्था होती है, चन्द्र के अस्त होने से चकोरी की जो अवस्था होती है, वृक्ष से खलित होने से नव लतिका की जो अवस्था होती है, शक्ति के आविर्भाव से कमलिनी की जो दुरवस्था हो जाती है, हरि-विरह पीड़िता श्रीराधादि ब्रजसुन्दरीगण की उसी प्रकार की अवस्था हुई थी।) हे भ्रातः! प्रेम का स्वरूप केवल प्रेमिकगण ही जानते हैं, किन्तु वे भी प्रेम के स्वरूपलक्षण वर्णन करने में असमर्थ होते हैं। प्रेम के आविर्भाव से प्रेमी के चित्त में आर्द्रता सम्पादित होने से बाहर जो अश्रु, कम्प आदि प्रकाशित होते हैं इन तटस्थ लक्षणों के द्वारा ही प्रेम का किञ्चित् परिचय होता है। (प्रेम की भाषा को द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है। यह वस्तु स्वानुभववेद्य एवं निरूपम है। यदि प्रेमिक प्रेम का कुछ परिचय वाक्य या शब्दों द्वारा अन्य किसी के निकट प्रकाश करने की चेष्टा भी करें, किन्तु श्रोता के हृदय में प्रेम का आविर्भाव न होने से अन्य के मुख से सुनने से वह बोधगम्य नहीं होता है, अतएव प्रेम को कहकर समझाने की चेष्टा निष्फल प्रयास को छोड़ कर कुछ भी नहीं है। क्योंकि पदार्थ बोध उपलब्धि सापेक्ष हैं क्या करने से इष्ट को सुख होगा— इस चिन्ता में तन्मय

होने का नाम ही प्रेम है। कृष्ण-सुख कामिता भिन्न अन्य ज्ञान हृदय में उदित होने से उस हृदय में प्रेम का आविर्भाव नहीं होता है। इस अवस्था में विचार बोध टिक नहीं पाता है, अतएव विचार पूर्वक प्रेम के स्वरूप को व्यक्त करना असम्भव है। इसीलिए प्रेम के आस्वादन या अनुभव को “मूलास्वादनवत्” कहा जाता है। उत्तम-उत्तम मिष्ठान्न को खाकर भी गूंगा व्यक्ति उसे व्यक्त करने का कोई उपाय नहीं पाता है, केवल अन्तर में ही उस आस्वादन का अनुभव होता है, प्रेम के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिए।) ब्रज प्रेम के अनुभव से प्रेमिक का चित्त जैसे- दावानल की शिक्षा में दह्यमान होते हुए भी सुशीतल यमुनाजल की शैत्यानुभूति प्राप्त करता है एवं यमुनाजल के शैत्यानुभव प्राप्त करते हुए दावानल की शिक्षा के समान दह्यमान दशा का अनुभव विस्तार करता है। विष अमृत होता है और अमृत भी विष होता है; मृत्यु भी सुखकर है एवं जीवन धारण भी आर्तिदायक हो जाता है। (ब्रज प्रेम का अनुभव ही इस प्रकार है। सांसारिक सुख-दुःख के साथ इस प्रेमोत्थ (मिलन और विरह जनित) सुख-दुःख का कोई सदृश्य नहीं है। सांसारिक दुःखकर दशा में सुख की अनुभूति नहीं रहती है एवं सुख के समय दुःख की अनुभूति नहीं रहती हैं क्योंकि दोनों परस्पर प्रतियोगी एवं विरोधी वस्तु हैं। किन्तु कृष्णप्रेमानन्द प्रतिक्षण युगपत् (एक साथ) नवनवायमान रूप में असमोर्ध्व सुख-दुःख का अनुभव विस्तार करता रहता है। अनुभवीजन ही इसे समझ पाते हैं।

“एइ प्रेमेर आस्वादन, तप्त इक्षु चर्व्वण,
मुख जवले ना जाय त्यजन।
एक प्रेमाजार मने, तार विक्रम सेइ जाने,
येन विषामृते एकत्र मिलन ॥” (चै० च०)

यह प्रेम आनन्ददायक किम्वा महाशोकमय वस्तु है, निश्चय करना असम्भव है। प्रेमसम्पत्ति के उदय होने से प्रेमिक के चेष्टासमूह द्वारा-उन्मत्त के समान प्रकाश पाने लगते हैं। प्रेम बिना नवविधा मुकुन्द-भक्ति भी सुख सम्पादन में समर्थ नहीं है। जिस प्रकार नमक के बिना व्यंजन, क्षुधा के बिना भोज्य सामग्री, अर्थ बोध विहीन शास्त्रपाठ, फल हीन उद्यान सुखकर नहीं है, उसी प्रकार प्रेम-बिना नवविधा भक्ति भी सुखकर नहीं है। मैंने सामान्यरूप से प्रेम के विषय में कुछ कहा, विशेष से प्रेमतत्त्व निरूपण नहीं किया जा

सकता हैं श्रीनन्दनन्दन के प्रति ब्रजसुन्दरीगण का जो प्रेम है, उस महान् प्रेम के निरूपण में मैं किस प्रकार समर्थ हो सकूँगा? श्रीकृष्ण के मथुरा गमन के समय वल्लवीगण का जो प्रलयाग्नि से भी तीव्रतर भाव उदित हुआ था, उस भाव के कारण ही उनका वह प्रेम परम महान था। यही उस प्रेम का तत्त्व या स्वरूप है, इसे छोड़कर उस प्रेम के और किसी तत्त्व को जानने की इच्छा न करना। क्योंकि एक तो यह प्रेम निरूपित नहीं हो पाता है, यदि यत्न द्वारा इसे निरूपित करने का प्रयास भी किया जाये तो इस समय तुम्हें उसका अनुभव-गोचर नहीं होगा। उस प्रकार के प्रेमविशिष्ट व्यक्ति के दर्शन से उस प्रेमतत्त्व के साक्षात् अनुभव का लाभ हो सकता है यदि परमप्रेमवर्ती श्रीराधिका का साक्षात्कार लाभ हो सके तो (बिना साधना के) उस मूर्तिमान् प्रेम का साक्षात् अनुभव होगा। अथवा श्रीराधा की भावकान्तियुक्त श्रीकृष्ण का निज प्रेम वितरणकारी कोई महावतार हो, तो उसके दर्शन से उस प्रेम का अनुभव हो सकता है। (श्रीराधातत्त्व का यही अनन्यसाधारण वैशिष्ट्य है कि श्रीराधारानी के दर्शन से बिना साधना के ही ब्रजप्रेम लाभ होता है। वे प्रेम लक्ष्मी होने के कारण उनके दर्शन का इस प्रकार का प्रभाव है। वर्तमान इस विशेष कलि में इस विषय के प्रमाण प्रत्यक्षीभूत करने का समय आया है श्रीराधा के प्रेमरसमाधुर्य से नितान्त लुब्ध होकर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्रजलीला में अपूरणीय तीन वाञ्छाओं की पूर्ति के निमित्त श्रीराधा के भाव और कान्ति को अंगीकार कर श्रीमन्महाप्रभु के रूप में विश्व में अवतीर्ण होकर श्रीराधा कान्तिमाला विश्व को दिखाकर सब को प्रेमदान कर धन्य और कृतार्थ किया है। श्रीराधा और श्रीमन्महाप्रभु को छोड़ और किसी के दर्शनमात्र से बिना साधना प्रेमभाव सम्भव नहीं है।)

हे गोपकुमार! तुम अपनी अभीष्ट सिद्धि के निमित्त शीघ्र उस क्षेत्र को गमन करो। तुम गोलोकनाथ के जिस प्रकार दया के पात्र हो मैं उस प्रकार नहीं हूँ— इसका कारण यह है कि तुम ब्रजभूमि में अवतीर्ण हुए हो। श्रीनारद की बात सुनकर श्रीउद्धव बोले— हे देवर्षे! पुरुषोत्तम क्षेत्र श्रीभगवान् को जिस प्रकार प्रिय है, यह द्वाकापुरी भी उसी प्रकार प्रिय है, क्षेत्र जिस प्रकार से परमैश्वर्य और लौकिक व्यवहार से भूषित है यह द्वारका भी उसी प्रकार है। हमारे यह देवकीनन्दन ही उस पुरुषोत्तम क्षेत्र में श्रीजगन्नाथ मूर्ति धारण कर क्षेत्रवासी भक्तगण के आनन्दविधान के लिए दयार्द्र चित्त से सर्वदा वहाँ

विहार करते हैं। इसलिए उस क्षेत्र में जो वस्तु संसिद्ध होगी यहाँ भी वह सिद्धि हो सकती है, क्योंकि क्षेत्र और द्वारका में कोई भेद नहीं है। परन्तु पुरुषोत्तम क्षेत्र के ब्रजलीलानुकरण दर्शन और श्रवण कर गोपकुमार को इष्ट के अप्राप्ति-निबन्धन का शोक ही समुपस्थित होगा। उस क्षेत्र में सर्वदा जगन्नाथ-मुखपद्म दर्शन एवं महाप्रसाद सेवन कर एवं यात्रा-उत्सवादि का दर्शन कर इनके हृदय में उल्लास का सञ्चार होगा, परन्तु दीनता का सञ्चार नहीं होगा। उस दैन्य के बिना गोलोक प्रापक प्रेम का उदय नहीं होगा। एवं गोलोक प्राप्ति के बिना इन्हें आनन्द लाभ नहीं होगा। तब फिर परदुःख कातर श्रीपुरुषोत्तम मथुरा विभूषित गोकुल के लिए प्रेरित करेंगे। इसलिए आप इन्हें गोकुल ही प्रेरण क्यों नहीं कर रहे हैं? वहाँ शून्यमय गिरि, अरण्य, नदी आदि के दर्शन से साधुजन का स्वतः ही परम दैन्यमय प्रेम का उदय होता है। साधुगण वहाँ हाहाकार के साथ महासन्ताप भरे हृदय से सर्वदाव्याकुल भाव से अपने इष्ट का अनुसन्धान करते हैं। (जो सब उत्कण्ठाशील साधु-महात्मा वृन्दावन में वास कर भजन करते हैं, वे श्रीभगवान् के लीलास्थल समूह का दर्शन तो करते हैं परन्तु लीलामय श्रीभगवान् को नहीं देख पाते हैं। इसलिए उनके चित्त में अतिशय व्याकुलता का उदय होता है। वे सब लीलास्थान, वह गिरिराज, राधाकुण्ड वृन्दावन, रासस्थली, निधुवन, यमुनातट सब शून्यमय प्रतीत होता है। लीला के उद्दीपन से उस उस स्थान पर इष्ट दर्शन न पाने से चित्त विगलित होता है। उस अवस्था में साधुगण निरन्तर हाहाकार के साथ रोदन करते रहते हैं। इस के फलस्वरूप विपुल दैन्य का उद्गम और तदनु रूप प्रेम का प्रचुर आविर्भाव होता है। इसलिए वृन्दावनीय उत्कण्ठामय प्रेमलाभ का इस प्रकार का साधनक्षेत्र और कहीं नहीं है। श्रीरूप-सनातन आदि गोस्वामिपादगणों ने नित्य परिकर होकर भी भजन के रसास्वादन के लिए एवं भजन शिक्षा देने के लिए परम उत्कण्ठा के सहित वृन्दावन में वास किया यथा— “हे राधे ब्रजदेविके च ललिते हे नन्दसुनो कुतः, श्रीगोवर्धन कल्प पादप तले कालिन्दीवन्ये कुतः। घोषन्ताविति सर्व्वतो ब्रजपुरे स्वेदैर्महाविह्वलौ, वन्दे रूपसनातनौ रघुयुगौ श्रीजीवगोपालकौ ॥” (षडगोस्वामी अष्टक) अर्थात् “हे राधे! हे ललिते! हा नन्दनन्दन! कहाँ हो, दिखाई दो, यही तो वह गिरिराज गोवर्धन, यही तो वह कल्पतरु का तल, यही तो वह कालिन्दी पुलिन, सब कुछ है किन्तु तुम्हें ही नहीं देख पा रहा हूँ। इस प्रकार खेद सहित विलाप

करते करते जो वृन्दावन में सर्वत्र महा विह्वल दशा से भ्रमण करते हैं, उन षडगोस्वामिपाद की वन्दना करता हूँ।” ब्रजधाम-आश्रय से इस प्रकार दैन्यमय प्रेम का प्रचुर आविर्भाव होता है। इसीलिए श्रीउद्धव ने गोपकुमार को और श्रीक्षेत्र में न घुमाकर ब्रज में ही प्रेरण करने के लिए श्रीनारद के पास प्रार्थना की है।)

श्रीनारद मन्त्रीप्रवर श्रीउद्धव की न्याय संगत बात को सुनकर प्रीति पूर्वक उनसे बोले— हे उद्धव! तुमने सत्य ही कहा है। तुम ब्रजवासिगण के प्रति प्रीतिमान् हो इसलिए गोपकुमार के इष्टसिद्धि के विषय में इस प्रकार की मन्त्रणा प्रदान की है। तुम मुझसे भी अधिक ब्रजभूमि की महामहिमा के विषय में अवगत हो, इसका कारण यह है कि तुमने अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण को भी त्याग कर बहुत दिन तक ब्रजवास किया था। इसके बाद श्रीनारद चारों ओर शुभलक्षण समूह देखकर हर्षपूर्वक मुझसे बोले— हे गोपकुमार! शीघ्र ही तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होगा, यह मैंने पहले ही अनुमान कर लिया था। परम आनन्दमय स्थान वैकुण्ठ, उससे अधिक आनन्द का स्थान श्रीअयोध्या, उससे भी अधिक सुखमय स्थान श्रीद्वारका में भी जो तुम्हें इस प्रकार के दुःख और शोक का अनुभव हुआ इसका कारण बताता हूँ— श्रवण करो। तुम्हारे अभीष्ट श्रीमन्मदनगोपालदेव के पदारविन्द युगल के प्रति प्रणयराशि वर्धन के लिए ही तुम्हें यह दुःख और शोक का प्रकाश हुआ है। अतएव हे महाभाग! तुम अपनी अभीष्टसिद्धि के लिए माथुर-ब्रजभूमि में गमन करो, वह ब्रजभूमि धरा की श्री और कीर्तिवर्धिनी है। उस स्थल पर ही तुम्हारी साधना सुचारु रूप से सम्पन्न होगी, इसी कारण वह वैकुण्ठ के ऊपर स्थित गोलोक में अभिन्न है।

श्रीगोपकुमार बोले— हे ब्रह्मन्! श्रीनारद के वचनमृत के आस्वादन से मैं परम प्रीतिपूर्वक वहाँ जाने के लिए उत्सुक हुआ। किन्तु श्रीद्वारकानाथ का आदेश लेकर ही वहाँ से जाने से मेरे मनोभाव को जान कर श्रीउद्धव बोले— हे गोपकुमार! श्रीकृष्ण के अपने निजधाम से यदि कहीं अन्यत्र जाना हो, तभी यादवेन्द्र की आज्ञा की अपेक्षा करनी होती है, ब्रजभूमि तो उनका महाप्रिय स्थान है, वहाँ गमन के लिए उनका आदेश लेने की आवश्यकता नहीं है। यह वास और साक्षात् सेवा की अपेक्षा भी ब्रजभूमि में वास करने से उनमें समधिक प्रीति का सञ्चार होता है। यह विषय अनुभव करके ही मैंने

ब्रजवासीगणों के आश्वासन के छल से वहाँ कई दिनों तक वास किया था, वस्तुतः उन्हें आश्वासित करने की मेरी कोई सामर्थ्य ही नहीं थी। हमारे ईश्वर तुम्हारी गोलोक प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा को जानकर स्वयं ही तुम्हें अपनी परमप्रिय ब्रजभूमि में ले जायेंगे। श्रीउद्धव के वचनामृत पान से मैं परमानन्दित हो जैसे मोहदशा को प्राप्त हुआ इसलिए मेरे नेत्र बन्द हो गये, मैंने अनुभव किया कि जैसे कोई मुझे कहीं ले जा रहा है। बाद में आँख खोलकर देखा कि मैं इस कुञ्ज में उपस्थित हुआ हूँ।

षष्ठ अध्याय(अभीष्ट लाभ)

श्रीगोपकुमार बोले— हे ब्रह्मन्! श्रीनारद की शिक्षा के अनुसार मैं अपने प्रिय श्रीकृष्ण का नाम समूह सुस्वर से संकीर्तन एवं उनकी लीलाओं का ध्यान और गान करते करते वृन्दावन में वास करने लगा। उनके लीलास्थली समूह दर्शन करके जिस भावदशा को प्राप्त हुआ था, वह भाव समूह अपने चित्त में धारण करते हुए भी लज्जा बोध होता है, दूसरे के निकट उसे किसी प्रकार व्यक्त करूँगा? मैं सर्वदा ही महाआर्त्ति के साथ करुण स्वर से रोदन करता हूँ, विरह वैवश्य दशा में दिवारात्रि यापन करता था, बहुत समय से जो सब अनुष्ठान किये थे— वे सुख प्राप्ति के अथवा आर्त्तिसिन्धु में डूबने के लिए हुए थे यह समझ नहीं पा रहा था। मैं दावाग्नि शिखा के मध्य वास कर रहा हूँ, अथवा परम सुशीतल यमुना के जल में वास कर रहा हूँ, यह निश्चित नहीं कर पा रहा था। किसी समय मन में आता कि मैं किसी शठ के हाथ में पड़ गया हूँ। अन्त में आनन्द नाम की वस्तु जैसे मेरे मन में पोंछ दी गई हो। वृन्दावन के भूषण स्वरूप इस कुञ्ज में वास करते करते एक बार रोदन सिन्धु में निमग्न होकर मोहदशा को प्राप्त हुआ। उसी समय दयालु चूड़ामणि स्वयं समागत होकर वंशीभूषित कर कमल द्वारा मेरे अङ्ग की धूलि मार्जन करने लगे। उन महाधूर्तवर ने लीला से मेरे नासारन्ध्र में अपने श्रीअङ्ग की सुगन्धराशि यत्नपूर्वक प्रविष्ट करा कर मेरी चेतना सम्पादन कर दिया था। (श्रीमन्मदनगोपाल को दयालुचूड़ामणि कहना और फिर महाधूर्तवर कहने का अभिप्राय यह है कि वे जब गोपकुमार को दर्शन देते हैं, अमृतमय हस्तद्वारा स्पर्श, गात्र सम्मार्जन, आलिंगन, चुम्बन आदि करते हैं तब मन में

परम दयालु ही प्रतीत होते हैं। फिर साथ साथ ही सब अन्तर्हित हो जाते हैं, तब मन में आता है कि उस दशा के बीच में कहीं पर शठता या कपटता छिपी हुई है। क्योंकि दर्शन देकर अन्तर्धान होने पर वह विच्छेद ज्वाला भक्त के प्राण में इतनी सुतीव्र होकर उठती है कि भक्त फिर अधिकतर कातर भाव से रोदन करने लगते हैं। यद्यपि वस्तु-विचार से यह आर्त्ति अथवा कातरता मिलनानन्द की अपेक्षा भी स्वादु एवं चरम काम्य अवस्था है, अतएव यह उनकी (श्रीभगवान् की) करुणा ही है, फिर भी बाह्य आर्त्ति या कातरता आदि वर्धन के कारण इसे शाठ्य कहा गया है।) मैं उनके मुखकमल में देखकर आदर के साथ शीघ्र ही उठकर हर्षपूर्वक उनके पीतवसन को पकड़ने के लिए तैयार हुआ तब वे नागरेन्द्र लीलावश वंशी बजाते बजाते पीछे की ओर हटने लगे एवं शीघ्र ही किसी कुञ्ज में छिप गये मेरे दौड़ने पर भी मैं उन्हें पकड़ नहीं सका। उनके अन्तर्धान होते ही उनके अदर्शन से मूर्छित होकर यमुना के जल प्रवाह में गिर पड़ा, बाद में जल प्रवाह के सुशीतल संस्पर्श से संज्ञा प्राप्त करधीरे धीरे आँखें खोलीं तब मैंने देखा कि मनोवेग से भीअधिक वेगवाले किसी यान द्वारा ऊपर की ओर महाअद्भुत मार्ग से किसी अन्य देश की ओर जा रहा हूँ। बाद में चित्त समाधान पूर्वक विचार किया और देखा कि श्रीवैकुण्ठ में पहुँच रहा हूँ देखते ही देखते द्वारका आदि को पार करते हुए चिर आशा के सम्बन्ध सर्वोपरि विराजित श्रीगोलोकधाम को प्राप्त हुआ।

हे विप्र! इस मर्त्यलोक में विराजित मथुरामण्डल के स्थान समूह के समान ही वहाँ समस्त अवलोकन कर विस्मय और हर्ष से अभिभूत हो गया। मधुपुरी में विश्राम तीर्थ में स्नानकर शीघ्र ही श्रीवृन्दावन गमन किया। यद्यपि वह गोलोक अखिल देवतागण का, ब्रह्मरुद्रादि लोकेश्वरगण का, गरुड़ आदि पार्षदगण का भी अगम्य, फिर उस गोलोक में भू-भारतवर्षीय आर्यावर्त देश सम्बन्धी समस्त रीति, सूर्योदय, सूर्यास्त, पार्थिव नरभाषा और व्यवहार आदि देखकर परम आश्चर्यान्वित होकर आनन्द के सागर में डूब गया। एकक्षण बाद ही देखा गोप सदृश मानवगण वन-वन में भ्रमण कर रहे हैं एवं गोपीवेशधारिणी वृद्धागण पुष्प चयन कर रहीं हैं। इससे पहले द्वारका आदि धामों में जो सब लोग देखे हैं, यह उन सब लोगों से सब विषयों में विलक्षण है, इनको देखने से मन में ऐसा आता है कि जैसे किसी ने इनके हृदय का सर्वस्व चोरी कर लिया हो, इसलिए ये व्याकुलित हो रहे हैं। मैं उनके दर्शनमात्र से ही उनके भाव को प्राप्त हुआ, बाद में यत्नपूर्वक धैर्य धारण कर

उनसे जिज्ञासा प्रकट की— हे परमहंस गण के मनोरथ के भी दुर्लभ परमानन्दराशि द्वारा परिसेवितागण! हे कमलापति के प्रणयभाजन भक्तगण के परम प्रार्थनीय दया के आस्पदागण! मैं परम दीन, आपका शरणागत, मेरे प्रति कृपादृष्टिपात करिये। आप मुझे बतलाइये— इस देश का राजा कौन है? उनका घर कहाँ है? और वहाँ किस पथ से पहुँचा जा सकता है? हे महाभाग्यवतीगण! मैं विनय पूर्वक जिज्ञासा कर रहा हूँ, हे सुव्रतागण! कुछ संकेत द्वारा ही मेरा प्रश्न का उत्तर प्रदान करिये। अहो! मैं समझ गया हूँ; मेरे महाआर्तिपूर्ण वाक्य को सुनकर भी जब आप उत्तर प्रदान नहीं कर रही हैं, तो आप भी उस धूर्त के भाव से विमोहित हो रही हैं। इस प्रकार इधर-उधर दृश्यमान लोगों को कातरता के साथ जिज्ञासा प्रकट करते हुए ब्रजस्थान को प्राप्त हुआ एवं दूर पर एक पुरी को देखा। वह पुरी माधुर्य के सार परिपाक द्वारा परिसेवित थी। उस पुरी के चारों ओर गोपीगण के अद्भुत गीत और दधि-मन्थन की घर-घर ध्वनि के साथ मनोहर भूषण ध्वनि सुनी। वह ध्वनि सुनकर हर्ष में भरकर अधीर हो गया, बाद में यत्न के साथ धैर्य धारण कर आगे जाने पर एक वृद्धा को देखा। वे व्याकुलभाव से 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर निरन्तर रो रही हैं और निविष्टभाव से एकाकी अवस्थान कर रही हैं। मैंने दोनों हाथ जोड़कर उनको प्रणामकर जिज्ञासा प्रकट करने पर वे गद्गद स्वर से बोलीं— "यह श्रीकृष्ण के पिता गोपराज नन्द की पुरी है।" यह शब्द सुनते ही हर्ष के आवेग से मैं मूर्छित हो गया। एक क्षण के बाद ही उस दयालु वृद्धा द्वारा चेतना प्राप्त होते ही दौड़कर श्रीनन्द की पुरी के द्वार पर जाकर बैठ गया। वहाँ अदृष्ट और अश्रुतपूर्व बहुत से आश्चर्य देखे, वे सब अत्यन्त आश्चर्य के विषय अनुभवीजन को छोड़कर अन्य सब के अगोचर हैं। हे द्विजोत्तम! वे पुरवासिगण परमानन्दपूर्ण हैं अथवा दुःखग्रस्त हैं इसका निरूपण नहीं किया जा सकता। गोपीगण का रोदन-ध्वनि मिश्रित जो गीत सुना था, वह आनन्द की पराकाष्ठा है या शोक की कुछ समझ में नहीं आया। उस गोलोकाख्यपद दर्शन कर मन में सोचता कि मैं मर्त्यलोक के मथुरा मण्डल में ही अवस्थान करता हूँ किन्तु जब आगे पीछे अनुसन्धान करता तो मन में आता कि मैं अखिल लोकालोक और लोकातीत वैकुण्ठ के ऊपर गोलोक में विराजित हुआ हूँ। बाद में वहाँ पहुँची एक वृद्धा को अत्यन्त विनय के साथ प्रणाम करके जिज्ञासा प्रकट की— श्रीनन्दनन्दन आज कहाँ विहार कर रहे हैं? वृद्धा बोलीं— श्रीकृष्ण प्रातःकाल से ही गाय, वयस्य और अग्रज के

साथ विहार करने के लिए वन में प्रविष्ट हुए हैं, वे मेरे जैसे ब्रजवासिगण के प्राण प्रदाता, इसी समय (सायंकाल) वे वापस लौटेंगे। जिस यमुनातीर के पथ पर ब्रजवासिगण आँख लगाये हुए हैं, यहाँ तक कि सभी वृक्ष भी अपने अपने पत्ते उठाये हुए उनके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं— इस पथ से ही वे आगमन करेंगे। हे ब्रह्मन्! यह वाक्य सुनकर मैं परमानन्द धारा में अभिषिक्त हो गया एवं उसके दिखाये रास्ते की ओर आँख लगाकर रह गया। उस समय परमानन्द के कारण मेरे दोनों जंघा जैसे स्तम्भित हो गईं फिर भी अत्यन्त यत्न से कुछ दूर आगे चलने पर दूर से ही कोई सुमधुर ध्वनि सुनी। गायों के हम्वारव के साथ मिलन से सुललिततर सुमधुर, राग-रागिनीयुक्त एवं विलक्षण मूर्च्छनादि भंगी विलसित, ब्रजवासिगण की परमाकर्षक वहीं मोहन-मुरली की अस्फुट ध्वनि थी। जिस ध्वनि के प्रभाव से तरुसमूह के रस की दीर्घधारा निकल रही थी, गोपगण की आँखों से अविरल अश्रु प्रवाह निकल रहा था, श्रीकृष्ण के मातृवर्ग के यहाँ तक कि वृद्धाधात्रीगण के स्तन से दूध की धारा क्षरित हो रही थी। यमुना की स्वाभाविकगति स्तब्ध होगई और विपरीत दिशा में बहने लगी। वह वंशी ध्वनि विष उगल रही है या अमृत वर्षणकर रही है, वह वज्र के समान कठिन है या जल के समान कोमल, वह अग्नि से भी अधिक ऊष्ण या चन्द्र से भी अधिक सुशीतल वह मैं निश्चय नहीं कर पाता था, क्योंकि वह ध्वनि सुनकर समस्त ब्रजवासिगण उन्मादग्रस्त हो रहे थे।

मैंने इसके बाद देखा— कतिपय ब्रजरमणीगण जलते हुए दीप हाथ में लिए जा रही हैं, कोई-कोई माला, अनुलेपनादि कोई नवनीत कोई मट्टा इत्यादि द्रव्य लेकर जा रही हैं। अनेक ब्रजांगनागण कोई किसी की अपेक्षा न कर सम्भ्रम जनित विघ्न से व्याकुलिता होते हुए भी जिधर से गायों के हम्वारव की ध्वनि आ रही थी, उधर ही स्खलितपद से दौड़ने लगीं। कोई ब्रजसुन्दरी विपरीत भाव से वेष-भूषादि धारण कर जा रही थी, कोई नीवी-बन्धन से, कोई केश-बन्धन से आकुला होकर ही गमन कर रही थी, कोई-कोई घर के अन्दर ही तरुभाव अर्थात् स्तम्भ भाव प्राप्त हो रही थी, और कोई मूर्च्छिता होकर भूतल पर गिर पड़ी थी। कोई-कोई ब्रजसुन्दरी मोहग्रस्त दशा में आँसुओं से गीले और लाल हुए मुख से सखीगण द्वारा ले जाई जा रही थी। किसी-किसी प्रेमविह्वला ब्रजसुन्दरी को सखी दिखा रही

है— यह देखो तुम्हारे प्राणनाथ ही नन्दनन्दन आ रहे हैं। जिनकी विचित्र वेशभूषा और कान्ति रमा के गर्व को खर्व करती है, वे सब ब्रजसुन्दरी श्रीकृष्ण का नाम और लीलागान करते-करते द्रुतगति से यमुनातट का आश्रय कर रही है। मैंने जैसे किसी के द्वारा आकर्षित हो तेजी से ब्रजसुन्दरीगण का अनुसरण किया। (यहाँ पर द्वारका आदि धाम के परिकरगण से ब्रजपरिकरगण के प्रेम के विपुल वैशिष्ट्य का परिचय मिल रहा है। विष और अमृत के एकत्र मिलनरूप उत्कण्ठामय ब्रज प्रेम की आस्वादन-वैचित्र्य वास्तव में अपूर्व एवं अति विलक्षण है। प्रेम जब बढ़ते-बढ़ते क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय आदि के क्रम से अनुराग स्तर को प्राप्त होता है, तब वह अनुराग इष्ट में प्रेमी की प्रबल तृष्णा उत्पन्न करता है। इष्ट के रूप, गुण, लीला आदि का जितना ही आस्वादन किया जाय, उतनी ही पिपासा बढ़ती जाती है एवं उतनी ही विचित्र आर्त्ति उत्कण्ठा प्रकाश पाती है। जितना आस्वादन— उतनी पिपासा, जितनी पिपासा— उतना आस्वादन। महाजनगण अनुराग दशा का सान्निपातिक रोगी के साथ की पिपासा दृष्टान्त देते हैं। सान्निपातिक रोगी जितना पानी पीता है, उतनी ही तृष्णा बढ़ती जाती है। तृष्णा जल पान की इच्छा को बढ़ाती है एवं जलपान तृष्णा को बढ़ाता है। ब्रजप्रेम का आस्वादन भी ठीक इसी प्रकार है। जितना ही श्रीकृष्ण के सौन्दर्य माधुर्य का आस्वादन किया जाय, उतनी ही उत्कण्ठा व्याकुलता बढ़ती जाती है एवं जितना ही उत्कण्ठा व्याकुलता का प्रकाश होता है, उतना ही आस्वादन माधुर्य बढ़ता जाता है। अनुराग फिर पराकाष्ठा प्राप्त कर 'महाभाव' के स्तर पर पहुँचता है। ब्रज का यह महाभाव केवल ब्रजसुन्दरीगण में ही अवस्थान करता है। इसलिए ब्रजसुन्दरीगण की आर्त्ति उत्कण्ठा की पराकाष्ठा की देख गोपकुमार सख्यरस के उपासक होकर भी उत्तर गोष्ठ में उनके भाव का ही विशेष रूप से वर्णन कर रहे हैं।)

इसके बाद दूर से ही देखा कि—श्रीनन्दनन्दन मुरली परिशोभित हाथ से सखा और पशुगण के बीच में से निकलकर बोले—“ हे श्रीदामन्! यह देखो तुम्हारे कुलकमल भास्कर स्वरूप मेरे प्रियसखा सरूप हमें प्राप्त हो रहे हैं। उनका सुरुचिपूर्ण वन्यवेश शोभा पा रहा है, चलने के वेग से गले की माला झूल रही है। श्रीअंग पर पीतवसन और सिर पर मयूरपुच्छ निर्मित चूड़ा शोभायमान है, अंगगन्ध से दशों दिशायें आमोदित हैं, प्रफुल्ल मुखकमल पर मृदुमन्द हास्य की लीलाश्री दीप्ति पा रही है। कृपावलोकन से नयन कमल

उल्लसित हैं, विचित्र सौन्दर्यराशि ही उनके श्रीअंग का भूषण स्वरूप हो रही है, उनके हाथ की अंगुलियाँ गोधूली से शोभित चञ्चल अलकावली संवरण के लिए व्यग्र हो रही है। भूमि स्पर्शी नृत्यविलासशील श्रीपादपद्मयुगल धरणी के सौन्दर्य को बढ़ा रही है, वेगभरे वे श्रीचरण संचालित होकर अत्यन्त मनोहर शोभा विस्तार कर रहे हैं। उनकी अपूर्व कैशोरमाधुर्यराशि देदीप्यमान है, नवमेध के समान स्निग्ध श्यामल कान्ति दश दिशाओं को प्रकाशित कर रही हैं दीनजन की प्रियता के कातर श्रीनन्दनन्दन तेजी से कूदकर मेरे निकट आये उनके दर्शन से मैं विमोहित हुआ और वे मेरा कण्ठ पकड़कर प्रेमभरे सहसा भूमि पर गिर गये। एक क्षण बाद मुझे चेतना प्राप्त हुई और मैंने श्रीभगवान् के बाहुपाश से अपने कण्ठ को मुक्त किया और उठकर देखा कि श्रीनन्दनन्दन प्रेममोह से मूर्च्छित है, वे पृथ्वी पर पड़े हुए हैं, उनकी अश्रुधारा से रजोमय पथ गीला हो गया है। गोपीगण आकर परस्पर बोलने लगीं— यहाँ कौन आया है? किसने ऐसा कार्य किया? किसने मेरे प्राणनाथ को इस दशा में पहुँचाया— हाय-हाय, हम ब्रजवासी सब मर गये। इसके बाद उन्होंने मुझे देखकर कहा— यह व्यक्ति निश्चित ही मायावी कंस का अनुचर होगा। कोई कहता— ऐसा नहीं है, हो सकता अन्य किसी कारण से मूर्छा हो गई हो। इस प्रकार के विविध विलाप के साथ उच्च स्वर से रोदन करते-करते श्रीनन्दनन्दन को घेर लिया। बाद में श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे जो गोपसमूह थे, वे तेजी से आकर श्रीकृष्ण की इस प्रकार की दशा को देख करुण स्वर से रोदन करने लगे। उस क्रन्दनध्वनि को दूर से ही सुनकर श्रीनन्द आदि गोपगण, पुत्रवत्सला श्रीयशोदा, अन्यान्य वृद्धा गोपीगण, यहाँ तक कि गृहकार्य-निरता दासीगण भी यहाँ स्खलित पदसे दौड़कर आईं और श्रीकृष्ण की उस प्रकार की दशा देख हा-हा स्वर से विलाप करने लगीं। तब गाय, बैल, बछड़े और कृष्णसार आदि मृगसमूह श्रीकृष्ण की ऐसी दशा को देख रोते हुए कातर हो रहे थे। अश्रुधारा से पशुगण के मुखमण्डल धुल रहे थे, कातरता सूचक शब्द करते-करते श्रीकृष्ण के निकट आकर स्नेहभरे उनके श्रीअंग को सूँघ और चाट रहे थे। पक्षीगण भी दुःखित हो आकाश में भ्रमण कर रहे थे, वे भी जैसे कोलाहल के छल से रोदन कर रहे हों। वृक्ष समूह भी जैसे अन्तर ताप से शीघ्र ही शुष्क हो गये, अधिक क्या कहा जाये स्थावर जंगम सभी जैसे शोक से मरणासन्न हो गये। मैं भी तब महाशोक सिन्धु में मग्न हो गया, परम दुःख

से किंकर्तव्यविमूढ़ होकर उनके श्रीचरण मस्तक पर धारण कर अत्यन्त विलापपूर्वक रोने लगा। इसके बाद अनुज श्रीकृष्ण के ही अनुरूप वेशभूषा और लगभग उसी वयस वाले नीलाम्बर द्वारा अलंकृत गौरकान्ति श्रीबलदेव दूर से ही तेजी से वहाँ आये। वे अनुज की ऐसी दशा देख रोने लगे एवं क्षणकाल में ही धैर्य धारण कर इधर-उधर दृष्टिपात करने से मुझे देखा। इसके बाद मेरी दोनों बाँहों को श्रीकृष्ण के कण्ठ से संलग्न कराया, मेरे हाथों द्वारा श्रीकृष्ण के अंग को मार्जन कराया, विनय वाक्यों से उच्च स्वर से मेरे द्वारा उनका आह्वान कराया और अन्त में मेरे द्वारा उनको भूतल से उठवाया। तब श्रीकृष्ण ने शीघ्र ही अश्रुधारा से परिमुद्रित नयन-कमलों को खोला और मुझे देखकर हर्षभरे आलिंगन चुम्बन करते-करते चारों ओर देखकर लज्जित हुए। बहुत समय बाद देखे प्राणप्रिय सखा के समान मुझे पाकर वे प्रभुवर अपने वाम कर कमल से मेरे दक्षिण कर को धारण कर विविध प्रश्न करते करते इकट्ठे हुए ब्रजवासिगण को आनन्दित कर गज-गमन से नन्दब्रज में प्रविष्ट हुए। (यहाँ पर एक विचारणीय विषय यह है कि भक्त जिस प्रकार श्रीभगवान् को पाने के लिए निरन्तर उत्कण्ठित रहते हैं, श्रीभगवान् भी उसी प्रकार भक्त को पाने के लिए निरन्तर व्याकुलभाव और उत्कण्ठित प्राणों से भक्त के पथ की ओर देखते रहते हैं। हम वैकुण्ठ में श्रीनारायण के साथ गोपकुमार के प्रथम दर्शन के समय श्रीनारायण की उक्ति से यह विषय जान चुके हैं। श्रीकृष्ण के स्वयं भगवान् वात्सल्य और कारुण्य आदि गुण का समधिक विकास देखा जाता है। फिर पूर्णतम माधुर्य-उपासना के क्षेत्र ब्रजधाम के विषयतत्त्व श्रीनन्दनन्दन में स्वयं भगवत्ता का पूर्णतम प्रकाश होने के कारण ब्रजेन्द्रनन्दन में इन गुण समूह का चरम विकास देखा जाता है। श्रीनारायण, श्रीरामचन्द्र और श्रीद्वारकानाथ गोपकुमार के दर्शन से परमानन्द प्राप्त करके भी एवं स्वयं को मन में धन्य मानते हुए भी उनके आनन्द की यात्रा इतनी अधिक नहीं थी कि उस आनन्द से वे मूर्छित हो जाते। किन्तु कोटि समुद्र से भी अधिक गम्भीराशय ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीगोपकुमार के दर्शनानन्द के अथवा उनके मिलनानन्द के वेग को सम्हाल पाने के लिए मूर्छित हो गये। धाम परिकर आदि के वैशिष्ट्य से श्रीभगवान् के भक्तवात्सल्यादि गुण का इस प्रकार का विपुल वैशिष्ट्य देखा जाता है।) श्रीकृष्ण के ब्रज में प्रवेश करने पर विरह-कातर वन्यमृगगण वहीं पर बने रहे, श्रीकृष्ण बिना उनकी

कहीं और जाने की शक्ति ही नहीं थी, प्रातःकाल होने पर श्रीकृष्ण के दर्शन की आशा में उन्होंने ब्रजपुर प्रान्त में ही रात्रि व्यतीत की। पक्षिगण आकाश में उड़ते-उड़ते दुबारा श्रीकृष्ण दर्शन न पाने के दुःख से कोलाहल के छल से रोदन करते-करते अन्यत्र चले गये। श्रीकृष्ण गोदोहन के बाद सभी गायों को सम्हाले बिना ही बलदेव के साथ गृह में प्रवेश कर गये। कारण यह था कि पुत्र-प्रणयाकुल श्रीनन्दमहाराज बोले, “हे वत्स! तुम वन भ्रमण से थक गये हो, अतएव अग्रज के साथ घर जाकर स्नान भोजनादि करो, मैं ही गायों को सम्हाल लूँगा। तुम और विलम्ब मत करो, विलम्ब होने से तुम्हारी माता दुःखिता होकर मेरी भर्त्सना करेगी, मेरी शपथ-शीघ्र जाओ।” इस प्रकार प्रयत्नशील नन्द की बात सुनकर उन्होंने गृह में प्रवेश किया। इसके बाद पुत्रद्वय के दर्शन से श्रीयशोदा और रोहिणी अश्रुधारा और क्षीर-धारा से परिहित वस्त्र भिगोते हुए-स्नेहभरे श्रीरामकृष्ण के प्रतयेक अंग का नीराजन करने लगी? बाद में अपनी केशराशि द्वारा नीराजन करते-करते मातायशोदा पुत्र को छाती से लगाकर बार-बार चुम्बन करने लगी। तब वह स्नेहमयी जननी निश्चय नहीं कर पा रही थी कि पुत्र को पक्ष में, मस्तक में, हृदय में या कि पेट में कहाँ रखें। प्रणयाकुल श्रीकृष्ण ने मुझे अन्तःपुर में ले जाकर मातादि को प्रणाम करवाया। श्रीयशोदामाता ने मेरे प्रति अपने पुत्र की अपूर्व प्रेम राशि को देख (मेरे नवागत होते हुए भी) अपने पुत्र के समान लालन किया। इसी समय कितनी ही ब्रजसुन्दरीकोई किसी न किसी बहाने से अथवा कोई बिना बहाने के ही वहाँ आकर मिली। मातागण श्रीकृष्ण-बलदेव के स्नानादि कार्य आरम्भ करते ही बल्लवीरतिलम्पट श्रीभगवान् बोले— हे मातः! हम दोनों भाई भूख से अत्यन्त पीड़ित हो रहे हैं, शीघ्र ही अन्न-व्यंजन आदि प्रस्तुत कर पिता को लाकर हमारी क्षुधा-निवृत्ति करो। श्रीकृष्ण की कथा सुनकर आई हुई ब्रजसुन्दरीगण बोलीं— हे ब्रजेश्वरि! हे देवि रोहिणी! आप लोग स्नान कार्य से विरत हो इनका भोजन प्रस्तुत करो, तब तक हम इनका स्नान कार्य सम्पादन किये दे रही हैं। मां यशोदा बोलीं— हे बालिकागण! पहले बलदेव को स्नान कराकर गोपराज को भोजन हेतु लाने के लिए उन्हें प्रेरण करो, उसके बाद श्रीकृष्ण का स्नानादि सम्पादन करो।

श्री सरूप बोले— हे ब्रह्मन्! (श्रीकृष्ण के गोपकुमार को ‘सरूप’ कहकर आह्वान करने से इस स्थान से महाराज परीक्षित् गोपकुमार को सरूप

नाम से बतला रहे हैं।) यह बात कहकर जननीद्वय के पाकगृह चले जाने पर ब्रजसुन्दरीगण यशोदा की बातों की प्रशंसा करते हुए कोई-कोई शीघ्र बलदेव का स्नान समापन करवाकर ब्रजराज को लाने के लिए उन्हें भेज दिया। इसके बाद ब्रजसुन्दरीगण परस्पर सेवाकार्य बाँट कर क्रमशः श्रीकृष्ण के विचित्र भूषण आदि श्रीअंग को से उतार कर अपने वस्त्रांचल द्वारा उनका गात्रमार्जन करने लगी। ब्रजबालागण श्रीकृष्ण के करकमलस्थित वंशी को अपनी सपत्नी (सौत) के समान समझकर उनके हस्तकमल से बलपूर्वक उसे लेने के लिए तैयार होते ही उन चतुर-शिरोमणि ने संकेत भंगी से मुझे प्रबोधित किया, मैंने उनके पीछे से हाथ फैलाया तो उन्होंने वंशी मेरे हाथ से निक्षेप कर दी। ब्रज बालागण ने पहले उत्तम तेज उनके अंग पर लगाकर अपने करकमल के कोमल स्पर्श नैपुण्य से धीरे धीरे उद्वर्तन करने लगी। फिर भी श्रीकृष्ण के सौकुमार्य अथवा लीलाकौतुकवशतः मुख्यभंगी के सहित आर्त्ति-सीत्कार करने से पुत्रप्राणा श्रीयशोदा श्रीकृष्ण के आर्त्ति-सीत्कार सुनकर “क्या हुआ? क्या हुआ?” कहकर पाकगृह से बाहर आई, बाद में पुत्र का हास्य मुख देखकर पाकगृह में चली गई। तब ब्रजबालागण ने त्रास और मृदुहास्य के साथ उद्वर्तन क्रिया समापन की। इसके बाद वे गुणगुना यमुना का सुवासित निर्मल जल रत्नकुम्भ से लोटे द्वारा लेकर उसे डालकर परिहासादि लीला के साथ स्नान कराने लगीं। स्नान समापन के बाद अपने-अपने घर से लाये वस्त्राभूषण मालानुलेपनादि द्वारा यथारुचि विचित्र नटवरवेश में उनको सुसज्जित किया। बाद में गुप्तरूप से उनको कुछ भोजन कराकर बार-बार नीराजन के वस्त्रसमूह अपने मस्तक से स्पर्श कराये। दिव्य चन्दन, कुंकुम, कस्तूरीपंक द्वारा उनके ललाट, कण्ठ और कपोल पर अति विचित्र तिलक और चित्रादि अंकित कर दिये। श्रीकृष्ण ने उनके मधुर भाव का निरीक्षण किया एवं उन्होंने भी भाव जनित हस्तस्तम्भन आदि यत्नपूर्वक संवरण कर परमानन्द से श्रीकृष्ण के नयनयुगल को कज्जल द्वारा उज्वलित कर दिया। श्रीकृष्ण ने उनके समक्ष वन्यक्रीड़ा-सुख वर्णन किया एवं विचित्र कोमल वचनों का प्रयोग कर रतिसुख (कुचस्पर्शनादि) विस्तार किया। इस प्रकार परस्पर सौहार्दराशि प्रकटन हेतु वेश रचना में विलम्ब हो रहा था, कारण यह था कि परस्पर के अंग स्पर्श के लोभ से श्रीकृष्ण ‘यह अच्छा नहीं है’ कहकर बार-बार तिलकादि को मिटा देते एवं गोपीगण भी

बार-बार उसकी रचना करतीं। पुत्र स्नेहातुरा यशोदा बार-बार गृह से बाहर आकर पुत्र की वेश रचना हुई कि नहीं यह देख रही है, विलम्ब देखकर अन्त में क्रोधित के समान गोपीगण से बोलीं— हे गोपकुमारिगण! बाल्यस्वभाव वश तुम अतिशय चञ्चल प्रकृति की हो, अभी तक पुत्र की स्नान-वेशादि क्रिया समाप्त नहीं हुई? यशोदा की बात सुनकर गोपीगण ने समझा कि अब शीघ्र ही वेशादि क्रिया समाप्त करनी होगा इसलिए बार-बार श्रीकृष्ण का मुखचन्द्र देखने लगी। तब एक परिहासोत्सुका वृद्धागोपी उनके चित्त का भाव जानकर बोलीं— अयि पुत्री यशोदे! तुम एकबार यहाँ आकर देख जाओ— तुम्हारे श्यामवर्ण पुत्र को इन बालिकागण ने कितना सुन्दर कर दिया है। धात्री मुखरा की बात सुनकर श्रीयशोदा ने दुबारा घर से बाहर आकर रुषिता के समान वृद्धा के कोमल वचनों का उत्तर प्रदान किया। श्रीयशोदा बोलीं— स्वाभाविक अशेष सौन्दर्य द्वारा जिसका पदकमल सतत नीराजित, उस मेरे श्यामसुन्दर का सौन्दर्य विश्व के समस्त सौन्दर्य और श्री के मस्तक पर नृत्य कर रहा है। फिर वेशभूषा के द्वारा सौन्दर्य वृद्धि की बात ही कहाँ है? उन गोपकुमारीगण का सौन्दर्यभाव मेरे श्यामसुन्दर के एक पदनखाग्र की सौन्दर्य-कणिका के भी नीराजन-योग्य नहीं है। यदि कहो कि परमा सुन्दरी श्रीराधा का सौन्दर्य भी क्या तुम्हारे श्यामसुन्दर के सौन्दर्य के समान नहीं है? उसके उत्तर में कहती हूँ कि— श्रीराधा का अतुलनीय सौन्दर्य तो है, किन्तु वह जो मेरे श्यामसुन्दर की वधू नहीं हो सकती, इसलिए उसका सौन्दर्य उसके बोझ स्वरूप हो रहा है। (इस बात से यह जाना जाता है कि श्रीगोलोक में भी गोपीगण का परकीया भाव विद्यमान है। फिर शुद्ध परकीया भाव के धाम श्रीवृन्दावन में रात्रि के समय नन्दालय में श्रीराधा, चन्द्रावली इत्यादि की स्थित एवं श्रीकृष्ण के शयनकक्ष में उनकी सेवा इत्यादि का वर्णन नहीं पाया जाता है, किन्तु गोलोक में इसके बाद ही यह वर्णित होगा। इसीलिए महाजनगण ने श्रीगोलोक में श्रीगोपीगण का भाव अविचित्त स्वकीया-परकीया कहकर निर्णय किया है। अर्थात् यहाँ पर स्वकीया है कि परकीया, यह मानों ठीक से निर्णय ही नहीं हो पाया है।)

श्रीसरूप बोले— हे ब्रह्मन्! यशोदानन्दन का वह अपूर्व सौन्दर्य, वह लावण्यश्री, वह माधुर्य कौन वर्णन कर सकेगा? कमल इत्यादि किसी लौकिक पदार्थ के साथ तो उनकी तुलना तो हो ही नहीं सकती, यहाँ तक कि द्वारकानाथ के साथ ही उनकी माधुरी की कोई तुलना नहीं है, किन्तु एकमात्र

श्रीराधा ही उनकी उपमा के योग्य हैं। श्रीकृष्ण जिस प्रकार नागरशेखराग्रगण्य श्रीराधा भी उसी प्रकार नागरिकावराग्रगण्या, फिर श्रीराधा जिस प्रकार नागरिकावराग्रगण्या, श्रीकृष्ण भी उसी प्रकार नागरशेखराग्रगण्य। परस्पर की परस्पर ही उपमा है। बाद में गोपराज के बलदेव के सहित आगमन को देखकर गोपीगण छिप गईं और श्रीकृष्ण भी पिता के साथ आकर सम्मिलित हो गये। श्रीनन्द भोजनालय में कनकासन पर बैठे, श्रीकृष्ण पिता नन्द के बाँई ओर एवं बलदेव उनके दाहिनी ओर बैठे और सबने भोजन आरम्भ किया। मैं उनके आग्रह से उनके सामने ही बैठा। रोहिणीदेवी घर के अन्दर सुपरिष्कृत रत्नखचित स्वर्ण और रजतमय पात्रों में विविध भोज्य सामग्री सजा रही है और श्रीयशोदा यत्न सहित परिवेशन कर रही है और भोगपुरन्दर श्रीकृष्ण सर्वगुण सम्पन्न चतुर्विध अन्न भोजन कर रहे हैं। षडरस के विविध प्रकार अमृत-निन्दित द्रव्य के भोजन के समय श्रीकृष्ण के अरुणाधर, चारुजिह्वा, सुन्दर गण्डस्थल और मुखकमल की विलासभंगी, भ्रू धनु और नयनकमल की चञ्चलता मन और वचन के अगोचर हैं। गोपिकागण ने अपने-अपने घर से श्रीकृष्ण के लिए लाया हुआ विविध भोज्यद्रव्य माता यशोदा के आगे स्थापित किया और श्रीकृष्ण ने उनका भोज्यद्रव्य खाकर उसकी प्रशंसा के साथ उनका मनोरंजन किया और अपने हाथ से मुझे भी कुछ भोजन कराया। बाद में श्रीराधा के लाये हुए लड्डू श्रीकृष्ण के वाम पार्श्व में रखे जाने पर श्रीकृष्ण ने तर्जनी और अँगूठे के नखाग्र से थोड़ा सा लेकर उसे जिह्वा पर रखते ही कड़वे भोजन के समान मुखभंगी विस्तार की। श्रीकृष्ण की उस प्रकार की मुखभंगी को देख परिहास समझ कर बलदेव ने कुछ हास्य किया, पुत्र के लिए इस प्रकार का भोज्यद्रव्य प्रदान करने के कारण माँ यशोदा राधिका के प्रति कुपिता हुई, श्रीराधा के इस प्रकार के द्रव्य-प्रदान को असम्भव जान पिता नन्द विस्मित हुए, श्रीराधा की मुग्धा सखीगण व्यथिता हुई, विदग्धा सखीगण परिहासरंग द्वारा श्रीराधा के विशेष सौभाग्य का अनुमान कर हर्षान्विता हुई और सपत्नीगण आनन्दिता हुई। “हे राधे! तुम्हारे भ्रातृवंश में उत्पन्न सरूप ही इस लड्डू को खाकर अत्यन्त विस्मित हुआ। श्रीकृष्ण की बात सुनकर श्रीराधा ने निर्जन स्थान से उनके प्रति भ्रू भंगी के द्वारा कटाक्षपात किया एवं श्रीकृष्ण ने भी उनके प्रति कटाक्षपात द्वारा श्रीराधा का मनोरञ्जन किया। मेरे प्रति प्रीति-विस्तार के

लिए ही विदग्ध-शिरोमणि श्रीकृष्ण की यह लीला है, यह रहस्य मैं शीघ्र ही जान गया। उसके बाद वे यथारिति आचमन कर लीलापूर्वक ताम्बूल चबाते हुए श्रीराधा की ओर देखकर चर्वित ताम्बूल मेरे मुख में प्रदान किया। (श्रीसरूप श्रीराधा के भाई श्रीदाम के वंश में उत्पन्न हुए थे, यह उनके ब्रज के नित्यसिद्ध स्वरूप का परिचय है। इस प्रकार सब ब्रजरस के उपासकगण के ही अपने-अपने नित्यसिद्ध स्वरूप श्रीगोलोक के शोभा के आस्पदरूप से विद्यमान है। दीक्षाकाल में परम करुण श्रीगुरुदेव-अन्तर्यामीत्व शक्ति के प्रभाव से साधक के उस नित्यसिद्ध स्वरूप का परिचय जानकर साधक को वही बतला देते हैं। बाहर से साधक-देह से श्रवण-कीर्तन आदि भजन के साथ श्रीगुरु प्रदत्त उसी अन्तश्चिन्तित सिद्धदेह से आत्मभावना कर साधक की निरन्तर भजन धारा चलती रहती है। प्रगाढ़ चिन्तन के फलस्वरूप साधक धीरे-धीरे वाह्यदेह का अभिनिवेश त्यागकर अपनी सिद्धदेह में परमावेश को प्राप्त होते हैं एवं उपासना की सिद्धि से उसी सिद्ध स्वरूप में ब्रज में सेवा प्राप्त कर धन्य हो जाते हैं। श्रीकृष्ण ने श्रीराधा की ओर देखकरउनका भी परमाभीष्ट चर्वित ताम्बूल उनके बन्धुजन को देकर उनका सन्तोष विधान किया एवं श्रीराधा के सन्तोष से उनका अपना भी सुख विशेष सम्पादित हुआ समझना चाहिए।)

इसके बाद श्रीनन्द ने गो-ब्रज में प्रवेश किया, विचक्षण श्रीराम श्रीकृष्ण के रहःक्रीड़ा का अवसर जान वे शयनकक्ष में चले गये। श्रीकृष्ण गान करते-करते आँगन में पदचारण करने लगे। इस प्रकार श्रीकृष्ण क्षणकाल ब्रजसुन्दरीगण के सहित प्रांगण में गानरस का आस्वादन कर माता द्वारा बार-बार बुलाये जाने पर शयन कक्ष में चले गये एवं दुग्धफेन के समान स्वच्छ और कोमल शैय्या पर शयन करने लगे। ज्योतिर्मय बहुमूल्यवान रत्नखचित स्वर्ण-पर्यङ्क के ऊपर वह शय्या निष्कलंक पूर्णचन्द्र के समान उपाधान समूह से सुशोभित थी। श्रेष्ठ प्रासाद के अन्दर मनोरम प्रकोष्ठ में मौलिक मालिकावृत विचित्र चन्द्रातप से शोभित अगुरुधूप वासित वह मनोरम रत्नपर्यङ्क शोभा पा रहा है विदग्धा श्रीराधा उस पलंग पर लेटे हुए श्रीकृष्ण के मुख में संस्कृत ताम्बूलवीटिका अर्पण करती हैं, चन्द्रावली और ललितादेवी उनके दोनों श्रीचरणों का सम्वाहन करती हैं। कोई ब्रजसुन्दरी चामर, कोई पीकदानी, कोई ताम्बूल सम्पुट, कोई सुवासित जलपूर्ण झारी लिये हुए है।

इस प्रकार वे परस्पर विभागक्रम से सेवा में नियुक्ता होती है। कोई श्रीकृष्ण के श्रवण योग्य मनोहरगान व उनकी नामावली कीर्तन करती है, कोई वाद्यवादन करती है, कोई श्रीकृष्ण के साथ वार्तालाप में मग्ना होती है। इस प्रकार वे परम सौहार्दपूर्ण सेवा में निरता होती है एवं श्रीकृष्ण परस्पर के अनदेखे उनको चर्वित ताम्बूल आदि प्रदान करते हैं इस प्रकार महाधूर्तशिरोमणि व्यवहार से प्रियागण को सन्तोष प्रदान कर प्रेयसीवरा श्रीराधा की प्रेमकथा से परमानन्द प्राप्त कर क्षणकाल शयनलीला को अंगीकार किया। बाद में श्रीकृष्ण के किसी संज्ञाविशेष द्वारा उनको संकत करते ही वे हर्षान्विता हो अपने अपने घर को चली गईं। उसी समय श्रीदाम उस स्थान पर आकर यत्नपूर्वक मुझे अपने घर ले गये इसलिए मैं श्रीकृष्ण की इसके बाद नैशविहार लीला का दर्शन नहीं कर पाया। (ब्रजसुन्दरीगण के साथ श्रीकृष्ण की निकुंजबिहार लीला अतिशय रहस्यमय है, सखीगण को छोड़ अन्य कोई इस लीलाका अधिकारी नहीं है।

“श्रीराधाकृष्णे एङ् लीला अति गूढतर ।
 दास्य वात्सल्यादि भावेर ना ह्य गोचर ॥
 सवे एक सखीगणेर् ईहा अधिकार ।
 सखी हैते ह्य एङ् लीलार विस्तार ॥
 सखी बिना एङ् लीलार पुष्टि नाहि ह्य ।
 सखी लीला विस्तारिया सखी आस्वादय ॥”

(चै० च०)

श्रीसरूप श्रीकृष्ण के प्रियनर्मसखा ही कहे जाते हैं, तभी ब्रजसुन्दरीगण के सहित श्रीकृष्ण के हास्य-परिहासादि रस का यथासम्भव आस्वादन प्राप्त होता है। क्योंकि प्रियनर्मसखागण “आत्यन्तिक रहस्यज्ञ सखीभाव समाश्रितः।” दास्य और वात्सल्यरस के साथ मधुररस का विरोध होने के कारण दासगण और मातापितागण को इस लीला का आस्वादन सम्भव नहीं है। श्रीमद् जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है— “किन्तु रहस्यलीला तु पौरुषविकारवदिन्द्रियैः पितृपुत्रदासभावैश्च नोपास्या स्वीयभावविरोधात्” भक्तिसन्दर्भ। अर्थात् अपने भाव के विरोध के कारण रहस्यमय श्रीश्रीराधाकृष्ण की निकुंजलीला पुरुषेन्द्रियविकारयुक्त व्यक्तिगण एवं पितृ-पुत्र-दासभावयुक्त भक्तगण की उपास्य नहीं है, क्योंकि यह भाव उनके भाव का विरोधी है। सखीभाव

समाश्रित प्रिय-नर्मसखागण यथासम्भव आस्वादन का अधिकार प्राप्त होते हुए भी रहस्यमय कुञ्जविहार दर्शन उनके पक्ष में भी सम्भव नहीं है।)

हे विप्र! श्रीकृष्ण की लीला दर्शन के अभाव के कारण अत्यन्त दुःख से श्रीदाम के गृह पर रात्रि व्यतीत कर प्रातः नन्दगृह को गया और देखा कि श्रीकृष्ण रतिचिह्नयुक्त हो पलंग पर निद्रावस्था में हैं। सरल प्रकृति माता यशोदा पुत्र के निकट बैठकर बहुत प्रकार से लालन करते-करते अपने मन में कहती हैं— हाय! मेरा यह बालक सारा दिन वन-वन में गौ-चारण करता है, इसलिये थककर सो गया है, अभी तक नहीं जागा है। विहारकाल में विदग्धा गोपीगणकृत नखक्षतादिचिन्ह देख अपने हाथ द्वारा वह क्षतस्थान स्पर्शकर कहती हैं— अबोध बालक वन-वन में बार-बार दौड़ते हैं, इसलिए वन के दृष्ट काँटों से अंग क्षत-विक्षत हुआ है। गोपिका के काजल लगे नयन-युगल के चुम्बनकाल में श्रीकृष्ण के अधरों पर काजल का दाग देखकर बोलीं— अहो कितना कष्ट! मेरा यह बालक निद्रावेश में कुछ भी नहीं जान पाता है, अपने नयन का काजल अपने शरीर में ही पोंछ लिया है। श्रीगोपिका के अधर का ताम्बूलराग श्रीकृष्ण के गाल पर एवं टूटे हुए हारादि में लगा देख माँ कहती हैं— हाय! बालक ने अपने अधर का ताम्बूलराग सर्वांग में लगाया है, बार-बार करवट बदलने के समय टूटा हुआ हार-मालादि में भी लगा लिया है। गोपी के स्तन में लगा कुंकुम श्रीकृष्ण के सर्वांग में लिप्त देख माँ ने कहा— निश्चय ही यमुना के किनारे की कुंकुम के रंग वाली मिट्टी बालक के सर्वांग में लिप्त हुई है, कितना आश्चर्य! स्नान के द्वारा भी अंगराग के समान इस मिट्टी का दाग विलुप्त नहीं हुआ। ऐसा लगता है कि कल सायंकाल चंचला बालिकागण ने भली प्रकार से अंगमार्जन आदि द्वारा स्नान नहीं करवाया, इसीलिए यह मिट्टी का दाग छूटा नहीं। हे ब्रह्मन्! प्रातः नन्दालय आर्यो वे सब ब्रजबालागण यशोदा की बात सुनकर भय, लज्जा, और हास्य के आविर्भाव से अपूर्व भावश्री से भूषिता हो गई। (यशोदा कहीं इस रहस्य को समझ न लें, इसलिए ब्रजबालागण को भय, यशोदा की मुग्यधता की बात सुनकर हास्य और श्रीकृष्णांग पर प्रकाशमान रतिचिन्ह देख लज्जा का उदय हुआ। एक साथ भय, लज्जा, और हास्य के मिलनसे उनका मुखमण्डल अपूर्व शोभा से भूषित हुआ।)

इसके बाद श्रीकृष्ण के जागने पर माँ यशोदा ने बलदेव के साथ उन्हें स्नान कराकर विविध-भूषणों से भूषित कर भोजन कराया। बाद में श्रीकृष्ण

ने गोपीगण की सुखवार्ता से कुछ देर विश्राम किया। इधर माँ यशोदा ने पुत्र के वन जाने का कृत्यादि समापन किया। यद्यपि गोपीगण श्रीकृष्ण की भावी विच्छेद चिन्ता से आकुला थी, फिर भी वन में श्रीकृष्ण की मंगलकामना से मंगलगीत के साथ पूर्णकुम्भादि स्थापन किया। इसके बाद माँ ने श्रीकृष्ण और बलदेव को वेदी पर बिठाकर अरण्योचित वेश भूषादि पहनाई एवं गरुड़मणि, व्याघ्रनख, अभिमन्त्रित रक्षाडोर और विशल्यकरणी इत्यादि औषधिसमूह उनके अंग पर बाँधे। वृद्धा ब्राह्मणीगण और गोपीगण द्वारा पुत्र को शुभाशीष कराकर श्रीकृष्ण-बलदेव के द्वारा नासा स्पर्शादि यात्राविधि का बलपूर्वक अनुष्ठान कराया।

बाद में श्रीकृष्ण में माँ-प्रदत्त मध्याह्न की भोज्य सामग्री श्रीदाम आदि के हाथ में देकर गायों को आगेकर वेणु बजाते-बजाते आगे बढ़े। श्रीकृष्ण के साथ सख्योचित व्यवहार निपुण सखा समूह अपनी-अपनी सामग्री लेकर गोप गाँव के बाहर निकलकर श्रीकृष्ण के साथ जा मिले। श्रीकृष्ण उनके साथ कभी वंशी, श्रृंग और कभी पत्रादि राचित वाद्य बजाते-बजाते शोभा पा रहे थे। अग्रज के साथ श्रीकृष्ण, सखागण के वे विभिन्न प्रकार के क्रीड़ा परिच्छद, गान, स्तव और नृत्य देखकर हर्षित हुए। श्रीकृष्ण के आगे बलदेव और पीछे मैं चल रहा था, श्रीकृष्ण का विरह न सह पाने के कारण उनके प्रेमपाश में आबद्धा गोपिकागण गण यन्त्र के समान पीछे पीछे चल रही हैं। किसी गोपिका के निरीक्षणादि जनित भाव विशेष से स्नेहार्द श्रीकृष्ण के वदनकमल को देख माता यशोदा हाथ द्वारा वदन सम्मार्जन करते ही उनके स्तनों से नियत क्षीरधारा निःसृत हो रही थी, इस प्रका पुत्रस्नेहातुरा माता वहिर्द्वार तक पुत्र का अनुगमन कर रही थी। श्रीकृष्ण के माता से लौट जाने के लिए अनुरोध करते ही माँ दो तीन पद पीछे जाते-जाते पुत्र स्नेह से सब भूलकर व्यग्रभाव से पुत्र के समीप आ गई और उपस्कृत ताम्बूल पुत्र के श्रीमुख में प्रदान कर दिया। फिर कई एक पद प्रतिनिवृत्त होते न होते पहले के समान गर्दन टेढ़ी कर पुत्र को देखा वे व्यग्रभाव से उसके पास प्रत्यावर्तन किया। इस बार कुछ मिष्ठान व फल आदि का रसपान कराकर घर जाते न जाते फिर पुत्र के पास लौट आई। इसबार पुत्र की वेशभूषादि निरीक्षण कर यथायोग्य स्थान पर सन्निवेशित किया बाद में घर जाने के लिए उद्यता होकर फिर पुत्र के निकट आकर स्नेहभरे स्वभाव से आर्ति के साथ विच्छेद दुःखिता माता राम और सखागण को शिक्षा देने लगीं। हे तात ! हे राम ! तुम सर्वदा ही

अनुज के आगे रहना। हे श्रीदामन्! तुम सरूप के सह तुम्हारे सखा के पीछे रहना। हे अंशुमन्! तुम इसके दाहिने हाथ की ओर, और हे सुवल! तुम इसके बाँयें रहना। इस प्रकार जननी दन्तों में तृण धारण कर बार-बार सबसे प्रार्थना कर पुत्र के प्रति स्नेहभरे दृष्टिपात करने लगीं। पुत्रस्नेह से व्यग्रबुद्धि माता बार-बार यातायात कर नवप्रसूता सन्तानवत्सला गाय को जय कर रही थीं। श्रीकृष्ण ने माता के चरण पकड़कर प्रणाम कर माँ के कण्ठ से लिपट कर विविध छल से अपनी शपथ आदि देकर माँ को निवृत्त किया। तब माँ दो चार पग चलकर एक ऊँचे स्थान पर चढ़कर चित्रित के समान दूर जाते हुए पुत्र को देखने लगीं, तुरन्त ही स्तन धारा और अश्रुनीर से उनके वक्ष का वस्त्र गीला हो गया जो सब गोपिकागण यन्त्र के समान श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे अनुगमन कर रही थीं, वाष्पावेग से उनके कण्ठरुद्ध हो गये, वे गान करने में असमर्था हो गईं। जाते समय उनका पदस्खलन हो रहा था एवं अश्रुधारा से दृष्टि रुद्ध हो गई। लज्जा और भय से वे न तो कुछ बोल पा रही थी और न ही कुछ कर पा रही थी। इस प्रकार विरह जनित शोक के प्रतीक स्वरूप अक्षमा होकर वे महाशोकसागर में निमग्ना हो गईं। उनके हृदय और नयन श्रीकृष्ण ने आकर्षित कर लिये हैं इस कारण वन के पास में आकर भी वे प्रतिनिवृत्ति नहीं हो पा रही थीं। श्रीकृष्ण यत्न के सहित उनको निवर्तित करके भी वे बार-बार मुड़-मुड़कर श्रीकृष्ण को देख रही थीं। श्रीकृष्ण ने व्यग्रतावश ग्रीवा को टेढ़ाकर प्रेम के साथ उन्हें आश्वासित किया एवं भ्रू-संकेतादि द्वारा उनके चित्त में लज्जा और भय आदि जगाकर उनकी गति को रोक दिया, तब वे माँ यशोदा के आगे उन्हीं के समान किसी उच्च स्थान पर चढ़ गईं।

स्वभाव-सुस्निग्ध महाराज नन्द पत्नी के पुत्रवात्सल्य दर्शन से स्नेहयन्त्रित हो गये। पुत्र के प्रति समस्त ब्रजवासीगण की विपुल स्नेहराशि देखकर वृद्ध उपनन्द आदि के साथ बहुत दूर आकर भी पुत्र का त्याग कर घर को लौटने में समर्थ नहीं हो पा रहे थे। आकाश में शुभ सूचनाकारी पक्षी उड़ रहे थे एवं वन्यमृगगण आनन्द के विचरण करते हुए शुभसूचना दे रहे थे। यह देखकर नन्द-महाराज अन्तर में आनन्दलाभ करते हुए भी पुत्रस्नेह से अतिशय कातर होकर बलदेव के साथ पुत्र का बार-बार आलिंगन कर स्नेहपूर्ण हृदय से मस्तक को सँघकर अश्रुधारा प्रवाहित कर रहे थे। श्रीरामकृष्ण पिता को प्रणाम कर ब्रज के आश्वासन रक्षण आदि और उनके अपने हितकर बहुत

से कर्तव्य उन्हें स्मरण कराकर प्रतिनिवृत्त किया, पिता भी उनको निरीक्षण करते-करते कुछ समय वहाँ रुके रहे। इसके बाद पुत्र युगल के वन में प्रवेश करने से जब वे और दिखाई न दिये श्रृंग आदि के शब्द, गायों का हम्वारव भी जब और नहीं सुना गया, तब पुत्र के समाचार लाने के लिए द्रुतगामी दूत को नियुक्त कर श्रीयशोदा के साथ गोपांगनागण को सान्त्वना प्रदान कर घर लौटे।

विरह-व्यथिता ब्रजसुन्दरीगणों ने श्रीकृष्ण की रम्यविलासावली का गान करते-करते ब्रज में प्रवेश किया एवं उनका संगम ध्यान करते-करते दिन का विरह-मुहूर्त समूह व्यतीत करने लगीं। उनकी विरह दशा के वर्णन में अनन्तदेव भी असमर्थ है, अतएव महाआर्त्तिजनक उस दशा के वर्णन में कौन बुद्धिमान् प्रवृत्त हो सकेगा? श्रीकृष्ण उन सब ब्रजसुन्दरीगण को विदा करने से अन्तर में अत्यन्त दुःखी होते हुए भी सखागण द्वारा बलपूर्वक आगे ले आये हुए शीघ्र ही श्रीवृन्दावन के मध्य प्रवेश कर गये। सखागण उन्हें वृन्दावन की शोभा दिखाने लगे और वे भी उस शोभा के वर्णन से मनोव्यथा को शान्त करने लगे। वृन्दावन में गोपबालकगणों के साथ उन्होंने जिस प्रकार क्रीड़ा का विस्तार किया, उसे देखकर स्थावरजंगम तक भाव दशा को प्राप्त हुए थे, वह सब विलास विभ्रम में ध्यान भी नहीं किया जा सकता, रसना उसे किस प्रकार दूसरे के निकट वर्णन करने में समर्थ होगी? श्रीगोवर्धन पर्वत के निकटवर्ती स्थान समूह में गोचारण कर श्रीयमुना में सब गायों को जलपान कराकर सायंकाल में पूर्ववत् प्रत्यावर्तन करके श्रीकृष्ण ने ब्रजवधूगण के साथ विविध विलास किया था। यद्यपि गोपराज की श्रीनन्दीश्वरपुरी सर्वशोभा सम्पन्न है फिर श्रीकृष्ण का वृन्दावन के कुंज आदि स्थानों में अधिक आग्रह देखकर श्रीगोलोकवासीगण भी सर्वदा निकुंजवासादि में समधिक आग्रह प्रकाश करते हैं।

हे ब्रह्मन्! उन गोलोक में वास कर मैंने जिस आनन्द या सुख का अनुभव किया है, उसे भाषा के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। भक्तितत्त्वविद्गण ने निश्चित किया है कि भक्ति महिमा से मुक्तगण की अपेक्षा श्रीवैकुण्ठवासीगण का परम महत् सुख सम्पादित होता है। रसविशेष की भिन्नता के कारण वैकुण्ठ से अयोध्या का सुख एवं अयोध्या से भी द्वारकावासीगणों का सुख परम महत् हैं श्रीगोलोकवासीगणों का सुख उस

समूह सुख से भी अधिक है, वह सुख युक्ति तर्क से परे, इसलिए कभी भी वचन के गोचर नहीं हो पाता, केवल उस सुख के आस्वादनकारीगण ही उसका अनुभव करते हैं। (वैकुण्ठ में श्रीनारायण के नित्यपार्षदगण की अपेक्षा अयोध्या में सेवारसनिष्ठा के आधिक्य हेतु श्रीरघुनाथ चरणारविन्द के ऐकान्तिक नित्यसेवकगण के सुख का आधिक्य उसकी भी अपेक्षा द्वारका में सौहृदरस निष्ठाविशेष द्वारा श्रीयादवेन्द्र के एकान्तिक नित्यसुहृद् यादवगण को अधिक सुख का अनुभव होता है। श्रीगोलोक में श्रीनन्दनन्दन चरणारविन्द के नित्यप्रियगण के प्रेम इस निष्ठाविशेष द्वारा सर्वतोभाव से अधिक सुख सम्पादित होता है, इसे पहले भी प्रदर्शित किया हुआ है।) हे ब्रह्मन्! श्रीवैकुण्ठ के नित्यपार्षद नन्दादि गोलोकवासी श्रीनन्दादि के अवतार हैं, फिर स्वर्ग के द्रोण वसु इत्यादि उन नित्यपार्षद नन्द आदि के प्रतिरूप हैं। (प्रपंचान्तर्गत तत्त्व हेतु द्रोण, वसु इत्यादि को अवतार न कहकर प्रतिरूप कहा गया है।) अवतारी श्रीकृष्ण से जिस प्रकार उनके अवतार समूह अभिन्न हैं, उसी प्रकार श्रीनन्दादि के अवतार श्रीवैकुण्ठ के नन्द आदि भी गोलोक के नित्यप्रिय नन्दादि से अभिन्न हैं। श्रीकृष्ण जिस प्रकार स्थान, काल और कर्म के अनुसार कभी अंशरूप से और कभी पूर्णरूप से अवतीर्ण होते हैं, उसी प्रकार गोलोक के श्रीनन्दादि के सभी अवतार भी श्रीकृष्ण के पूर्णरूप की लीला में पूर्णरूप से एवं अंशरूप से लीला की रसपुष्टि का विधान कर प्रभु के साथ विहार करते हैं। (श्रीवैकुण्ठ में भी श्रीनारद ने जो गोपकुमार के निकट कहा है— प्रभु की लीला के अनुरूप उनके पार्षद हम लोग भी लीला के सहायक के रूप में प्रभु के विभिन्न अवतार मूर्ति के निकट रहकर उन्हें विचित्र क्रीड़ामाधुरी आस्वादन कराते हैं, उस सिद्धान्त की भी इसी रूप में दोष रहित संगति होती है।)

हे माथुरोत्तम! श्रीकृष्ण की कृपा के प्रभाव से गोलोक के और भी कुछ आश्चर्य माहात्म्य कहता हूँ— सुनो! वहाँ कोटि-कोटि बालक तरुण और वृद्ध जो सब गोपगण रहते हैं, वे सब मन में सोचते हैं “मैं ही श्रीकृष्ण का महाप्रिय हूँ, मेरे समान उनका कोई भी प्रिय नहीं है” वे श्रीकृष्ण के साथ उसी प्रकार का व्यवहार भी करते हैं एवं श्रीकृष्ण भी उनके प्रति तदनुरूप व्यवहार करते हैं, इस व्यवहार में परस्पर कुछ भी कपटता नहीं है— इसलिए यह परम विशुद्ध है। फिर भी वहाँ किसी को तृप्तिलाभ नहीं होता है, वरन् उत्तरोत्तर

प्रेमतृष्णा बढ़ती ही रहती है और उस प्रेमतृष्णा से विपुल दैन्य का उदय होता है जिससे निरन्तर विरहार्ति प्रकटित होती है। हे ब्रह्मन्! मैंने शत-शत युक्ति द्वारा निश्चय किया है कि गोलोक में गोपीगण के समान श्रीकृष्ण का प्रियपात्र और कोई नहीं है। इन गोपीगण में जिसके प्रति वे प्रेमविशेष के साथ अवलोकन करते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि वे ही श्रीकृष्ण की सर्वाधिक प्रिया हैं। (गोपीगण के प्रति श्रीकृष्ण के व्यवहार माधुर्य को देख श्रीसरूप सख्यरस के उपासक होते हुए भीगोपीगण को श्रीकृष्ण की सर्वाधिक प्रिय कहकर स्वीकार कर रहे हैं! यद्यपि गोलोक वासीगण सभी मन में मानते हैं कि वे श्रीकृष्ण के सर्वाधिक प्रिय हैं, फिर भी तटस्थ होकर विचार करने से गोपीगण के प्रति श्रीकृष्ण के प्रीत्याधिक्य का वास्तविक सिद्धान्त ही प्रकाशित हो जाता है। प्रेम की जाति और परिमाण के अनुसार ही श्रीकृष्ण की वश्यता की भिन्नता होती है। “तटस्थ हड़या मने विचार यदि करि। सब रस हड़ते श्रृंगारे अधिक माधुरी ॥” (चै० च०) विशेषतः ब्रजबालागण को श्रृंगाररस परकीयाभाव के माधुर्य से श्रीकृष्ण को इतना आस्वादय और मनोरम लगता है कि श्रीकृष्ण निरन्तर इस प्रेम के सर्वाधिक वशीभूत रहते हैं। गोपीगण प्रत्येक ही अपनों को श्रीकृष्ण की श्रेष्ठ प्रिया मानते हुए भी अथवा श्रीकृष्ण जिस गोपी के प्रति सप्रेम दृष्टिपात करे उसी को सर्वाधिक प्रिया कहकर मानने पर भी कृष्णकान्ता शिरोमणि वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा ही श्रीकृष्ण की सर्वश्रेष्ठा कान्ता एवं सर्वाधिक प्रियतमा है। यह निखिल शास्त्र और महाजनगण का निर्विवादित सिद्धान्त है। “सेइ गोपीगण मध्ये उत्तमा राधिका। रूपे, गुणे सौभाग्ये प्रेमे सर्व्वीधिका ॥” (चै० च०) “यथा राधाप्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा। सर्व्वगोपीषु सेवैका विष्णो रत्यन्तवल्लभा ॥” (पद्मपुराण)। अर्थात् श्रीराधिका श्रीकृष्ण की जिस प्रकार प्रियतमा हैं उनका (श्रीराधा का) कुण्ड भी श्रीकृष्ण को उसी प्रकार प्रियतम है, क्योंकि गोपीगणों में श्रीराधिका श्रीनन्दनन्दन की अत्यन्त प्रियतमा अर्थात् सर्वोत्तमा प्रेयसी हैं। समस्त गोपीगणों में श्रीराधिका और चन्द्रावली मुख्यतमा हैं, इसमें फिर श्रीराधा ही सब प्रकार से अर्थात् रूपमाधुर्य से श्रीकृष्ण-प्रणयादि से अधिका है, जिस कारण श्रीराधाम हाभाव-स्वरूपिणी और कृष्ण संतोष हेतु धर्म समूह से अति प्रधाना है। “तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वाधिका। महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी ॥” (उ० नी०)। यद्यपि ब्रजगोपीगण

अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार श्रीकृष्ण के साथ प्रेमानुरूप क्रीड़ा सुख परम्परा आस्वादन करती रहती हैं, फिर भी प्रेम के स्वभाववश प्रत्येक ही अपने मन में मानती है कि श्रीकृष्ण में उनका प्रेम नहीं है। इसलिए प्रत्येक ही चिन्ता करती है कि “मेरा क्या ऐसा सौभाग्य होगा, जिस दिन श्रीकृष्ण मुझे अधमा दासी कहकर गणना करेंगे? (जिस दैन्यमूलक प्रेम का स्वभाव ही अतृप्ति है, ब्रजबालागण में उसी प्रेम के सर्वाधिक विकास के कारण उनके प्रेम में उस प्रकार की अतृप्ति और दैन्य का निरन्तर प्रकाश होता है।) हे स्वामिन्! उस प्रगाढ़ प्रेमरस का आवेश और स्वभावगत महिमा अत्यन्त गम्भीर है— महद्गण के लिए भी अतर्कनीय है, अतः कोई इसका वर्णन करने में सक्षम नहीं है। उनका वह प्रेमरस का आवेश और महिमा श्रीकृष्ण की लीला में ही विशेष भाव से व्यक्त होता है, इसलिए वहाँ अवस्थान के समय मैंने जो लीला साक्षात् दर्शन की है उस अद्भुत लीला को कुछ सुनिये।

एक बार यमुना के किनारे विहार करते हुए श्रीनन्दनन्दन ने सुना कि कालियानाग पुनः अपने हृद में आ गया है। तब श्रीकृष्ण अकेले ही कालीदह पर जाकर कदम्ब वृक्ष पर चढ़कर तेजी से वृक्ष से दह के जल में कूद पड़े। उनके कूदने से दह का जल आलोड़ित हो उठा। विचित्र सन्तरण लीला विस्तार करते हुए वे जलवाद्यादि क्रीड़ा करने लगे। तत्काल ही दुष्ट स्वभाव कालिय ने अपने फन द्वारा उन्हें बाँध लिया और कौतुकी प्रभु ने भी उसी प्रकार की कोई विचित्र अवस्था प्रदर्शित की अर्थात् कालिय को पकड़ के बीच निश्चेष्ट होकर अवस्थान करने लगे। श्रीकृष्ण के संगी गोपबालकगण उन्हें न देख पाने के कारण मृतवत् हो गये एवं व्याकुलभाव से उन्हें खोजते-खोजते उनके ध्वज वज्र अंकुश आदि युक्त पदचिन्ह का अनुसरण कर कालियदह पर पहुँच गये। वहाँ वे कालियानाग की पकड़ में चेष्टा रहित श्रीकृष्ण को देखकर मूर्छित हो गये। हाय! जो वनवीथियों में श्रीकृष्ण के ढँक जाने पर प्राण त्याग करने की इच्छा करते हैं। वे गाय, बैल, बछड़े, ग्राम्य और वन्य पशुसमूह कालियदह के पास उपस्थित हो श्रीकृष्ण के मुख पर दृष्टि टिकाये हुए महाकरुणस्वर से रोदन करने लगे। पक्षीगण आर्त्तनाद करते-करते आकाश में उड़ते हुए वेगपूर्वक कालियदह के जल में गिरने लगे। वृक्ष लतादि सूख गये, इस प्रकार महा उत्पात की सृष्टि हुई। उसी समय मानो प्रभु द्वारा अन्तर में प्रेरणा प्राप्त करके ही एक वृद्ध द्रुतगति से गोप-गृहों

की ओर गया एवं घोर आर्त्तनाद के साथ रोदन करते-करते ब्रजवासीगणों को वह सारा वृत्तान्त सुनाया। महाभयंकर उत्पातादि देखकर श्रीकृष्ण के अनिष्ट की आशंका से कातर ब्रजवासीगण पहले से ही गाँव के बाहर द्वार पर उपस्थित हो गये थे। वृद्ध के भग्नकण्ठ के इन निदारुण वाक्यों से जैसे सहसा उनके सिर पर वज्रपात हो गया। अपने घर पर अवस्थित श्रीबलदेव 'मिथ्या-मिथ्या' कहते हुए मृतप्राय और दौड़ने के लिए तत्पर ब्रजवासिगण को सान्त्वना देने लगे एवं माता रोहिणी को यत्न के साथ प्रबोध देते हुए गृह-रक्षण में नियोजित कर द्रुतगति से उन ब्रजवासिगण के सहित जा मिले और वे उनके साथ जल्दी ही कालियदह पर जा पहुँचे। श्रीबलदेव अनुज की इस प्रकार की दशा देख धैर्यधारण में अक्षम हो प्रेमकातर दशा से व्याकुलभाव से रोने लगे एवं काष्ठ-पाषाण भेदनकारी विलाप करते-करते श्रीयशोदानन्दन के समान ही मूर्च्छित हो गये। तुरन्त ही प्राणिसमूह की इस प्रकार की आर्त्तिपूरित महाक्रन्दन की ध्वनि उठी कि जैसे महादुःख से समस्त विश्व ही रोदन कर रहा हो। उस घोर क्रन्दन के शोर से धीरशिरोमणि श्रीबलदेव ने संज्ञाप्राप्त हो यत्न के साथ स्वयं को प्रकृतिस्थ किया। एक क्षण के बाद ही मूर्च्छित श्रीनन्द और यशोदा के संज्ञा प्राप्त हो पुत्र को उस अवस्था में देखकर तेजी से कालियदह में प्रवेश करने के लिए तैयार होते ही श्रीबलदेव ने उनका हाथ पकड़कर उन्हें बलपूर्वक निरोध किया। सब ब्रजवासीगणों को मूर्च्छित एवं मृततुल्य देखकर श्रीबलदेव अत्यन्त आर्त्ति के साथ श्रीकृष्ण को सम्बोधन कर गद्-गद् कण्ठ एवं ऊँचे स्वर से बोलने लगे— हे भगवन्! यह वैकुण्ठवासी पार्षद नहीं है, अयोध्यावासी वानर भी नहीं हैं किम्वा द्वारकावासी यादव आदि भी नहीं है, यह गोलोकवासी हैं— तुम ही तो इनके मात्र जीवन हो, इसलिए मैं इनकी रक्षा करने में असमर्थ हूँ। हे परम करुणामय! जब तक इनके प्राणों का वियोग न हो, तब तक यह करुण लीला विनोद त्याग करो, अन्यथा गोष्ठजन के बन्धु नाम को कलंक लगेगा, एवं तुम भी अपने मृदुल स्वभाव के कारण इनके वियोग से शोकातुर होंगे।

श्रीसरूप बोले— हे ब्रह्मन्! परमविह्वलता के साथ सब के अन्त में गोपीगण दह के समीप आकर अपने प्राणनाथ को इस दशा में देख विविध विलाप के साथ रोदन करते करते दुःख के कारण पुनः-पुनः मूर्च्छिता हो गई। बाद में चेतना प्राप्त होने पर भी शोकावेग सहन न कर पाने के कारण प्रभु के

पास जाने की इच्छा से कालियदह में प्रवेश करने के लिए तैयार हुई। तब प्रभु आत्मकौतुक त्यागकर कालिय के बन्धन से निकल आये एवं उसके उठे हुए विस्तृत हजारों फनों पर चढ़कर गोपीगण को उस फनमण्डल पर अपने निकट लेने के लिए अपने हस्तकमल युगल फैला दिये। इसके बाद प्रभु ने महारत्नों में शोभि रत्नस्थली के श्रेणीदल के समान विचित्र कालिय फनसमूह पर अपनी प्रिया गोपीगण को चढ़ाया। कौतुकसिन्धु प्रभु श्रीश्यामसुन्दर ने गोपीगण के साथ कालिय के फनरूपी अद्भुत रंगमञ्च पर दिव्यगीत वाद्य एवं नृत्य आदि का विस्तारकर रासविलास जनित सुख का अनुभव किया। रासक्रीड़ा और श्रीकृष्ण की अद्भुत शक्ति के प्रभाव से किंवा मोहगाम्भीर्य शीघ्र न दूर होने से श्रीनन्द-यशोदा आदि वात्सल्यरस के आधार गोप-गोपीगण इस लीला का दर्शन नहीं कर पाये। श्रीबलदेव द्वारा प्रबोधित होकर कालीदह के तट पर अवस्थित श्रीनन्दादि ब्रजवासिवृन्द श्रीकृष्ण का दर्शन कर हर्ष और विस्मय से अभिभूत हो गये। सर्पराज कालिय का दमन कर मृदुहास्य के साथ स्तवनशीला कालिय-पत्नीगण उत्तरीय खींचकर उन उत्तरीय-वस्त्र द्वारा एक बड़ा सा लगाम बनाकर कालिय के नासारन्ध्रों में प्रवेश कराकर अपने बाँये हाथ में थाम लिया। अश्व के समान उस नाग के ऊपर चढ़कर दाहिने हाथ से चाबुक के समान मुरली संचालन कर कालिय को द्रुतगति से चलाने लगे। कभी आनन्द के साथ मुरली बजाने लगे इस प्रकार कालियनाग के प्रति अपने वाहनोचित कृपा का विस्तार करने लगे। कालिय-पत्नीगण द्वारा भक्तिपूर्वक समर्पित बहुमूल्य रत्नभूषणादि एवं उनके द्वारा लाये हुए यमुना के कमल, कुमुदादि पुष्पसमूह द्वारा गोपिकागण को विभूषित कर रही थीं एवं स्वयं भी भूषित हो रही थीं। इसके बाद फणीन्द्र द्वारा असंख्य मुखों से स्तुत होने के बाद दह से बाहर निकल रहे थे, इसे देखकर सभी हर्ष के कारण नृत्य करने लगे। श्रीकृष्ण ने गरुड़ की अपेक्षा भी दुष्प्राप्य महाप्रसाद लाभ द्वारा महाहृष्ट कालिय के मस्तक से गोपवधूगण के सहित अवतरण किया। तब नन्दादि ब्रजवासिगण ने उनको आलिंगन और नीराजन करते-करते आनन्दाश्रुधारा से उन्हें अभिषिक्त किया। बाद में उन्होंने कालिय के प्रति कुछ अनुशासनवाणी का प्रयोग कर उसे दह से निष्कासित कर दिया। उसके बाद गोप-गोपीगण द्वारा सम्पादित मनोहर वाद्य गीतादि रूप महोत्सव के द्वारा संतोषित हो श्रीभगवान् गोपावास में प्रविष्ट हुए।

किसी समय केशी और अरिष्ट नामक दुष्ट कंस के प्रिय अनुचरद्वय एकसंग ब्रज में प्रविष्ट हुए। केशी विशालकाय घोड़े की आकृति और अरिष्ट विशाल बैल की आकृति का था। उन दोनों असुरों ने समस्त गोकुल को अपने पैरों से रौंदते हुए गोप-गोपीगण के मन में महा भय का संचार किया था। उनके गगनस्पर्शी महाकाय दर्शन और घोरनाद श्रवण से ब्रज के प्राणिगण भय के कारण पृथ्वी पर गिरने लगे। दोनों असुरों के भय से सन्तप्त निजजन द्वारा बलपूर्वक रोके जाने पर भीउन्हें आश्वासन प्रदान कर श्रीकृष्ण के वीरदर्प से बाँह ठोकते हुए उनके आगे आये थे। महावेग से आये हुए केशी को पहले पैर के प्रहार द्वारा दूर फेंककर और वृषासुर को बाँधकर उसकी नासिका को छेदकर गोपीश्वर महादेव के सम्मुख उनके वाहन रूप में रख दिया। विशालकाय घोड़े की आकृति वाले केशी के पुनः प्रबल आक्रमण करने पर श्रीकृष्ण महापराक्रम से उसकी पीठ पर चढ़ बैठे और उसके दमन के लिए उसे बहुत प्रकार से दौड़ाया। इस प्रकार उन्होंने अश्वरूपी असुर का दमन कर शोभा प्राप्त की। बाद में उस विशाल अश्व की पीठ पर हजारों अपने सखागण को चढ़ाया और विचित्र-विचित्र कूदने के कौतुक प्रदर्शन करते हुए कभी पृथ्वी पर और कभी आकाश मण्डल में परिभ्रमण करते-करते नाना प्रकार की मनोहर क्रीड़ा की थी। इस प्रकार क्षणकाल में ही उस असुर को अपने वश में लाकर घोड़े पर चढ़कर विभिन्न केलि विस्तार के लिए उसे रस्सी से बाँधकर ब्रज में ही रखा था। गोपीश्वर के सम्मुख रक्षित वृषासुर को अन्त में गाड़ी खींचने के लिए ब्रज के अन्दर रख लिया था।

श्रीकृष्ण के नन्दीश्वरपुर में अवस्थान के समय एकबार कंस की आज्ञा से श्रीअक्रूर महाशय श्रीकृष्ण को ब्रज से मथुरा ले जाने के लिए उपस्थित हुए थे। वह वृत्तान्त सुनकर ब्रजवासीगण की जो अवस्था हुई थी, उसे सुनकर अन्यदेशवर्ती शिला-काष्ठ आदि ने भी रोदन किया था और विदीर्ण हुए थे। रात के समय वह बात सुनकर गोकुलवासीगण बहुत प्रकार से विलाप के साथ रोदन करते हुए मोहदशा को प्राप्त हुए थे। पुत्रगतप्राणा यशोदा ने दुष्ट कंस से भीता होकर अपनी शपथ देकर श्रीकृष्ण को वस्त्रादि द्वारा ढककर छिपाकर रख लिया था। प्रातःकाल में श्रीअक्रूर ने अनेक युक्तियों से श्रीनन्द को प्रबोधित किया जिससे वे अपनी पत्नी को आश्वासित कर अपने पुत्र को बाहर लेकर आये थे। उसे देख गोपीगण हा-हा करके

आर्त्तस्वर में रोदन करने लगीं, लज्जादि को त्यागकर उच्चस्वर से रोदनशीला गोपीगण को देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे उनके प्राणों को कोई खींचकर बाहर निकाल रहा हो। तब दीना यशोदा ने बाहर आकर अश्रुधारा मार्जन करते-करते पुत्र के हाथ को पकड़कर धरोहर के समान उसे अक्रूर के हाथ में अर्पण किया। श्रीनन्द को भी कहा— मैंने अपने प्राणाधिक पुत्र को आपके हाथ में समर्पण किया, आप किसी का भी विश्वास न कर सदैव इसे अपने पार्श्व में ही रखना और शीघ्र ही वापस लाकर मेरे हाथ में वापस सौंपना। इस प्रकार पुत्रशोक में व्याकुला हो के बार-बार मोहदशा को प्राप्त करने लगी। बाद में जब कृष्ण शून्य घर में प्रविष्ट हुई, तो ब्रजांगनागण की महान् रोदन ध्वनि उठी। आज भी जिसके स्मरणमात्र से ही शिला भी रोदन करने लगती है, शुष्ककाष्ठ से भी जल निकलने लगता है, वज्र भी विदीर्ण हो जाता है। प्राणहीन वस्तु की ही जब यह दशा होती है तब सप्राण मानव की क्या बात कही जाय, उसके स्मरण से क्षणकाल में ही यदि जगद्वासी के प्राण अलग न हो, तो शोक के सागर में वे अवश्य ही डूब जायेंगे। ब्रजांगनागण को सरल स्वभाव यशोदा द्वारा बहुत प्रकार से सान्त्वना और प्रबोध दान करने पर भी महार्त्ति शोकसागर में निमग्नमानसा वे यशोदा से क्रोधित हो बोली थीं— रे निर्दय हृदये! रे बुद्धिहीने! व्याघ्र के हाथ मैं अपने पुत्र को समर्पण कर कृष्णशून्य घर में प्रवेश करने में तुम ही सक्षम हो। इस प्रकार यशोदा और नन्द के कार्य की निन्दा करते-करते और अक्रूर को अभिशाप प्रदान करते-करते महाशोकावेग में घर से निकल कर वे प्रभु को आह्वान कर करुण स्वर में रोदन करते-करते दौड़ गईं। ब्रजांगनागण के शोकावेगजनित प्रबल आर्त्तिमय रोदन ने श्रीबलदेव, गोपवृन्दसह श्रीनन्द, रथारुढ़ श्रीकृष्ण, यहाँ तक कि अक्रूर तक को रोदन कराकर निखिल ब्रजवासिगण को मूर्छित कर दिया। गोपिकागण की एकमात्र गति श्रीकृष्ण ने एकक्षण बाद स्वास्थ्यलाभ कर अन्त दशा को प्राप्त गोपिकागण को देख उन्हें संजीवित करने के लिए रथ से छलांग लगाकर नीचे आये और सब के अनदेखे गोपीगण के साथ कुञ्ज में प्रवेश किया। बाद में कंसदूत अक्रूर चेतना प्राप्त होने पर रथ पर श्रीकृष्ण को न देख, अनुताप करने लगे एवं वाक्य चातुरी से बलदेव को वशीभूत किया। उन्होंने ऐसी वाक्य-चातुरी विस्तार की कि जैसे श्रीकृष्ण के लिए ही वसुदेव देवकी और यादवगण को इतना दुःख हो। इसके बाद रोहिणीनन्दन पितृव्य अक्रूर के साथ अनुज को खोजते हुए श्रीकृष्ण के

पदचिन्हों का अनुसरण कर गोपीगण सह श्रीकृष्ण जिस कुञ्ज में विहार कर रहे थे, उस कुञ्ज के समीप पहुँचे। श्रीकृष्ण को गोपीगण द्वारा परिवेष्टित देख अग्रज बलदेव दूर पर ही अवस्थान करने लगे एवं अक्रूर उच्च स्वर से रोदन करते-करते श्रीकृष्ण को सुना सुनाकर वह सब बात बोलने लगे।

श्रीअक्रूर बोले हे प्रभो! दुष्ट कंस वृद्ध और अति दीन वसुदेव की नित्य ही भर्त्सना करता है, और कभी-कभी तलवार से विनाश करने के लिए भी उद्यत होता है। इस प्रकार आप के भक्तद्वय त्रास और आर्तियुक्त हो शोकसागर में निमग्न हो जाते हैं, इसलिए उनके प्रति उपेक्षा प्रदर्शन न करें। हे देव! दूसरे यादवगण का भी अन्य कोई आश्रय नहीं है, वे सब महा आर्त्ति के साथ आपके आगमन पथ पर सतृष्ण दृष्टिपात कर किसी प्रकार प्राण धारण कर रहे हैं। महाशोक सन्तप्त उन यादवगण को हताश मत कीजिए। कंस से देव विप्र आदि सर्वदा सन्तप्त हो रहे हैं वह देवमर्दन दुरात्मा कंस सर्वदा अपने बाहुबल का प्रदर्शन कर आत्म प्रशंसा करता रहता है और किसी को तृण के समान भी नहीं मानता है। अपने अनुरूप असुरगण द्वारा उसकी आराधना होती है। इस प्रकार परम उग्रकर्मा अक्रूर ने दाँतों में तृण धारण कर दीन वचन विस्तार कर ब्रजस्त्रीगण को प्रणाम कर प्रार्थना की— आप यदुवंश-उत्पन्न लोकसमूह का विनाश न करें, उनके प्रति कृपा करें। विशेषतः कंस द्वारा कारागार में बन्द किये गये श्रीकृष्ण के उन दीन पिता-माता वसुदेव-देवकी की रक्षा करें। अक्रूर की बात सुन गोपीगण बोलीं— हे महाधूर्त! मिथ्या प्रलापक! हे कंसानुवर्तित दूत! वसुदेव-देवकी किस प्रकार श्रीकृष्ण के पिता-माता हुए? श्रीनन्द-यशोदा ही तो श्रीकृष्ण के माता-पिता हैं। अक्रूर बोले- देवीगण! वसुदेव देवकी आदि श्रीकृष्ण के पिता-माता नहीं हैं फिर भी वे उनके अनन्य भक्त तो हैं ही, इसलिए उनकी रक्षा करना कर्त्तव्य है। उसे सुनकर श्रीगोपीगण बोलीं— हे अक्रूर! वसुदेव देवकी का यदि कंस वध ही कर डाले, तब भी उस वध का पातक तुम्हारे ऊपर आपतित नहीं होगा। फिर वह एक भावी घटना है, अन्य किसी रूप में उसका प्रतिकार हो सकता है। किन्तु श्रीकृष्ण को मथुरा ले जाकर तुम अभी गोकुल के निखिल प्राणिवध पातक के भागी क्यों होते हो? श्रीकृष्ण विरह में यह वध तुरन्त ही संघटित होगा, अतएव हठात् इस प्रकार महा पातक का कार्य मत करना।

श्रीसरूप बोले— हे ब्रह्मन्! श्रीकृष्ण ने जब दुष्ट कंस इस प्रकार का व्यवहार और अपने लिये यादवगण के इस प्रकार के दुःख का वृत्तान्त सुना

और बलदेव की भी मथुरा जाने की इच्छा से अवगत हुए तो गोपीगण को सान्त्वना देकर रोष और शोक से उस कुञ्ज से बाहर आये। तब अक्रूर अतिशय आनन्दित हो बलदेव की अनुमति से रथ को उसी स्थान पर लाने के लिए गये। इधर श्रीकृष्ण अवश्य ही मथुरा गमन करेंगे जानकर विरहातुरा गोपीगण बार-बार उनके मुखकमल का दर्शन करने लगीं एवं भावी विरहानल से भीता हो उनके पादपद्मों पर निपतित होकर रोदन करते-करते बोलने लगी— हे नाथ! तुम्हारे विरह में निराश्रय हम एक क्षण भी जीवित न रह पायेगी। हे प्रभो! तुम इन निराश्रया दासीगण का परित्याग न करना, तुम जहाँ भी जाओ हमें भी वहीं ले चलो। हे नाथ! तुम्हारे लिए मेरा वन घर हो गया है, शत्रु मित्र एवं मित्र शत्रु हुए हैं, विष अमृत एवं अमृत विष हुआ हैं तभी तो हम कहती हैं— तुम्हारे बिना हम अवश्य ही प्राण त्याग करेंगी। तुम्हारा यह हास्यामृतयुक्त सुन्दर मुखचन्द्र, तुम्हारे यह मनोहर पादपद्मयुगल, अखिल शोभा द्वारा नीराजित तुम्हारे इस वक्षःस्थल दर्शन के अभाव से हम अति शीघ्र ही प्राणों को गँवा देंगी। तुम्हारे गोपक्रीड़ा के लोभ से पूर्वाहन में वृन्दावन जाने से सायंकाल को अवश्य ही लौटोगे जानकर हम अत्यन्त कष्ट से प्राण धारण करती हैं। तुम्हारे दुष्ट कंस के आदेश से उसी के सुहृद अक्रूर के साथ सुदूर मथुरा जाने से हम तुम्हारे नानाविध अनिष्ट की आशंका से एवं तुम्हारे प्रवास जनित दुःख आदि की चिन्ता से किस प्रकार प्राण धारण करेंगी? हम नहीं जानती हैं कि सानुचर कंस के विनाश में तुम्हें कितना श्रम करना होगा एवं वहाँ की जनता के दुःख मोचन के लिए तुम्हें कितना समय लगेगा, फिर वहाँ जाकर मेरी बातें तुम्हारे मन में आयेंगी या नहीं वह भी हम समझ नहीं पाती हैं। गोपीगण के इस प्रकार के मर्मस्पर्शी विलाप को सुन वहाँ के समस्त प्राणिगण रोदन करते-करते मोहदशा को प्राप्त हुए। क्षणकाल के बाद श्रीकृष्ण कुछ धैर्यधारण कर अपने नयनाश्रुओं को साफ कर गोपीगण के आँसुओं को साफ कर बोले थे, हे सखिगण! साधुद्वेषी एवं मेरे भी विद्वेषी अल्पशक्तियुक्त कंस को शीघ्र ही विनाश कर मैं आऊँगा, तुम ऐसा ही धारण करो। तुम नयनाश्रुओं से मेरे यात्रापथ को भिगोकर यात्राकालीन अमंगल का आचरण मत करना।

श्रीसरूप बोले— हे ब्रह्मन्! इसी अवसर पर श्रीनन्द आदि गोपगण, श्रीयशोदा-रोहिणी प्रमुखा गोपीगण, पुरोहित, दास-दासी और प्रजावर्ग गाय

भैंस आदि पशुगण के साथ द्रुतगति से वहाँ इकट्ठा हो गये थे। तब अक्रूर के रथ ले आने पर श्रीहरि यत्नपूर्वक गोपिकागण से दृष्टि हटाकर रथ पर चढ़े थे। किन्तु गोपीगण मूर्च्छिता हो भूतल पर गिर पड़ीं एवं और उन्हें नयनाश्रुधारा से धरणी की धूल को गीला करते देख माँ यशोदा अति करुण स्वर में रोदन करने लगीं। यद्यपि नन्दमहाराज का अन्तर दुःख-वेदना से अधीर था, फिर भी वे यत्न के साथ यशोदा को सान्त्वना देकर भावी कार्य के समाधान के विषय में नैपुण्य प्रदर्शन करने के लिए बोले। किन्तु वस्तुतः उनका समाधान असम्भव था। श्रीनन्द बोले — हे यशोदे! तुम ऐसा मन में मत सोचना कि मैं आनन्द के साथ मथुरा जाता हूँ। यदि मन में सोचो वहाँ जाकर मिथ्या प्रलापी अक्रूर के वचनों से वसुदेव पुत्र के ज्ञान से मेरा कुछ औदासीन्य हो सकता है, इसके उत्तर में कहता हूँ— मेरे मन में यह कभी आता ही नहीं कि श्रीकृष्ण किसी अन्य के पुत्र हैं। यदि कहो, वसुदेव आदि बलपूर्वक कृष्ण को रोक रखेंगे, इस प्रकार की आशंका का भी कोई कारण नहीं है, क्योंकि कृष्ण को बलपूर्वक अधिकार में करने की किसी में भी सामर्थ्य नहीं है, मैं कृष्ण को परित्याग कर कदापि ब्रज में नहीं लौटूँगा। यदि कहो, कंस-वध के बाद राज्य प्राप्ति होने से कृष्ण चिरकाल वहाँ सुख से वास करेंगे, इस प्रकार की आशंका भी न करना क्योंकि मैं उदासीन मन से कृष्ण को वहाँ अधिक समय तक नहीं रखूँगा। क्या मैं जानता नहीं हूँ कि तुम्हारी इस सन्तान के बिना ब्रजवासिगण क्षणकाल भी जीवनधारण करने में असमर्थ है? तुम निश्चय ही जानो कि वसुदेव-देवकी को कंस के कबल से मुक्त कर मैं पुत्र के साथ शीघ्र ही लौटता हूँ।

हे विप्र! इस प्रकार श्रीनन्द ने बार-बार शपथ देकर श्रीयशोदा को सान्त्वना प्रदान की। तब यशोदा ने अपने चित्त में कुछ शान्तिलाभ करके गोपीगण को बहुत प्रकार से आश्वासन प्रदान करना प्रारम्भ किया। यशोदा ने गोपसुन्दरीगण को कुछ सान्त्वना देकर उठाया। तब सभी गोप वाहन पर चढ़ गये और अक्रूर ने भी रथ को चला दिया। जो क्षणकाल भी कृष्ण-विरह सहन नहीं कर पाती हैं, वही ब्रजसुन्दरीगण श्रीकृष्ण को जाते देखकर 'हा हा' ध्वनि से शुष्कवदन और भग्नकण्ठ से महार्तिपूर्ण दैन्य वचन से दीर्घस्वर से रोदन करते-करते समस्त दिशाओं को इस ध्वनि से पूर्ण करते हुए स्खलितपद से रथ के पीछे-पीछे दौड़ी। किसी ने रथ को पकड़ लिया, कोई रथ गमन का

निरोध करने के लिए और स्वयं मरने के लिए रथ के पहिये के आगे जा गिरीं। किसी-किसी को मूर्छा हो गई, कोई थोड़ी दूर जाकर ही शोक के कारण आगे जाने में समर्थ नहीं हुई। तत्काल ही गाय, बैल, बछड़े, मृग और वृक—शृगालादि प्राणिसमूह चीत्कार करते-करते अश्रुजल से मुखमण्डल को प्लावित कर रथ घेरकर खड़े हो गये। पक्षिसमूह व्याकुल भाव से रव करते-करते रथ के ऊपर उड़ने लगे। वृक्ष-लता शाखापत्तों के समेत शुष्क हो गये। गोवर्धन आदि पर्वत के शिलासमूह वृक्ष के सहित नीचे स्खलित होने लगे, नदियों के कमलादि परिशुष्क हुए, नदी की धारा क्षीण हो गई और कोई विपरीत दिशा में प्रवाहित होने लगी। गोपी इत्यादि परम प्रियजन की इस परम दुःखमयी दशा का दर्शन करने से श्रीकृष्ण का मन भी शोक से आकुल हो गया, वे उच्चस्वर से रोदन में असमर्थ होने के कारण आँसुओं को साफ करने में व्यग्र हो गये थे। प्रभु पीछे से पुनः रथपर से कूदकर अन्तर्हित हो जाये, इसलिए पर बुद्धिमान् अक्रूर प्रणय प्रकाश के छल से अर्थात् पीछे से मोह के कारण नीचे चले जायेंगे इस प्रकार छल से उनके पृष्ठदेश को पकड़े हुए थे। श्रीकृष्ण को मोहग्रस्त के समान देखकर श्रीबलदेव और श्रीनन्द की अनुमति से अक्रूर ने घोड़ों पर कोड़े मारते हुए रथ को वेग से चलाया था। इधर-उधर पड़ी हुई गोपनारी और सब पशुओं को देख रथचालक ने सरलपथ को त्याग वक्रपथ पर रथ को चलाया था। कुररी पक्षिदल से जिस प्रकार बाज पक्षी तेजी से आमिष छीनकर ले जाता है, उसी प्रकार निर्दय अक्रूर रोदन परायणा गोपीगण के बीच से श्रीकृष्ण को हरण कर आँख से अदृश्य हो गये थे। श्रीनन्दादि गोपगण भी बैलों से संयोजित अपने-अपने वाहनों पर आरोहण कर वेगपूर्वक अक्रूर का अनुगमन किये थे। अक्रूर ने ब्रह्महृद के पास रथ को लेकर श्रीकृष्ण का बहुत प्रुकार से स्तव किया था और अनेक प्रकार से नीतिजाल विस्तार कर उन्हें स्वस्थ करने का प्रयास किया था। इधर ब्रजवासिगण की जो निदारुण दुःखमय दशा हुई वह सुनने में भी कष्टकर थी, हाय! उस दशा को सुनकर ब्रज आदि भी विदीर्ण हो जाय।

श्रीपरीक्षित् बोले— हे मातः! यह बात कहते-कहते सरूप कातरभाव से उच्चस्वर से रोदन करते-करते प्रेम विह्वलदशा से मूर्छित हुए थे। तब श्रोता माथुर विप्र भी व्यग्र भाव से रोदन करने लगे एवं कुछ क्षण बाद कुछ स्वस्थ हो बहुत प्रयास से उन्होंने सरूप को भी स्वस्थ किया था। थोड़ा स्वस्थ होते ही सरूप बोले— हे विप्र! श्रीकृष्ण ने मथुरापुरी जाकर जुलाहे, माली इत्यादि

पुरवासीजन को सन्तोष प्रदान कर, सानुचर कंस का विनाश कर, वसुदेव देवकी को मुक्त किया था। उसके बाद कंस के पिता उग्रसेन को राजा बनाकर कंस के भय से भाग गये यादवगण को वापस लाकर पुरवासिगण को आश्वासित किया था। कंसप्रिय जरासन्ध आदि राजागण के भय से भीत और परमार्त्त यादवगण के आग्रह से भक्तवत्सल श्रीहरि उनके सुख के लिए अग्रज के साथ वही वास करने लगे। एवं ब्रजवासिगण के आश्वासन के लिए नन्दादि को ब्रज में जाने के लिए प्रेरित किया था। श्रीभगवान् बोले— हे पितः! हमारे विरह से जब तक ब्रजवासिगण के प्राण-वहिर्गत न हो, उससे पहले ही आप गोपवर्ग के साथ शीघ्र ही ब्रज को गमन करो। आपके बान्धव यादवगण का सुखविधान कर हम शीघ्र ही ब्रज में वापस आ रहे हैं श्रीकृष्ण की उस निदारुणवाणी को सुन श्रीनन्द बोले— हे पुत्र! तुम किसी अन्य के पुत्र नहीं हो यह मैं जानता हूँ और हमें परित्याग कर तुम अन्यत्र वास कर पाओगे इसका मुझे कदापि विश्वास नहीं होता, तभी तो मैं कभी तुम्हें परित्याग कर ब्रज में वापस नहीं लौटूँगा इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके ही मैं यहाँ आया हूँ। अतएव हे पुत्र! रक्षा करो! रक्षा करो! अपने साथ से मुझे कभी दूर मत करना। तुम जब अपनी इच्छा से ब्रज में जाओगे मैं भी तभी तुम्हारे संग वहाँ जाऊँगा। मेरे दिये हुए वचन की आशा में ही तुम्हारी जननी के साथ ब्रजवासी प्राणधारण किये हुए हैं। हे पुत्र! मेरा हृदय अतिशय कठिन है, जिस कारण तुम्हारे यह निदारुण वचन सुनकर वह दो भागों में विभक्त नहीं हुआ। मैं कभी भी तुम्हें छोड़कर ब्रज नहीं जाऊँगा। और यदि मैं जाऊँ भी तो उसी क्षण ब्रजवासिगण निश्चय ही प्राणत्याग करेंगे। श्रीदाम बोले— हे प्रभो! वृन्दावन में गोचारण के समय तुम तरुलता की आड़ में एक क्षण के लिए भी अदर्शन होने से जो प्राण धारण में असमर्थ होते हैं, तुम्हारे वे सखागण तुम्हें परित्याग कर किस प्रकार ब्रज में वास करने में समर्थ होंगे?

श्रीसरूप बोले— हे द्विज! इस प्रकार श्रीनन्द आदि की विकलता सुनकर श्रीकृष्ण के नीरव होते ही श्रीवसुदेव उनके ब्रजगमन की इच्छा की आशंका कर बोले— हे भाई नन्द! अग्रज के साथ तुम्हारा यह बालक ब्रज में रहकर ही सुखलाभ करता है, ब्रज छोड़कर अन्य स्थान पर रहने से उसे व्यथा का अनुभव ही होता है। किन्तु इस समय इसका उपनयनकाल आकर उपस्थित हुआ है, इसलिए इनका उपनयनानन्तर ब्रह्मचारी होकर स्थानान्तर से वेदाध्ययन

पूर्वक ब्रज को गमन होगा। श्रीनन्द ने वसुदेव की बात से श्रीकृष्ण की सम्मति एवं अपने वचन से असम्मति समझकर रोदनाकुल दशा से ब्रज को प्रस्थान किया। श्रीभगवान् यादवगण के साथ नन्द का अनुगमन करने पर गोपगण ने क्रमशः श्रीकृष्ण के गले लग कर जो रोदन किया था, उसे देखकर श्रीकृष्ण के ब्रज को जाने के उत्सुक होते ही यादवगण ने जरासन्धादि के भय से उनके परित्राण की आवश्यकता प्रदर्शनादि विविध युक्तिजाल विस्तार कर उनके प्रतिनिवृत्त किया था। श्रीनन्द के ब्रजागमन की बात सुन ब्रजवासीगण हर्षपूर्वक श्रीकृष्ण-दर्शन की लालसा में उनकी ओर दौड़ पड़े थे। श्रीनन्द और लज्जा से वस्त्र द्वारा मुँह ढँककर रोदन करते-करते घर जाकर परम दुःखाकुल चित्त से भूमि पर शयन कर रहे थे। ब्रजवासीगण श्रीकृष्ण को न देखकर परम आर्त्तिभरे किंकर्तव्य विमूढ़ हुए थे, एवं विभिन्न प्रकार की आशंका से अधिकतर आतुर हुए थे, उनका मुखमण्डल परिशुष्क हो गया था। बाद में जब उन्होंने वृद्ध-गोपगण के प्रमुख से सब बात सुनी तो वे यशोदा के साथ हा-हाकार करते करते जिस दशा को प्राप्त हुए थे, हाय! हाय! मैं कैसे उस दशा का वर्णन कर पाऊँगा?

श्रीपरीक्षित् बोले—हे मातः! तत्काल ही श्रीकृष्ण विच्छेदकातरा श्रीगोपिकागण की दशा अन्तर में स्फुरित होने से श्रीसरूप विरह शोकानल से निरतिशय दग्ध होकर मूर्च्छित हुए थे। श्रीजनशर्मा ने उनकी उस प्रकार की दशा देखकर जलसेक आदि द्वारा बहुत यत्न से उनका चैतन्य सम्पादन किया था। श्रीसरूप ने पुनः मोहदशा की आशंका से विशेष रूप से और विरहवार्ता के वर्णन की इच्छा नहीं की किन्तु जनशर्मा के उस लीला का शेष भाग सुनने के लिए व्यग्र होने से श्रीसरूप यत्न के साथ बोलने लगे। श्रीसरूप बोले, श्रीकृष्ण ने यादवगण के निकट प्रचार किया कि उनके स्वयं ब्रज गमन न करने से अन्य किसी भी उपाय से ब्रजवासिगण की शोकार्त्ति दूर नहीं होगी, यह बात कहकर प्रेमवश श्रीभगवान् शीघ्र ही ब्रज को चले गये थे। (इस स्थल पर विचारणीय विषय यह है कि श्रीकृष्ण की मथुरा से पुनः ब्रजगमन लीला स्पष्टरूप से वर्णन कर श्रीपाद ग्रन्थकार ने प्रेमिक भक्तगण को ब्रज के समृद्धिमान् सम्भोगरस आस्वादन का सौभाग्य प्राप्त किया है। श्रीमद् रूपगोस्वामिपाद ने श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ में सुदूर प्रवास के बाद ब्रजसुन्दरीगण के समृद्धिमान् सम्भोग का वर्णन किया है। दीर्घ विरह के बाद

मिलनरस की निरतिशय चमत्कारिता सम्पादित होने के कारण श्रीपाद गोस्वामिचरण ने इसको 'समृद्धिमान्' आख्या प्रदान की है। पद्मपुराण में श्रीकृष्ण की मथुरा से ब्रजागमन की बात जिस प्रकार स्पष्टरूप से वर्णित है, महापुराण श्रीमद्भागवत में उस प्रकार ब्रज में पुनरागमन एवं ब्रजविहार आदि का वर्णन स्पष्ट रूप से नहीं पाया जाता है श्रीपाद शुकमुनि ने अवश्य ही यह रहस्यमय लीला श्रीमद्भागवत में गूढ़भाव से वर्णन की है, किन्तु सुस्पष्ट या विशद वर्णन न रहने से श्रीमद्भागवत के पाठ या श्रवण के फलस्वरूप समृद्धिमान् मिलनरस का आस्वादन अस्पष्ट जैसे रह जाता है। परम कृपालु श्रीपाद ग्रन्थाकार ने श्रीवृहद्भागवतामृत में ब्रजागमन और विहार का सुस्पष्ट वर्णन कर सामाजिकगण को उस रसास्वादन का सौभाग्य प्रदान किया है, समझना चाहिए।) विदग्धचूड़ामणि निरवधि कृपाकुलचित्त श्रीकृष्ण ने ब्रजवासिगण को प्राण दानकर उनके साथ इस प्रकार का विहार किया था कि जिससे उनको अक्रूर का ब्रजागमन और श्रीकृष्ण का मथुरा गमन आदि सब दुःखमय घटनाक्रम ही विस्मृत हो गया था। यदि कभी कोई श्रीकृष्ण का वह विरह-वृत्तान्त स्मरण भी करता तो उसे स्वप्न की एक घटना ही मानता। अर्थात् स्मरणकर्ता मन में सोचता है कि मैंने आज स्वप्न में श्रीकृष्ण की विच्छेदरूप असम्भव घटना प्रत्यक्ष में देखकर बहुत रोदन और विलाप किया था। यह स्मृति भी उसी समय के लिए रहती, बाद में वह लीला किसी के स्मृतिपटल पर आती भी नहीं। श्रीगोपाल के साथ विहार माधुरी राशि के प्रभाव से ब्रजवासिगण अतीत और भविष्य के विषय में कुछ स्मरण भी नहीं कर पाते।

हे सखे! कुछ समय बाद उन्ही अक्रूर ने ही फिर अनागत के समान रथ लेकर पूर्ववत् ब्रज में आगमन किया था एवं ब्रजवासिगण की पूर्ववत् समस्त विरहदशा उपस्थित हुई थी। श्रीकृष्ण ने भी पूर्ववत् मथुरा से आगमन कर ब्रजवासिगण के साथ विहार किया था। इसी प्रकार कालियदमन, गोवर्धन धारण आदि लीला पुनः पुनः अनुष्ठित होती है एवं प्रभु भी बारम्बार अद्भुत भक्तमनोहारी लीला प्रकट करते रहते हैं। गोलोकवासीगण श्रीकृष्ण के परम प्रेमरूप कालकूट विष से विमोहित हो सब लीलाओं को अपूर्व समझते हैं। (यहाँ पर ब्रज के परम प्रेमरस का कालकूटविष के साथ दृष्टान्त दिया गया है। वस्तुतः ब्रजप्रेम विषामृत के एकत्र मिलनमय स्वादुता सम्पन्न है। विरहरस

की अधिकता के कारण ब्रजप्रेम प्रेमिकगण के चित्त और मन में निरन्तर विचित्र ज्वाला की सृष्टि करता रहता है। वस्तु विचार से यह दुःख या ज्वाला परमानन्दघन स्वरूप हैं, इसके बाद ही वह वर्णित होगी। यह ब्रजप्रेम का ही अनन्यसाधारण वैशिष्ट्य है। “एइ प्रेमा जार मने, तार विक्रम सेइ जाने, येन विषयामृते एकत्र मिलन।” चै० च०) ब्रजवासिगण के पूर्वोक्त लक्षण आनन्द वेदनामय प्रेमविशेष के महान् पराक्रम संयोग-वियोगमयी लीला द्वारा निरन्तर उत्तरोत्तर बढ़ते ही रहते हैं। गोलोकवासी नित्यपार्षदगण की बात तो दूर, मेरे जैसे नवागतगण का भी वहाँ अन्यानुसन्धानतिरोहित हो जाता है। श्रीकृष्ण के महामाधुर्यसागर में निमग्न उनके प्रेममहाधन के लोभ में उन्मत्त गोलोकवासीगण को जिस प्रकार पहले और बाद के विषयों की विस्मृति हो जाती है, उसी प्रकार प्रभु को भी अपने प्रियजन के प्रेमसिन्धु में निमग्न हो अपने परमैश्वर्य की विस्मृति होकर कर्तव्याकर्तव्य विषय में कोई अनुसन्धान नहीं रहता है। (श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने अपने रागवर्त्मचन्द्रिका के द्वितीय प्रकाश में लिखा है— “यथासंसारबन्धे निपत्य दुःखमेवानुभावयितुं मायावृत्तिरविद्या जीवानां ज्ञानमावृणोति, यथा च महामधुर- श्रीकृष्णलीलासुखमनुभावयितुं गुणातीतानां श्रीकृष्णपरिवाराणां ब्रजेश्वर्यादीनां ज्ञानं चिच्छक्तिवृत्तियोगमायैवावृणोति, तथैव श्रीकृष्णमानन्दस्वरूपमप्यानन्दातिशयमनुभावयितुं चिच्छक्तिसारवृत्तिः प्रेमैव तस्य ज्ञानमावृणोति। प्रेमणस्तु तत्स्वरूपशक्तित्वात् तेन तस्या व्याप्तेर्न दोषः।” तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार श्रीभगवान् की अविद्या माया कृष्ण विमुख जीवगण को संसार-बन्धन में गिराकर दुःख भोग कराने के लिए उनके ज्ञान को आवृत करती है, उसी प्रकार चित्शक्ति की वृत्तिरूपा योगमाया महामाधुर्यमय श्रीकृष्णलीलासुख का अनुभव कराने के लिए श्रीकृष्ण के परिकरगण के ज्ञान को आवृत करती है, फिर उसी रूप से ही श्रीकृष्ण आनन्द स्वरूप होते हुए भी उन्हें अपने स्वरूपानन्द की अपेक्षा भी परम स्वादु भक्तहृदयस्थ प्रेमरस का आनन्दातिशय अनुभव कराने के लिए (वे नित्य सर्वज्ञताशक्ति द्वारा परिसेवित होते हुए भी) उनकी चिच्छक्ति की सारवृत्ति प्रेम ही उनके स्वरूप ज्ञान को आवृत कर लेती है। प्रेम श्रीकृष्ण के स्वरूपशक्ति की वृत्ति कहे जाने के कारण प्रेम द्वारा श्रीकृष्ण के स्वरूपज्ञान के आवरण से किसी प्रकार का दोष नहीं आता है।)

हे विप्र! प्रभुपादपद्म—सम्बन्धीय समस्त लीला ही नित्य एवं सच्चिदानन्दमयी हैं, जब जिस लीला की आवश्यकता होती है, तब वह लीला अपने परिकरवर्ग के साथ स्वयं ही प्रवर्तित हो जाती है। (यह लीला का सम्प्रकाशत्व एवं नित्यत्व प्रतिपादन किया गया है। श्रीभगवान् की रास आदि लीला का स्वप्रकाशत्व धर्म समझाते हुए हुए भा० 10/33/3 में श्रीशुकमुनि ने कहा है— “रासोत्सवः संप्रवृत्तो” भगवान् श्रीकृष्ण ने रासलीला प्रवर्तित की ऐसा न कहकर रासलीला स्वयं प्रवर्तित हुई इस प्रकार का उल्लेख करने से रासलीला का कर्तृत्व एवं श्रीकृष्ण का कारणत्व घोषित होता है एवं इससे श्रीकृष्णलीला का स्वप्रकाशत्व धर्म व्यक्त होता है। श्रीमद् जीवगोस्वामिपाद श्रीभगवत्-सन्दर्भ 47 वें अनुच्छेद में लीला के नित्यत्व प्रतिपादन के विषय में जो लिखा है उसका सारमर्म इसी प्रकार है— प्रश्न हो सकता है कि लीला एक प्रकार की क्रिया विशेष है, आरम्भ और समाप्ति के बिना क्रिया सिद्ध नहीं हो पाती, अतएव जिसका आरम्भ और समाप्ति है वह किस प्रकार नित्य हो सकती है? इसका समाधान यह कि श्रीभगवान् के अनन्त रूप अनन्त प्रकाश, लीला का स्थान और लीला परिकरगण भी अनन्त हैं, इसलिए एक प्रकाश में लीला समाप्त होते ही होते वही लीला फिर अन्य प्रकाश में आरम्भ हो जाती है, इस प्रकार लीला की निरन्तरता बनी रहती है। लीला क्रिया होते हुए भी इसका विच्छेद न होने से वह अनित्य नहीं हो पाती है अर्थात् नित्य ही बनी रहती है। क्रियापद वाच्य होते हुए भी प्रकाश भेद से लीला नित्य है। इस प्रकार ‘आलालचक्र’ के समान लीला का नित्यत्व सिद्ध होता है एवं श्रीभगवान् की अचिन्त्यशक्ति से प्रकाश विशेषगत लीला का भी ज्योतिश्चक्र के समान नित्यत्व सिद्ध हो जाता है। अर्थात् सूर्य का जिस प्रकार उदयास्त दृष्टिगोचर होते हुए भी सूर्य एक स्थान पर ही स्थित रहता है, पृथ्वी के परिवर्तन से ही सूर्य के उदयास्त का अनुभव होता है, उसी प्रकार प्रकाश विशेष की प्रत्येक लीला अचिन्त्यशक्ति से स्थिर भाव में अवस्थान होते हुए भी दृष्टापरिकरगण के एवं लीलामय श्रीभगवान् के और लीला के श्रवणकीर्तनकारिगण के निकट आरम्भ और समाप्ति के समान दृष्ट या अनुभूत होती है। श्रीभगवान् की अचिन्त्यशक्ति से प्रत्येक प्रकाशगत प्रत्येक लीला का भी ज्योतिश्चक्र के समान नित्यत्व सिद्ध होता है। पुरुषबोधिनी श्रुति में देखा जाता है—“एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी

भक्तहृद्यन्तरात्मा” अर्थात् भक्त की अन्तरात्मा नित्य लीलानुरक्त श्रीभगवान् भक्त के अन्दर और बाहर व्याप्त होकर अवस्थान करते हैं। श्रीभगवान् ने श्रीगीता में भी स्वयं ही कहा है— “जन्म कर्म च में दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥” (गीता 4/9)। हे अर्जुन! मेरे जन्म कर्मादि अलौकिक है, जो मेरे दिव्य जन्म कर्मादि के तत्त्व को जानते हैं, वे देह त्याग के अनन्तर फिर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते। इन सब शास्त्र प्रमाण के द्वारा भी लीला का नित्यत्व जाना जाता है।

हे ब्रह्मन्! मैंने उस सर्वापेक्षा विलक्षण गोलोक की पराकाष्ठा प्राप्त माहात्म्यमाधुरी धारा का वर्णन किया। श्रीजनशर्मा ने प्रश्न किया— श्रीकृष्ण मधुपुरी जाकर आपने कहाँ और किस भाव से अवस्थान किया? आपने बहुत प्रयत्न से और बहुत समय तक गोलोक में वास किया था, इसलिए ब्रजभूमि परित्याग आप के पक्ष निश्चय ही सम्भव पर नहीं? श्रीसरूप बोले— अपने प्रभु की आज्ञा से अपने सदृश भाव विशिष्ट श्रीनन्द आदि के साथ ब्रज ही वास किया था। मेरे ही समान ब्रजवासीगण भी श्रीकृष्ण विच्छेद ज्वाला सहते हुए भी ब्रज में ही रहते थे। ब्रजभूमि का स्वभाव ही इस प्रकार है कि कृष्णसंग न होने पर भी ब्रज छोड़कर अन्यत्र जाने की इच्छा नहीं होती है। हे ब्रह्मन्! वहाँ जो दुःख विद्यमान हैं वह सब प्रकार के आनन्द के मस्तक पर सहर्ष बार-बार नृत्य करता है। इस प्रकार मैं गोलोक में वास करते हुए चिरकाल के वञ्चित फल यहाँ तक कि वाञ्छा से भी अतीत फल लाभ करके भी वस्तुस्वभाव से कदापि तृप्ति लाभ नहीं कर पाया। इसलिए मैं उन ब्रजस्त्रीकुच कुंकुमरंजित श्रीमन् मदनगोपाल के पादपद्मों का एकक्षण के लिए भी त्याग नहीं कर पाया। श्रीभगवान् ने यह जो दीनतम जन के प्रति उनके माधुर्य आस्वादन का जो कृपा प्रसाद अर्पण किया था, वह अन्यत्र असम्भव है। (शास्त्र और महाजनगण ब्रजवासिगण की अनुरागमय तृष्णा का सान्निपातिक रोगी जिस प्रकार जलपान करके भी ‘हा जल’ ‘हा जल’ कहकर आर्त्तनाद करता रहता है, उसी प्रकार ब्रज प्रेमिकगण तृष्णामय अनुराग से नियत कृष्णमाधुरी आस्वादन करके भी व्याकुलतामय प्रबल पिपासा से ‘हा कृष्ण’ ‘हा कृष्ण’ बोलकर आर्त्तनाद करते रहते हैं। उनकी तृष्णा कृष्णमाधुर्य के आस्वादन की वृद्धि करती है एवं माधुर्य भी तृष्णा को बढ़ाता रहता है, इस प्रकार परस्पर-परस्पर को पुष्ट करके उन्हें अनिर्वचनीय माधुर्य-रसास्वादन

का सौभाग्य प्रदान करताहै।) यद्यपि वह कदापि व्यक्त करना उचित नहीं, फिर भी श्रीराधा की आज्ञा से मैंने तुम्हारे हित के लिए किञ्चित् व्यक्त किया।

हे विप्र! इस प्रकार मैंने वहाँ बहुत समय तक वास कर इस मर्त्यलोकस्थित मथुरामण्डल को भी गोलोक सदृश अवलोकन किया था। श्रीगोलोक के ही समान यह भौम मथुरामण्डल उसी प्रकार के श्रीयुक्त गोपगोपी, गौ, पशुपक्षी, कृमि-कीट, पर्वत, नदी, तरुलता, गुल्म आदि द्वारा परिव्याप्त है। श्रीगोलोक के समान ही यह मथुरामण्डल भी निरन्तर श्रीकृष्ण की विपुल बिहार लीलाओं द्वारा विभूषित है। मैं कभी भौमब्रज में और कभी गोलोक में वास करता था, किन्तु आज तक इन दोनों स्थानों में कोई भेद अनुभव नहीं कर पाया। केवल आगमन के समय ही कुछ भेद तो प्रतीत होता, किन्तु दोनों लोकों में बराबर आसक्तिवशतः मैं उसे स्पष्ट अनुभव नहीं कर पाया। (श्रीमद् जीवगोस्वामिपाद ने अपने श्रीकृष्णसन्दर्भ के 106 वें अनुच्छेद में लिखा है, “स गोलोकः सर्वगतः श्रीकृष्णवत् सर्वप्रापञ्चिकवस्तुव्यापकः।..... तदेवं तद्भाम्नामुपर्यधः प्रकाशमानत्वेनोभयविधत्वं प्रसक्तम्। वस्तुतस्तु भगवन्नित्याधिष्ठानत्वेन तच्छ्रीविग्रहबहुभयत्रप्रकाशाविरोधात्समानगुणनामरूपत्वेनाम्नातत्वात्लाघवाच्चैकविधत्वमेव मन्तव्यम्।” अर्थात् वह गोलोक सर्वगत— श्रीकृष्ण के समान निखिलप्रापञ्चिक-अप्रापञ्चिक वस्तु से व्याप्त होकर अवस्थान करता है। श्रीभगवान् के धाम समूह उनकी स्वरूप विभूति हैं। इसलिए ऊपर भाग में और नीचे के भाग में प्रकाशित है कहकर ही केवल उभयविध रूप में प्रसिद्धि है, वास्तव में श्रीभगवान् के नित्य अधिष्ठान हेतु दोनों स्थान पर प्रकाशमान धाम का एक विधत्व मानना होगा। अर्थात् एक ही धाम ऊर्ध्व परव्योम में और अधोभाग पृथ्वी में विद्यमान है। श्रीभगवद्विग्रह जिस प्रकार एक हीसमय पर अनेक स्थानों में प्रकाश पा सकता है, उनके धाम के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिए। दोनों स्थानों पर प्रकाशमान धाम के गुण नाम और रूप समान है, इस प्रकार प्रसिद्धि भी है। एकविधत्व स्वीकार करने से तत्त्व का भी लाघव होता है, नहीं तो परव्योम और अनन्त ब्रह्माण्डमें प्रकाशमान अनन्त धाम का अस्तित्व स्वीकार करना होगा, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

“सर्वोपरि श्रीगोकुल ब्रजलोक धाम।

श्रीगोलोक श्वेतद्वीप वृन्दावन नाम ॥

सर्व्वग अनन्त विभु कृष्ण-तनु सम ।
 उपर्य्यधो व्यापि आछे नाहिक नियम ॥
 ब्रह्माण्डे प्रकाश तौर कृष्णोर इच्छाय ।
 एकइ स्वरूप तारं नाहि दुइ काय ॥”

(चै० च० आदि 5 म)

इस प्रकार से यह भी समझा जाता है कि गोलोक, ब्रजलोक, श्वेतद्वीप एवं वृन्दावन यह सब गोलोक के ही भिन्न भिन्न नाम हैं। अब तक इस वृहद्भागवतामृत में पूज्यपाद ग्रन्थकार ने भी श्रीगोलोक और गोकुल के अभेद कहने की इच्छा से श्रीधाम की महिमा वर्णन की है। श्रीमद् रूपगोस्वामिपाद ने अपने लघुभागवतामृत में लिखा है— “यत्तु गोलोकनाम स्यात्तच्च गोकुलवैभवम्” अर्थात् श्रीगोलोक श्रीगोकुल का (वृन्दावन का) वैभव विशेष है। अतएव गोलोक और गोकुल का एकत्व वर्णित होते हुए भी शुद्धमाधुर्यमय गोकुल गोलोक की अपेक्षा माधुर्य में उत्कर्ष प्राप्त कहकर ही समझना चाहिए। वह ऊर्ध्व गोकुल और भौमब्रज एक अभिन्न तत्त्व है। गोकुल या भौमब्रज का तत्त्वतः कोई भेद न रहते हुए भी अन्धकार में प्रकाश का माधुर्य जिस प्रकार समधिक विकास प्राप्त करता है, उसी प्रकार भौमब्रज में शुद्ध नरलीला का और क्रमलीला की माधुरीगोलोक की मुकुटमणि गोकुल से भी किञ्चित् मधुरतर होकर ही विकास को प्राप्त होती है, यह भी किसी किसी महानुभाव का ही अनुभवेद्य सिद्धान्त है।) इन दोनों स्थानों के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान के प्रति दृष्टिपात करने की यहाँ तक कि अन्यस्थान की बात सुनने की या चिन्तन करने की भी इच्छा नहीं है। कभी वैकुण्ठवासी भक्तगणों के साक्षात्कार होने से मन में ऐसा लगता है कि जैसे वे लोग भी श्रीकृष्ण के विरह में व्यथित हैं। कभी-कभी ब्रजवासी लोक के समान वैकुण्ठवासिगण के भावसादृश्य दर्शन के अभाव में मेरे हृदय में अनुताप जागरित होकर परम प्रेम का प्रकाश कर देने के कारण उससे भी परम सुख का ही संचार होता है। अहो! निखिल भुवनवासी लोगों के पूज्य श्रीनन्दादि महानुभावगण द्वारा अनुभवनीय गोलोक-माहात्म्य का कुछ विवरण मैंने प्रभु की कृपा से वर्णन किया। उस गोलोक के अखिल परिकरगण को मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ।

सप्तम अध्याय (जगदानन्द)

श्रीसरूप बोले— हे ब्रह्मन्! इस गोलोक-माहात्म्य के वर्णन में जो परमसाध्य और परमसाधन है, आपने सभी कुछ सुना, अब आप स्वयं ही विचार कर निश्चय करिये। हे माथुर श्रेष्ठ! देवी के प्रसाद से मेरे ही समान आपको भी महत् प्राप्य वस्तु शीघ्र ही प्राप्ति होगी, यह आप मन में समझ लीजिए। जो कुछ बचा है, उसे भी प्रायः सम्पन्न हुआ ही जानिये, क्योंकि आपके प्रति श्रीभगवान् की स्पष्ट करुणा को स्पष्ट रूप से उदित होते देख रहा हूँ। और यह भी देखिये कि जो मेरे स्वयं का, श्रीभगवान् का और उनके समस्त भक्तों का परम गोप्य है, वह भी मैंने आपके निकट वर्णन कर दिया, आप एक नवीन आगन्तुक भक्त हैं इसके विचार का अवसर भी नहीं मिला। श्रीभगवच्चरणाश्रय के फलस्वरूप अपना भाव विशेष, जो लज्जावश अपने मन के निकट भी प्रकाश योग्य नहीं एवं भगवत्-प्रेमपरिपाकज उन्माद आदि दशा के फल से स्व-पर विस्मृतिहेतु जो अनुभव भी नहीं कर पाया, वह सब अपरोक्ष अनुभूति भी श्रीकृष्ण ने मेरे हृदय में प्रवेश कर मेरे मुख से बलपूर्वक आपके निकट प्रकट करवाई हैं मैं लक्षण देखकर समझता हूँ कि मेरीबात में आपको विश्वास उत्पन्न हुआ है, अतएव आप अति शीघ्र ही फल प्राप्त करेंगे। विशेषतः स्वयं श्रीराधारानी ने आज प्रातः मुझे आदेश किया है कि 'हे सरूप! मेरे एक भक्तजन माथुर ब्राह्मण मेरे कुञ्ज में आ रहे हैं, तुम एकाकी उस कुञ्ज में जाकर उनको सदुपदेश देकर प्रबोधित और आश्वासित कर शीघ्र ही श्रीकृष्णप्रसाद प्राप्त कराओ।' मैं श्रीराधा का मात्र आदेश प्राप्त कर परम हर्षपूर्वक श्रीकृष्ण सुख की भी अपेक्षा कर अति शीघ्र इस कुञ्ज में उपस्थित हुआ हूँ, क्योंकि श्रीकृष्ण-संगसुख की अपेक्षा श्रीराधा के आदेश का प्रतिपालन ही मेरे परम अपेक्षित विषय हैं। जिस कारण श्रीराधा के आदेश का पालन करने से श्रीकृष्ण की परमवश्यता स्वयं समुपस्थित होती है एवं उनके संगसुख से भी अधिकाधिक सुख स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। (श्रीकृष्ण-स्वरूप स्वभाव से ही प्रेमवश्य है। प्रेम के एकान्त अधीन होना ही उनका स्वरूप सिद्ध धर्म हैं श्रीमती राधारानी का प्रेम परम महान् है, तभी तो साधक श्रीराधारानी के जिस किसी रूप में भी थोड़ा सम्बन्ध प्राप्त होते ही

श्रीकृष्ण अपने भजन की अपेक्षा न रखकर शीघ्र हीउनकी परमवश्यतास्वीकार कर लेते हैं। श्रीपाद प्रेमानन्द सरस्वती अपने श्रीराधारस सुधानिधि ग्रन्थ में लिखते हैं—

“यो ब्रह्म रुद्र-शुक - नारद भीष्ममुख्यै- ,
रालक्षितो न सहसा पुरुषस्यतस्य ।
सद्योवशीकरण-चूर्णमनन्त- शक्तिं,
तं राधिका- चरणरेणु- मनुस्मरामि ॥”

अर्थात् ‘शिव ब्रह्मा-रुद्र-शुक-नारद-भीष्म प्रमुख श्रेष्ठ भागवतगण जिसके दर्शन का लाभ नहीं कर पाते हैं, उस परमपुरुष श्रीकृष्ण को शीघ्र वश करने में परम समर्थ— वशीकरणचूर्ण के समान अनन्त शक्ति सम्पन्न श्रीराधा के पादपद्म रेणु का मैं निरन्तर स्मरण करता हूँ।’ भक्तपदरेणु की सेवा करने के फलस्वरूप जो भक्ति लाभ होती है, यह श्रीमद्भागवतादि शास्त्र का सुनिश्चित सिद्धान्त है। श्रीमद् जीवगोस्वामिपाद ने भक्तिसन्दर्भ के 187 वें अनुच्छेद में लिखा है—“प्रेमतारतम्येनैव भक्त-महत्तारतम्यं मुख्यम्” अर्थात् प्रेम तारतम्य ही भक्तमहद्गण के तारतम्य का मुख्य लक्षण है। श्रीराधारानी का प्रेम परम महान् है एवं वे साक्षात् प्रेम लक्ष्मी हैं, इसलिए उनके साथ किसी रूप में सम्बन्धमात्र ही श्रीकृष्ण की परमवश्यता सिद्ध होती है। उन श्रीराधारानी ने जब स्वयं जनशर्मा को अपना भक्त कहकर अङ्गीकार किया है, तब उनके श्रीकृष्ण प्रसाद प्राप्ति में जो विलम्ब नहीं है—यही सूचित होता है।)

श्रीपरीक्षित ने कहा— हे मातः! श्रीसरूप के इस प्रकार की बहुत सी बात कहने के बाद भी विप्र में प्रेम सम्पत्ति का उदय होते न देख उन्होंने विप्र के मस्तक पर कृपापूर्वक अपना हस्त-स्पर्श प्रदान किया। उसी क्षण श्रीसरूप की कृपा से वह सब तत्त्व वस्तु उन महात्मा के चित्त में स्वतः ही स्फुरित हुई जो उन्होंने वे स्वयं अनुभव किये थे। महत्संग का माहात्म्य इस प्रकार का परम अद्भुत है, कि उस माहात्म्य के प्रभाव से विप्र शीघ्र ही सरूप के समान कृतार्थ हुए थे। (श्रीभगवच्चरणों में प्रेम भक्ति लाभ के विषय में महत्संग एवं महत्कृपा की ही मुख्य उपजीव्यता है। जीव को भगवच्चरणों में उन्मुख कराने में उपयोगी जो भगवत्कृपा है वही साधु महापुरुष का आकार धारण करके ही प्रापञ्चिक विश्व में अवतीर्ण होती है। अतएव साधुमहद्गण ही

भगवत्कारुण्यघनमूर्ति है। “जनस्य कृष्णाद्विमुख्यस्य दैवाद्धर्मशीलस्य सुदुःखितस्य। अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य॥” भा० 3/5/3। अर्थात् अनादि कर्म संस्कारवश जो सब अधर्मशील कृष्णवहिर्मुख जीव जन्म-मरण आदि संसार दुःख भोग करते रहते हैं, उन सब भगवद्वहिर्मुख जनगण के ऊपर कृपा करने के लिए ही भगवज्जनसमूह विश्व में विचरण करते हैं। श्रीमद् जीवगोस्वामिपाद (भक्तिसन्दर्भ – 180 वें अनुच्छेद में) लिखते हैं— “अथ भगवत्कृपैव तत्सान्मुख्ये प्राथमिकं कारणमिति च गौणम्। सा हि संसार-दुरन्तानन्तसन्तापसन्तपेष्वपि तद्विमुखेषु स्वतन्त्रा न प्रवर्तते तदसम्भवात्।..... तस्मात् या कृपा तस्य सत्सु वर्तते सा सत्संगवाहनैव वा सत्कृपावाहनैव वा सती जीवान्तरे संक्रमते न स्वतन्त्रेति स्थितम्।” तात्पर्य यह है कि भगवत्कृपा भगवत्सामुख्य का प्राथमिक कारण होते हुए भी वह गौण है— मुख्य कारण महत्कृपा ही है क्योंकि इस दुरन्त अनन्त संसार ताप से सन्तप्त जीवकुल के प्रति श्रीभगवान् की कृपा स्वतन्त्रभाव से प्रवर्तित नहीं हो पाती है। विश्व में जो सब महद्गण विचरण करते हैं, विश्वजीवों की दुःखदुर्दशा देख जब उनका चित्त विगलित होता है, तब उनके अन्तर में जो भक्तिदेवी विराजती है, वे ही वहिर्मुखजीव के दुःख दूरीकरण रूप भक्तवांछा पूर्ति के निमित्त श्रीभगवान् के अन्तर में करुणा का स्वन्दन जगाती हैं। तब वह भगवत्कृपा साधु महापुरुष की करुणा को वाहन बनाकर जीव के अन्तर में संक्रमित होती है, स्वतन्त्रभाव से नहीं। इसीलिए महत्कृपा या महत्संग ही साक्षात् भक्ति है। तभी तो श्रीमद्भागवत में महत्संग का स्वतः पुरुषार्थरूप में उल्लेख किया गया है। “तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥” भा० 1/18/13 अर्थात् अति अत्यल्पकाल सत्संग के साथ जब स्वर्ग या मोक्षानन्द की तुलना नहीं होती है, तब मरणशील मानव के क्षणिक राज्य आदि सुख के साथ जो इसकी तुलना नहीं की जा सकती, इसे तो कहने की आवश्यकता ही नहीं है। निर्मलाशय महद्गण के संग और कृपा से फल से मानवगण जो शीघ्र ही भगवत्पादपद्म में प्रेमभक्ति लाभ कर धन्य होते हैं, इस सम्बन्ध में आलोच्य श्लोक की (वृ० भा० 2/7/14 श्लोक की) व्याख्या में पूज्यपाद ग्रन्थकार ने श्रीमद् भागवतादि शास्त्र के बहुत प्रमाण उद्धृत कर स्वयं उन सब प्रमाण श्लोकों की व्याख्याकर जिस सुविस्तृत मूल्यवान् टीका रचना की है, विशद् विवरण जानने के लिए

पाठकगण श्रील गोस्वामिपाद की उस टीका का आस्वादन करेंगे, मैंने संक्षेप में थोड़ी सी आलोचना की।) श्रील सरूप की कृपा से ब्राह्मण शीघ्र ही महाप्रेम रसार्णव से निमग्न होकर प्रेमविकार तरंग व्याप्त कलेवर से 'हा कृष्ण! हा कृष्ण!' कहकर रोदन करने लगे एवं 'उस किशोरशेखर के एकबार दर्शन कराओ कहकर सरूप के निकट सकातर प्रार्थना करने लगे। इसके बाद वह विप्र दाँतों में तिनका दबाकर सरूप के चरणों में पड़कर विनती करते हुए प्रार्थना की— 'कृष्ण कहाँ हैं? क्या आपने उन्हें देखा है?' इस प्रकार स्थावरजंगम सभी प्राणियों को प्रणाम करते-करते व्याकुल भाव से प्रश्न करने लगे। उसके बाद श्रीकृष्ण की मनोहर नामावली गान, करते करते श्रीगुरु के पादयुगल पकड़कर रोदन करने लगे। शिष्य के प्रेम दर्शन से प्रेम सिन्धु में मग्न श्रीगुरु का प्रेमविवश चित्त अधिकतर विवश हो गया। क्षणकाल के बाद विप्र का महाप्रेमावेश कुछ शान्त हो गया। क्षणकाल के बाद विप्र का महाप्रेम कुछ शान्त होते ही वे उन्मत्त के समान वन-वन में भ्रमण करते-करते एक कण्टकाकीर्ण करीलकुञ्ज में मूर्च्छितदशा में गिर पड़े।

श्रीपरीक्षित् बोले— हे मातः! तत्काल ही पास में ही गायों के हाम्बारव, तुम्बी, वीणा और शृंगारि की ध्वनि के साथ मिश्रित परममधुर विश्वविमोहनकारी वेणुध्वनि सुनाई पड़ी। उस अमृतमधुर सुरलहरी के प्रभाव से गुरुशिष्य दोनों ही संज्ञा प्राप्त हो उठे एवं उस अति उच्च ध्वनि की ओर दौड़ पड़े। शीघ्र ही उन्होंने श्यामलकान्ति की उज्ज्वल शोभा से उज्जलित-वपु श्रीश्रीगोपालदेव के दर्शन किये। गायों को यमुना में जलपान कराकर वयस्यगण के साथ गजेन्द्रगमन नृत्यगति विस्तार करते हुए अनन्त लीला श्रीभगवान् उनकी ओर ही आगमन कर रहे थे। मनोहर कैशोर-शोभा से उनका श्रीअंग विभूषित है। जिसके श्रीअंग सिन्धु से विचित्र लावण्य या कान्तिकन्दली तरंगमाला के समान उठती है, विश्वजन के मनोनयन के साक्षात् आनन्द स्वरूप श्रीअंग की माधुरीधारा क्षण-क्षण में नवनवायमान रूप से वर्धित होती है। जिनका प्रत्येक अंग-प्रत्यंग सुलक्षण समूह द्वारा सुसेवित, कान में कदम्ब फूलों में भूषण, कण्ठ में मुक्तामाला शोभा पा रही है, सिर पर मोरपुच्छ निर्मित मनोहर चूड़ा परिशोभित हो रहा है। विद्युत् प्रेम रेशमी पीताम्बर एवं पीतवस्त्र का मनोहर उत्तरीय धारणकर रहे हैं। श्रीवत्स और लक्ष्मी रेखा द्वारा अंकित उनके वक्ष पर सुन्दर गुञ्जाहार शोभा पा रहा है, सिंह के समान क्षीण

कटिदेश एवं शतसिंह के समान उनका विक्रम प्रकाश पा रहा है। परम सौन्दर्य और परम लावण्यसार द्वारा जिनके श्रीपादपद्मयुगल निरन्तर अर्चित हो रहे हैं। कदम्ब गुञ्जा तुलसी मोरपुच्छ मूँगा आदि की माला समूह उनके श्रीअंग के भूषणस्वरूप हो रहे हैं, सुमनोहर कटिदेश में लटकती हुई फूलों की करधनी से उनका नितम्बदेश परिशोभित है। उनकी आजानुलम्बित सुवलित महाभुजद्वय स्वर्ण के दिव्य अंगद और कंकण के उल्लास से अतीव मनोहर हो रहे हैं। बिम्बाधर पर विन्यस्त मनोज्ञ वेणुवादन से जिनके कर कमल के अंगुलीदल उल्लसित हैं। उनके अपने भी विस्मयोत्पादक अपूर्व मुरलीगानामृत की मादकता से त्रिजगत् को विमोहित कर रहे हैं। उनके सुविशाल नयनकमल कुछ चंचल तिरछी चितवन भंगिमा से अतीव मनोहर हो रहे हैं। वे धनुयुगल के समान भ्रूद्वय के नर्तन श्री से भक्तजन का अनुराग वर्द्धन कर रहे हैं। मृदुहास्य विमण्डित श्रीमुखारविन्द की निरतिशय सुषमा से मुनीन्द्रगण के चित्त को भी आकर्षित करते हैं। तिलपुष्प विनिन्दित सुमनोहर नासिका के अग्रभाग में गजमुक्ता झिलमिल कर रही है। कभी पुष्परेणु धूसरित भ्रमर के समान गोधूलि धूसरित चंचल अलकावलि सम्हालने के लिए उनके श्रीहस्त उल्लसित होते हैं। अर्धचन्द्र विनिन्दित मनोहर ललाटपर यमुना काशुभ्र मृत्तिका का ऊर्ध्वपुण्ड्र-तिलक प्रदीप्त। नाना वैदग्धी तरंग के सागरस्वरूप श्रीभगवान् विचित्र गिरिधातु द्वारा श्रीअंग चित्रित कर रहे हैं। कभी त्रिभंगललितरूप में अवस्थित हो वंशीवादन करते हैं, कभी मीठी बातों से वयस्यगण को हास्ययुक्त करते हैं, कभी पाद विक्षेप से श्रीचरणचिन्हों से धरा को परिशोभित करते हैं। उन्हीं के अनुरूप और वेशयुक्त नीलाम्बर परिशोभित गौरकान्ति अग्रज बलदेव और प्रियवयस्यवर्ग द्वारा वे परिवेष्टित हो रहे हैं।

माधुर्यमूर्ति श्रीमन्मदनगोपालदेव के दर्शन जनित महा आनन्दवैभव से गुरुशिष्य दोनों ही मूर्छित हो गिर पड़े। ऐसा प्रतीत हुआ कि दोनों परमभक्तिपूर्वक दण्डवत् करने के लिए साथ-साथ भूतल पर गिर पड़े। प्रियजन के प्रेम से विवश श्रीभगवान् गोपालदेव दौड़कर उनके निकट आ गये एवं हर्ष से विमुग्ध होकर विशालबाहु युगल फैलाकर उन्हें आलिंगन करते हुए वे भी मूर्छित के समान पृथ्वी पर गिर पड़े। परम कृपाद्रमानस श्रीभगवान् के प्रेमाश्रुधारा से उन्हें अभिषिक्त किया था एवं क्षणकाल के बाद स्वयं उठकर

उन्हें भी उठाकर सुस्थिर किया था। श्रीभगवान् बोले— हे मथुरानुगृहीत! हे परमसाधो! हे जनशर्मन्! आप विप्रवंशसिन्धु के चन्द्रमातुल्य, आपका सब कुशल तो है? मैं आपके प्रभावसे सपरिवार कुशल से हूँ। आपकी कृपा से आकृष्ट हो मैं नित्य ही आपके आगमन-पथ पर दृष्टि गड़ाये रहा। अहो! मेरा बड़ा सौभाग्य कि, आपने मुझे स्मरण किया, बहुत समय बाद मैं आपके दर्शन सौभाग्य लाभ कर धन्य हुआ हूँ। मैं आपके अधीन हूँ, इसके बाद आप यहाँ स्वच्छन्दरूप से मेरे साथ आप विहार करिए।

श्रीपरीक्षित् बोले— हे मातः! प्रभु के श्रीमुख से इस प्रकार अभावनीय बातें सुनकर जनशर्मा अधिकतर आदर और प्रेमानन्द से अधीर हो और कुछ बोल या देख नहीं पाये। उनका गला रुँध गया, नयनयुगल आँसुओं से पूर्ण, वे श्रीकृष्ण के चरणों पर सिर रखकर केवल रोदन ही करने लगे। तब उन वदान्यशिरोमणि प्रभु ने निज अपेक्षा अधिक देयवस्तु कुछ भी न पाकर अपनेश्रीअंग से भूषणआदि उतार कर जनशर्मा को स्वरूप के समान विभूषित किया था। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने आत्मस्वरूप के अनुरूप निज सहचर गोपकुमार के रूप में उनको अंगीकार कर परम कृपा विस्तार की थी, उसी से जनशर्मा को सभी विषयों में पूर्णता प्राप्त हुई थी। (इस स्थल का तात्पर्य यह है कि वदान्यशिरोमणि श्रीभगवान् ने विचार किया कि जनशर्मा ने मुझे आत्मदान किया है, मैं यदि उनके वशीभूत हो उन्हें आत्मदान ही करूँ, तो समानता के कारण औदार्य सिद्ध नहीं होगा। किन्तु आत्मा से अधिक देय कोई वस्तु भी नहीं देखी जाती है। इस प्रकार सोचते हुए आकुल होकर ही जैसे उन्होंने अपने श्रीअंग के भूषण आदि उतारकर सरूप के समान ही उन्हें अपने पार्षद गोपकुमार के वेश में सजाया था। वास्तव में जनशर्मा के प्रति यही उनकी यथोपयुक्त कृपा थी। क्योंकि भक्तमहानुभावगण श्रीभगवान् की सेवा को छोड़ अन्य किसी भी वस्तु की कामना नहीं करते हैं। सेवासुख से विभोर हो वे सार्वभौम सुख, अणिमादि सिद्धि, इन्द्रपद, ब्रह्मपद यहाँ तक कि मुक्ति पर्यन्त अतितुच्छ बोध से छोड़ देते हैं। अपने सम्बन्धानुरूप अभिषिक्त प्राण की सेवा के अतिरिक्त उनके चित्त में कोई कामना स्थान नहीं पाती है। साधना की सिद्धि से वे अपने अन्तश्चिन्तित सिद्ध स्वरूप को पाकर लीलाराज्य में चित्राभिलषित सेवा प्राप्त कर धन्य हो जाते हैं। जनशर्मा के गुरु श्रीसरूप सख्यरस के भक्त थे, इसलिए उनके अनुग्रहभाजन जनशर्मा की भी सख्यरस

के अनुरूप सेवालाभ ही प्राणों की आकांक्षित सम्पद् थी। श्रीभगवान् ने उन्हें अपने हाथ से सखा के वेश में सजाकर उनका वह परम अभीष्ट सिद्ध किया था, यही समझना चाहिए।)

उसके बाद श्रीकृष्ण ने वेणुध्वनि के संकेत से सब गायों का आह्वान कर विचित्र मुख शब्दादि द्वारा (गाय भैंस आदि को पानी पिलाने के गोपों के संकेत रूप मुख शब्द) उन्हें यमुना का जल पिलाया। फिर उसी प्रकार के संकेत शब्द आदि के द्वारा सभी पशुओं को किसी सुखमय स्थान पर निरुद्ध कर अग्रज को लेकर सरूप जनशर्मा और सखामण्डली के साथ यमुना में मधुर जलविहार किया था। परस्पर जल निक्षेपकारी सब सखाओं के ऊपर जलनिक्षेप कर उन्हें पराजित किया था, और कभी-कभी लीला-विनोदी स्वयं सखागण द्वारा पराजित हो आनन्दलाभ किये थे। कभी सखागण के साथ मधुर जलवाद्य वादन करते थे, कभी यमुना की धारा के अनुरूप और कभी प्रतिकूल दिशा में तैरकर क्रीड़ासुख विस्तार करते थे। कभी कौतुकी प्रभु यमुना के नीलजल में निजदेह एवं नीलकमल वन में निजमुखकमल छिपा लेते जिससे कोई उन्हें देख न पाये। जिनके दर्शन ही सखागण के प्राण हैं, व सखागण उन्हें खोजने पर भी न पाकर महाअर्त्तिस्वर में रोदन करते थे। तब कौतुकी प्रभु हँसते-हँसते कमलवन से निकल कर कूदते हुए सखागण की ओर मुख करके दौड़ते हुए उनका आनन्द विस्तार करते थे एवं उनको लेकर नानाविध जलविहार करते थे। बाद में कमल के मृणाल जाल से कमलपुष्प समूह की मनोरम माला बनाकर सखागण को अलंकृत करते एवं स्वयं भी अलंकृत होते थे। उसके बाद जल से निकलकर यमुना के विस्तीर्ण मनोज्ञ पुलिन पर सखागण को मण्डलाकार बिठाकर अग्रज के साथ स्वयं उस मण्डल के बीच में बैठते थे। वे स्वयं लीलापूर्वक नृत्यगति से विचित्ररूप में भ्रमण करते करते घर से लाये विचित्र भोज्यद्रव्यसमूह सखागण को परिवेशन कर शोभा पा रहे थे। श्रीवृन्दावन के वृक्षलता समूह सब ऋतुओं में सभी ऋतुओं के उपयोगी फल पुष्प आदि प्रदान करते रहते हैं। उन सब वृक्षों से इकट्ठा किये गये फल आदि भी सखागण को यथारुचि बाँट-बाँट कर देते थे। आम, बेल, आमला, कटहल, अंगूर, खजूर, जामुन, अनार-सुरसाल पके हुए फलसमूह हर्षपूर्वक सखागण को परिवेश ने करते हुए स्वयं भी कुछ-कुछ आस्वादन करते थे, सखागण मीठे-मीठे फल आगे चखकर वही उच्छिष्ट

फलसमूह अपने-अपने हाथ से उनके श्रीमुख में अर्पण करते और वे सादर उन फलों की प्रशंसा करते हुए विचित्र मुखभंगी से भोजन करके उनको हँसाते हुए विमोहित करते थे। बाद में खट्टा-मीठा पेय इत्यादि बहुत प्रकार से पेयद्रव्य पान कर अलावुपात्र में यमुना का सुनिर्मल जल पान करते थे। इस प्रकार नाना विध सुखक्रीड़ा कुतूहली श्रीकृष्ण अपूर्व पुलिन भोजन लीला विस्तार करते थे। अन्त में आचमन कर घर से लाये हुए सुगन्धित कर्पूरयुक्त ताम्बूल एवं वन में उत्पन्न नूतन ताम्बूल भीगी हुई सुपारी सबको बाँट-बाँट कर के दिये और स्वयं भी भोजन किया था। तुलसी, मालती, यूथी, मल्लिका, कुन्द, कदम्ब, चम्पक इत्यादि कुसुम एवं अन्यान्य विविध पल्लवयुक्त कुसुम द्वारा विचित्र मालारचना कर सखागण को विभाग करके स्वयं भी ग्रहण किया था। चन्दन, अगुरु, कस्तूरी, कुंकुमादि सुगन्धित द्रव्य समूह वन से संग्रह करके शिला पर घिस कर प्रस्तुत कर मित्रवर्ग के साथ अंग पर लेपन किया था। बाद में सुरभित कुसुमवासित भ्रमर गुंजन से मुखरित मनोहर निकुञ्ज में नवीन कोमल पत्रावली और 'नर्वन्त कुसुम समूह द्वारा रचित उत्कृष्ट शय्या पर श्रीदाम की गोद को उपाधान बना मस्तक पर रख शयन करने पर मित्रों में कोई मनोहर संगीत, कोई केश प्रसाधन, कोई करकमल और कोई पादपद्म सम्वाहन, कोई स्तवन कोई पंखे आदि द्वारा उनकी विचित्र सेवा कर रहे थे। वे भी विभिन्न प्रकार की चातुरी द्वारा नर्मभंगिमा विस्तार करके सखागण को पराजि कर आनन्दित कर रहे थे एवं बलदेव के साथ विश्रामकेलि विस्तार कर रहे थे। इसके बाद वेणु एवं शृंगनाद से सब पशुओं को उठाकर गोवर्धन के समीप लाकर चराते चराते क्रीड़ा कर रहे थे। फिर सखागण ने वन में उत्पन्न हरिताल रंग द्वारा श्रीकृष्ण को तिलक, मयूरपुच्छ क्रम से उन्हें यथा रुचि वन्यभूषणों से भूषित किया था। अनन्तर ब्रज के आनन्द प्रदाता श्रीकृष्ण ने नवागत जनशर्मा को सरूप के हाथों में समर्पण कर सायंकाल पहले की ही तरह गोपगाँव में प्रवेश किया।

श्रीपरीक्षित् बोले — हे मातः! श्रीश्रीगोपीनाथ के प्रसाद से आपको परम साधुमति प्राप्त हुई है, अब स्वकृत प्रश्न का उत्तर स्वयं विचारपूर्वक निर्णय करिये। आप निखिल परमानन्दराशि की अन्त सीमा गम्भीर सिन्धुस्वरूप गोलोक-गमन का प्रयास करिए। वहाँ जाने से निज प्रभु श्रीमन्मदनगोपाल के सहित सम्बन्धानुरूप परम अनिर्वचनीय मधुर-मधुर क्रीड़ा निरन्तर घटित

होती रहती है। इस भौमब्रज में जाने मात्र से सब समय सबको निरन्तर क्रीडारत मदनगोपाल दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। (अर्थात् प्रकटलीलाकाल को छोड़ अन्य समय में प्रत्येक दृष्टा के दृष्टि के गोचरीभूत नहीं होते हैं।) श्रीमन्मदनगोपाल के एकान्तकृपाप्राप्त जन को ही भौमब्रज की लीला सर्वदा नयनगोचर होती हैं। हे मातः! आप उस प्रकार के भक्त की पदरज यत्नपूर्वक संग्रह करिये। (अर्थात् उस प्रकार के महत्पुरुष की पदरज ही गोलोक प्राप्ति के अव्यर्थ उपाय की साधक है।) हे मातः! जो स्थान गोपीगण के कुचकुंकुम की श्री से आर्द्र एवं श्रीमन्मदनगोपाल के श्रीयुत पदकमलयुगल के सर्वदा प्रीतिसंग प्रदायी, उसी स्थान के विषय में आपने उत्सुकता प्रकट की थी मैंने आपके मधुर प्रश्न के उत्तर स्वरूप समस्त संशय हरणकारी इस गोलोक माहात्म्य का वर्णन किया।

श्रीगोलोक वैकुण्ठ के ऊपर नित्य विराजित है श्रीमत् गोपीरमण के चरणों में प्रेमराशि के प्रकाश द्वारा ही वह लाभ किया जाता है। श्रीगोलोक भक्त की वाञ्छा का, यहाँ तक कि वाञ्छा के भी अतीत किसी अनिर्वचनीय परम महत् फल प्राप्ति का स्थान है। श्रीगोलोकवासीगणों का ध्यान करके भी भक्त प्रेमसम्पद् निष्ठ हो सकता है। हे मातः! इस समय इस विषय में सन्तोषजनक चित्त से महामुनिगणों की वचनावली सुनिये। श्रीहरिवंश में गोवर्धन धारण के पश्चात् इन्द्र के स्वव-प्रसंग में श्रीवैशम्पायन की उक्ति—

“स्वर्गाद्बुद्धं ब्रह्मलोको ब्रह्मर्षिगण - सेवितः ।

तत्र सोमगतिश्चैव ज्योतिषपाञ्च महात्मनाम् ॥

तस्योपरि गवां लोकः साध्यास्तं पालयन्ति हि ।

स हि सर्वगतः कृष्ण महाकाशगतो महान् ॥

उपर्युपरि तत्रापि गतिस्तव तपोमयी ।

या न विद्मो वयं सर्व्वे पृच्छन्तोऽपि पितामहम् ॥

गतिः शमदमाद्यानां स्वर्गः सुकृतकर्मनाम् ।

ब्राह्मे तपसि युक्तानां ब्रह्मलोकः परागतिः ॥

गवामेव तु गोलोको दुरारोहा हि सा गतिः ।

स तु लोकस्त्वया कृष्ण सीदमानः कृतात्मना ॥

धृता धृतिमता धीर निघ्नतोपद्रवान् गवाम् ॥”

॥इति ॥

किञ्च स्कन्दपुराणीय श्रीकृष्णाज्जुन-संवादे—

“एवं बहुविधै रूपैश्चरामीह वसुन्धराम् ।

ब्रह्मलोकञ्च कौन्तेय गोलोकञ्च सनातनम् ॥”इति ॥

(तात्पर्य यह है कि ऋषिगण परोक्षवादी, परोक्षवाद श्रीभगवान् को भी प्रिय हैं। परोक्षवाद के अवलम्बन से उल्लिखित श्लोकों में श्रीगोलोकमाहात्म्य का वर्णन किया गया है, श्रीइन्द्र श्रीकृष्ण की स्तुति- प्रसंग में कहते हैं— स्वर्ग अर्थात् दिव्य स्वर्ग सत्यलोक आदि के ऊपर ब्रह्मर्षि नारदादि एवं गण अर्थात् गरुड़ विष्वकसेन आदि परिकरगण द्वारा सेवित ब्रह्मलोक था परब्रह्म श्रीभगवान् का श्रीवैकुण्ठलोक विराजित है। वह सोमगति अर्थात् उमादेवी के साथ श्रीमन्महादेव वहाँ गमन करने में सक्षम हैं एवं ज्योतिषाञ्च अर्थात् ज्योतिः शब्द से ब्रह्म, जो ब्रह्म के साथ एकात्मता प्राप्त होते हैं वे ज्योतिषाम् अर्थात् मुक्तगण वहाँ जा पाते हैं, किन्तु सब मुक्तगण ही वहाँ गमन कर पाते हो ऐसा भी नहीं है, जो महात्मा हैं अर्थात् सनकादि के समान मुक्ति को तुच्छबोध कर पराभक्ति को प्राप्त हुए हैं, वे ही वहाँ गमन करने में समर्थ हैं। उसके ऊपर गोलोक है, साध्यगण अर्थात् भजनीय श्रीनन्दादि नित्य पार्षदगण उस गोलोक को पालन करते हैं। वह गोलोक सर्वगत, अर्थात् प्रापञ्चिक और अप्रापञ्चिक लोगों के व्याप्त हो अवस्थान करने के कारण विभु अथवा व्यापक है। वह महान् अर्थात् भगवत्-स्वरूप गोलोक महाकाशगत अथवा चिन्मयाकाश प्राप्त अर्थात् वहाँ आकाश आदि सभी चिन्मय है प्राकृत भूतों का वहाँ अवस्थान नहीं है। सर्वोपरि वर्तमान श्रीवैकुण्ठलोक उसके भी ऊपर वर्तमान गोलोक वही गोलोक तुम्हारी गति अर्थात् विहार स्थान। वह सब विहार तपोमयी अर्थात् परम दुर्ज्ञेय है। मैं ब्रह्मा के पास जिज्ञासा प्रकट करके भी उसका तत्त्व नहीं जान पाया। शमदम आदि युक्त सुकृतिशाली कर्मिगण की स्वर्ग में अर्थात् सत्यलोक आदि में रति है, ब्रह्मतपोयुक्तगण की अर्थात् वैष्णवीय तपस्या में सिद्ध प्रेमभक्ति सम्पन्न भक्तगण की ब्रह्मलोक या वैकुण्ठ में परमागति लाभ होती है। किन्तु गोलोक की गति अति दुरारोह है, (अर्थात् नन्द आदि गोपगण की आनुगत्यमयी परम रहस्यमय लोभमूला रागभक्ति के द्वारा ही गोलोक में गति होती है।) हे कृष्ण! हे वीर! वह गोलोक मेरे उपद्रव द्वारा व्यथित होने पर आपने उसकी रक्षा की थी। इन्द्र ने पहले मन में निश्चय किया था कि मैं ब्रज का ध्वंस कर डालूँगा, बाद में ब्रज की महिमा का

अनुभव प्राप्त होने पर अपराध को हटाने के लिए कहा है वह लोक मेरे द्वारा व्यथित होने से अर्थात् जिस लोक का तत्त्व ब्रह्मादि के भी दुर्ज्ञेय है, वह क्या मेरे द्वारा व्यथित हो सकता है? अहो मेरी कितनी मूढ़ता! यही इन्द्र की इस प्रकार की उक्ति का निगूढ़ अभिप्राय है। इस से गोलोक और भौमब्रज की अभिन्नता भी प्रतिपादित हुई।

स्कन्दपुराण में भी देखा जाता है— श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति कहा है— हे अर्जुन! बहुविध स्वरूप में मैं वसुन्धरा एवं ब्रह्मलोक आदि में वास करके भी सनातन गोलोक में मैं नित्य ही अवस्थान करता हूँ।

श्रीउत्तरा परीक्षित सम्वाद सुनने के बाद श्रीजनमेजय महामुनि जैमिनी के प्रति बोले— हे मुने! मैंने पहले वैशम्पायन के निकट यह सब श्लोक सुनकर जो अर्थ अवधारणकिया था, इस समय आपके निकट यह सब श्लोक सुनकर मेरासमस्त सन्देह विनष्ट हुआ एवं कोई एक अपूर्व अर्थ हृदयंगम हुआ। अर्थात् श्रीगोलोक जो वैकुण्ठ के ऊपर वर्तमान है, वह समझ पाया। अहो! भगवद्भक्त की कैसी अपूर्व महिमा है। हे मुनिवर! इसके बाद इस अमृतमयी कथा की परिसमाप्ति होगी जानकर मेरा मन पूर्णरूप से परितृप्त होता है, आप कुछ रसायन प्रदान करें, जिससे मेरा चित्त प्रसन्न हो। इसके बाद श्रीजैमिनी महाराज ने जनमेजय के निकट श्रीब्रह्मसंहिता और श्रीमद्भागवत की श्रीगोलोक-माहात्म्य और गोलोकवासी गोप-गोपीगण की प्रेमभक्ति की परम महिमा सूचक कतिपय श्लोकावली गान कर उन्हें परमानन्द दान किये थे। (मैं ग्रन्थ के कलेवर की वृद्धि के भय से उस सब पद्य का मर्मानुवाद प्रकाश न कर पाने के कारण दुःखित हूँ, सज्जनगण मूलग्रन्थों में उसका अनुसन्धान करें।) श्रीजनमेजय बोले— हे भगवन्! हे गुरो! आपके प्रसाद से मैं कृतार्थ हुआ, क्योंकि आपने मुझे परम रहस्य गोलोक माहात्म्य श्रवण कराया। श्रीजैमिनि बोले— हे वत्स! तुम सत्य ही कृतार्थ हुए हो। यह गोलोकमाहात्म्यरूप उपाख्यान जो भक्ति पूर्वक श्रवण, कीर्तन या ध्यान करेंगे, वे अवश्य ही वह परम पद प्राप्त करेंगे। मैं उन निरुपाधि कृपाकुल गुरुश्रेष्ठ गोपराजतनय को प्रणाम करता हूँ जो स्वयं ही हृदय में प्रेरणापूर्वक भक्ति प्रदान पूर्वक परम उपकारी बन्धु के समान भक्त के प्रति परम सन्तोषयुक्त होते रहते हैं।

श्रीश्रीराधाकुण्डस्थ श्रीकृष्णचैतन्य शास्त्रमन्दिर से प्रकाशित
कतिपय शुद्धभक्ति ग्रन्थ

हिन्दी प्रकाशन—

| | |
|--|------------|
| 1. श्रीराधारससुधानिधि | 120 |
| 2. माधुर्यकादम्बिनी व रागवर्त्मचन्द्रिका | 80 |
| 3. श्रीराधाकुण्ड-महिमा व इतिहास | 8 |
| 4. संसार कूप में जीव की गति | 8 |
| 5. श्रीशिक्षाष्टकम् | 20 |
| 6. श्रीवृहद्भागवतामृत-मर्मानुवाद | 40 |
| 7. श्रीविलापकुसुमाञ्जलि | (मुद्रणरत) |